भारतीय आर्थिक प्रशासन

भारतीय आर्थिक प्रशासन

[INDIAN ECONOMIC ADMINISTRATION]

लेखक

डा. हरिश्चन्द्र शर्मा

कालिज आफ कामर्स, जयपुर

१९७१



साहित्य भवन, आगरा–३

प्रथम संस्करण : १९७१

मूल्य : आठ रुपया

प्रकाशक : साहित्य भवन, हास्पिटल रोड, आगरा–३
मुद्रक : कलात्मक मुद्रक, सिटी स्टेशन रोड, आगरा–३

भूमिका

राजस्थान विश्वविद्यालय पहला विश्वविद्यालय है जिसने डिग्री स्तर पर आर्थिक प्रशासन सरीखे नवीन किन्तु अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण विषय को पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया है। इस विषय पर हिन्दी में यह पहली पुस्तक है जिसमें पाठ्यक्रमानुसार ही विभिन्न समस्याओं का विवेचन करने की चेष्टा की गई है। पुस्तक की भाषा सरल एवं शैली रोचक एवं प्रभावशाली रखने का प्रयत्न किया गया है। सभी प्रकार के तथ्य एवं आँकड़े नवीनतम दिये गये हैं और जटिल समस्याओं को सरल रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है। आशा है पुस्तक विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

लेखक

१ आर्थिक प्रशासन के मूल तत्त्व

(ELEMENTS OF ECONOMIC ADMINISTRATION)

सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य की आवश्यकताओं मे वृद्धि हुई है और आवश्यकताओं मे वृद्धि के साथ उनकी समस्याओं मे वृद्धि हुई है। प्राचीन काल के मनुष्य की वहुत कम आवश्यकताएं थी जिन्हें पूरा करने के लिए न तो बड़े बड़े कारखानों की आवश्यकता थी, न माल वेचने के लिए वड़ी-वडी दुकानों की। यदि किसी व्यक्ति को १०-२० मील जाना होता तो वह पैदल ही चला जाता था या ऊँट, वैलगाड़ी अथवा घोड़े की सवारी का प्रयोग कर लेता था। खाने के लिए अनाज गाँव में उत्पन्न होता था और पहनने के लिए गाँव का जुलाहा वस्त्र बना देता था। छोटे-छोटे ग्रामों या वस्तियों मे लोग मिल-जुल कर रहते थे। यदि कोई झगड़ा होता तो ग्राम पंचायत या राजा से फैसला करवा लिया जाता जिसमें कोई देर नहीं लगती थी। इस प्रकार आर्थिक या राजनीतिक समस्याएँ वहुत साधारण थीं जिनका समाधान या निपटारा करने के लिए कोई खास प्रशासन या प्रवन्ध व्यवस्था करने की आवश्यकता नहीं थी।

ज्यों-ज्यों मनुष्य की आवश्यकताएँ वढती गयी, उन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए नये-नये कारखाने स्थापित किये गये, सड़कों और रेलों का निर्माण किया गया और वढते हुए व्यापार के लिए मण्डियाँ स्थापित की गयीं तथा भुगतान के लिए वैंकों की स्थापना की गयीं। इस प्रकार सरकारी और निजी सम्पत्ति का तेजी से निर्माण हुआ। इस सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए पुलिस, न्यायालय आदि अनेक विभागों की स्थापना की गयी। इस प्रकार प्रशासन की आवश्यकता और उसके क्षेत्र में निरन्तर वृद्धि हुई है।

प्रशासन का अर्थ

अव प्रश्न यह उठता है कि **प्रशासन** का क्या अर्थ है ?

प्रशासन शब्द का प्रायः चार अर्थों में प्रयोग किया जाता है :

(१) **शासन सत्ता या शासन काल**—यदि यह कहा जाय कि नेहरू प्रशासन ने भारत में आर्थिक नियोजन आरम्भ किया अथवा सुखाड़िया प्रशासन द्वारा राजस्थान में शिक्षा के विकास पर विशेष ध्यान दिया गया तो यहाँ प्रशासन का अर्थ अमुक व्यक्तियों के शासन काल या शासन सत्ता से है। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि अमुक प्राचार्य (Principal) अथवा कुलपति के प्रशासन में अमुक विद्यालय अथवा विश्वविद्यालय की बहुत उन्नति हुई।

(२) **अध्ययन क्षेत्र या शाखा**—प्रशासन शब्द का दूसरा अर्थ किसी अध्ययन क्षेत्र या शाखा या विभाग से लिया जाता है। आजकल प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में "लोक प्रशासन" (Public Administration) का अध्ययन एक अलग शाखा के रूप में किया जाता है। राजस्थान विश्वविद्यालय में "आर्थिक प्रशासन" का अध्ययन वाणिज्य शास्त्र की एक महत्त्वपूर्ण शाखा के रूप में होता है।

(३) **विशेष सेवाएँ**—कभी-कभी प्रशासन शब्द का प्रयोग किसी विशेष क्षेत्र की सेवाओं के वास्ते किया जाता है जैसे पुलिस (Police Administration), शिक्षा प्रशासन (Educational Administration), वित्तीय प्रशासन (Financial Administration) आदि जिनका तात्पर्य पुलिस, शिक्षा तथा वित्तीय सेवाओं से होता है।

(४) **प्रबन्ध या व्यवस्था**—इससे पहले दिये गये तीनों अर्थों का प्रयोग विशेष कार्यों, विशेष सेवाओं या विशेष समस्याओं के लिए होता है किन्तु प्रशासन का सामान्य अर्थ है "प्रबन्ध" या 'व्यवस्था"। किसी भी कार्य या क्षेत्र की व्यवस्था या संचालन को ही प्रशासन कहते हैं। यदि किसी विश्वविद्यालय में शिक्षा का स्तर ऊँचा हो, वहाँ अध्यापक तथा विद्यार्थी संतुष्ट हों और सारा काम नियम से हो रहा हो तो यही कहा जाता है कि उस विश्वविद्यालय का प्रशासन अच्छा है। इस प्रकार परिवार से लेकर सारे राष्ट्र तक की व्यवस्था या कार्य संचालन को ही प्रशासन कहा जाता है।

अतः प्रशासन का शुद्ध एवं सही अर्थ है **कार्य संचालन या व्यवस्था** जो परिवार, विद्यालय, उद्योग तथा देश सब पर लागू होता है।

आर्थिक प्रशासन क्या है ?

प्रशासन का अर्थ स्पष्ट करने के पश्चात् आर्थिक प्रशासन का अर्थ जानने में कोई कठिनाई नहीं होगी। आर्थिक प्रशासन का अर्थ है **देश की अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न अंगों का संचालन**। प्रत्येक देश में अनेक प्रकार के छोटे-बड़े उद्योग होते हैं, खेती की जाती है, माल का आयात-निर्यात किया जाता है, आवागमन तथा परिवहन के साधन (मोटर गाड़ियाँ, रेलें, हवाई जहाज तथा जलयान) होते हैं, अनेक वस्तुओं का क्रय-विक्रय अथवा लेन-देन होता है, बैंकों के माध्यम से रकमों का आदान-प्रदान होता है। इन सभी क्रियाओं के संचालन अथवा व्यवस्था को आर्थिक प्रशासन कहा जाता है।

आर्थिक प्रशासन की परिभाषा

प्रशासन की परिभाषा अनेक विद्वानों द्वारा दी गयी है किन्तु आर्थिक प्रशासन शिक्षा का एक सर्वथा नया क्षेत्र है जिसकी परिभाषा किसी विद्वान ने देने का प्रयत्न नहीं किया। अतः पहले प्रशासन की परिभाषा पर विचार करना उचित होगा और उसी के दृष्टिकोण से आर्थिक प्रशासन की परिभाषा देने में सुविधा होगी।

(१) साइमन स्मिथबर्ग तथा थॉमसन के शब्दों में—

एक सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए सहयोग करने वाले समूहों की क्रियाओं को प्रशासन कहते हैं।[1]

(२) व्हाइट के मतानुसार—

किसी कार्य अथवा उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक व्यक्तियों की क्रियाओं के निर्देशन, समन्वय तथा नियन्त्रण की कला को प्रशासन कहते हैं।[2]

(३) फिफनर का मत है कि—

वांछित उद्देश्य की पूर्ति के लिए मानवी तथा भौतिक साधनों के संगठन तथा निर्देशन को प्रशासन कहा जाता है।[3]

इन तीनों परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि प्रशासन उन क्रियाओं को कहते हैं जो कुछ व्यक्तियों द्वारा मिल-जुल कर किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए की जाती हैं।

इस परिभाषा के आधार पर ही यह कहा जा सकता है कि आर्थिक नीतियों या उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मिल-जुल कर व्यवस्थित रूप में जो क्रियाएँ की जाती हैं वह आर्थिक प्रशासन कहलाती हैं। अथवा आर्थिक प्रशासन एक मानव समूह द्वारा की गयी क्रियाओं की वह श्रृंखला है जो निश्चित आर्थिक नीतियों या उद्देश्यों को पूरा करने के वास्ते की जाती हैं।

आर्थिक प्रशासन का क्षेत्र

[SCOPE OF ECONOMIC ADMINISTRATION]

आर्थिक प्रशासन एक नयी अध्ययन परम्परा है। इसके अध्ययन का क्षेत्र और सीमाएँ आर्थिक समस्याओं और नीतियों से निर्धारित होती हैं। अतः आर्थिक प्रशासन क्षेत्र को दो भागों में बाँटा जा सकता है :

---

1 "In its broadest sense, administration can be defined as the activities of groups co-operating to accomplish common goals."—Simon, Smith urg and Thompson : *Public Administration.*

2 "The art of administration is the direction, co-ordination and control of many persons to achieve some purpose or objective"—White L. D. : *Introduction to the Study* of *Public Administration.*

3 "The organisation and direction of human and material resources to achieve desired ends."—Pfiffner J. M. : *Public Administration,*

(१) समस्याओं का समाधान
(२) नीतियों का पालन

इन दोनों के विषय में अलग-अलग विचार किया जा रहा है।

(१) समस्याओं का समाधान

आर्थिक प्रशासन का मुख्य उद्देश्य आर्थिक समस्याओं का समाधान करना होता है। इसका अर्थ यह है कि आर्थिक क्षेत्र की जितनी समस्याएँ हैं उनकी ठीक प्रकार जानकारी कर उन्हे सुलझाने का प्रयत्न किया जाता है। यह समस्याएँ समय-समय पर जटिल होती रहती है और कभी-कभी सरल हो जाती हैं। प्रशासन द्वारा समय तथा परिस्थिति के अनुसार इन समस्याओं से निपटने की चेष्टा की जाती है। इन समस्याओं में मुख्य निम्नलिखित हैं :

(i) उत्पादन—प्रत्येक देश में खेती तथा उद्योगों द्वारा उत्पादन किया जाता है। प्रशासन का काम यह होता है कि वह सारी व्यवस्था इस ढग से संचालित करे कि कम से कम लागत पर अधिक से अधिक और बढ़िया से बढ़िया वस्तुओं का उत्पादन हो।

इस उद्देश्य की सफलता के लिए जहाँ भी सम्भव हो खर्च कम करने की चेष्टा की जाती है। ताकि जिन वस्तुओं का उत्पादन किया जा रहा है वह सस्ती बेची जा सकें।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रशासन इस बात की व्यवस्था करता है कि अच्छी और आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन किया जाय। इसके लिए कच्चा माल, जल, शक्ति, रासायनिक पदार्थ, आदि की उचित व्यवस्था की जाती है, प्रशिक्षित इन्जीनियर, प्रबन्ध विशेषज्ञ अथवा अन्य कर्मचारी नियुक्त किये जाते हैं, कच्चे और निर्मित माल को सुरक्षित रखने के लिए अच्छे गोदामों का प्रबन्ध किया जाता है और माल की किस्म मे गिरावट पर उचित रोक लगाने की व्यवस्था की जाती है। यदि प्रशासन व्यवस्था अच्छी है तो उत्पादन की सब क्रियाएँ बिल्कुल ठीक ढंग से चलती रहती है और माल का उत्पादन आवश्यकतानुसार होता रहता है।

(ii) उपभोग—आर्थिक प्रशासन के क्षेत्र में उपभोग की समस्याएँ बहुत जटिल है क्योंकि इनका सम्बन्ध उपभोक्ताओं से होता है जिनकी संख्या बहुत अधिक होती है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति उपभोक्ता होता है। प्रत्येक व्यक्ति को शुद्ध जल पर्याप्त मात्रा मे मिले, अच्छा पौष्टिक भोजन ठीक मूल्य पर मिले, बीमारी के समय दवाइयाँ तथा अन्य उपचार सुलभ हों, इसकी व्यवस्था सरकार को करनी पड़ती है। जल, भोजन, वस्त्र, दवाइयाँ आदि उपभोग की महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ है जो प्रत्येक व्यक्ति को अनिवार्य रूप से मिलनी चाहिएं। प्रशासन का कर्तव्य है कि इन सब वस्तुओं तथा सुविधाओं की व्यवस्था की जाय।

उपभोग के क्षेत्र में क्या, कैसा, कितना और कब या कहाँ महत्त्वपूर्ण समस्याएँ है। उपभोग के वास्ते क्या उचित और क्या अनुचित है? उपभोग्य वस्तुओं की

किस्म कैसी होनी चाहिए ? कौन सी वस्तु की आवश्यकता कितनी है तथा उसकी कब तथा कौन-कौन से स्थानों पर आवश्यकता होगी ? यह सब समस्याएँ आर्थिक प्रशासक द्वारा हल की जानी चाहिए। अनेक बार इन समस्याओं के समाधान में स्वास्थ्य, आपूर्ति तथा अन्य विभागों द्वारा भी सहायता लेनी पड़ सकती है।

(iii) **विनिमय**—आधुनिक युग में जितना माल बनाया जाता है उसकी खपत एक ही स्थान पर नहीं होती। उस माल को अन्य स्थानों या देशों में बेच कर उसके बदले दूसरा माल प्राप्त किया जाता है। इस कार्य के लिए परिवहन के श्रेष्ठ साधनों की आवश्यकता होती है और अनेक बार अपना माल बेचने के लिए विज्ञापन का सहारा लेना पड़ता है। माल बेचने तथा खरीदने के साथ ही भुगतान की महत्त्व-पूर्ण समस्या का सामना करना पड़ता है जिसका समाधान करने के लिए विकसित बैंक व्यवस्था का होना बहुत आवश्यक है। इस प्रकार विनिमय क्षेत्र मे प्रशासक को प्रायः पांच प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है :

(क) **मंडियों की तलाश**—माल की बिक्री लिए मंडियों या बाजार की तलाश करनी पड़ती है कि कहाँ-कहाँ कौन सा माल कितना बिक सकता है। इस जानकारी के लिए समाचार पत्रों, व्यापारियों तथा बदलती हुई रुचि और फैशन के सम्पर्क में रहना पड़ता है। अनेक देशों में बाजार या मंडी की खोज तथा ज.न-कारी के लिए अलग विभाग स्थापित किये गये हैं।

(ख **आयात**—अपना माल बेचने के साथ-साथ यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि अपने देश में जिस चीज की कमी है वह कौन से देश में सस्ती और बढ़िया मिल सकती है। इस जानकारी से प्रशासक काफी बचत कर सकता है।

(ग) **विज्ञापन**—माल बेचने या बाजार तलाश करने में आजकल विज्ञापन का सहारा भी लेना पड़ता है। सरक.र अपने दूतावासों के माध्यम से और निजी उद्योगपति समाचार पत्रों तथा अन्य साधनों के माध्यम से अपने द्वारा उत्पादित माल का प्रचार करते हैं। प्रशासक को यह देखना पड़ता है कि किस स्थान या देश में कौन सा माल बेचने के लिए कौन से साधन द्वारा कैसा विज्ञापन दिया जाय ? बड़ी-बड़ी औद्योगिक इकाइयो द्वारा प्रायः लाखों रुपया प्रति वर्ष विज्ञापन पर खर्च कर दिया जाता है।

(घ) **परिवहन**—जब किसी माल की माँग हो जाती है तो उसे आवश्यक स्थान पर भेजने की व्यवस्था करनी पड़ती है। आर्थिक प्रशासक को यह देखना होता है कि माल ट्रक, गाड़ी या जलयान द्वारा भेजा जायगा अथवा अन्य किसी साधन का सहारा लेना पड़ेगा। इस सम्बन्ध मे निर्णय लेने के वास्ते अनेक परिवहन कम्पनियों से बात-चीत करनी पड़ेगी त.कि कम से कम खर्चीला और जल्दी से जल्दी माल पहुँचाने वाला साधन अपनाया जा सके।

(ङ) **भुगतान**—विनिमय क्षेत्र की सबसे महत्त्वपूर्ण तथा जटिल समस्या भुगतान की समस्या है। यदि देश की बैंकिंग व्यवस्था विकसित है और वह श्रेष्ठ

सेवाएँ प्रदान कर रही है तो कोई कठिनाई नहीं होगी अन्यथा प्रशासक को यह देखना पड़ेगा कि भुगतान किस प्रकार किया जायेगा ?

इन सभी कार्यों में सरकार का बहुत महत्त्वपूर्ण योग हो सकता है। सड़कें, रेलें या जल परिवहन व्यवस्था, बैंकिंग का विकास तथा आयात-निर्यात की उदार नीति प्रशासन की समस्याओं को सरल बना देती है और परिवहन व्यवस्था घटिया होने या बैंकिंग विकास कम होने से विनिमय की समस्याएँ कठिनाइयाँ उत्पन्न करती रहती है।

(iv) **वितरण**—आर्थिक प्रशासन क्षेत्र में वितरण की समस्याओं का स्थान भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। वर्तमान युग में समाजवाद की सब जगह चर्चा है। समाजवाद में आर्थिक साधनों का न्यायपूर्ण वितरण होना आवश्यक है। अतः भूमि का वितरण ठीक होना चाहिए, व्याज की दरें उचित रहनी चाहिए, मजदूरों तथा अन्य कर्मचारियों का वेतन या मजदूरी पर्याप्त होनी चाहिए तथा पूँजीपतियों को मिलने वाला लाभ बहुत अधिक नही होना चाहिए। इन सब उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सरकार द्वारा उचित नीतियाँ निर्धारित करनी चाहिए और प्रशासन द्वारा इन नीतियों का ठीक ढंग से पालन किया जाना चाहिए।

(v) **राजस्व**—आर्थिक प्रशासन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग राजस्व है। सरकार किन साधनों से आय प्राप्त करती है और उस आय को किस प्रकार खर्च करती है। सरकार को अपनी आमदनी और खर्च के सम्बन्ध में बजट बनाना पड़ता है और अलग-अलग मदों पर कर की दरें निश्चित करनी पड़ती है। इन करों से प्राप्त आमदनी का महत्त्व के अनुसार अलग-अलग मदो में विभाजन करना पड़ता है। बजट के पास हो जाने पर, प्रशासन द्वारा अपने आय और व्यय को निर्धारित सीमाओं में रखना पड़ता है। अनेक बार सरकारी खर्च को सीमित रखने में कठिनाई आती है।

राजस्व में प्रशासन द्वारा निम्नलिखित कार्य किये जाते है :

(i) निर्धारित दरों पर करों की ठीक समय पर वसूली।

(ii) प्रशासन तथा अन्य क्षेत्रों सम्बन्धी खर्च को निर्धारित रकम तक सीमित रखना।

(iii) अलग-अलग मदों में निर्धारित रकम ही खर्च करना।

(iv) आवश्यक मात्रा में, सरकारी खाते में ऋण लेने की व्यवस्था करना।

(v) सरकारी ऋण तथा व्याज का ठीक समय पर भुगतान करने की व्यवस्था करना।

इन सब कार्यों को ठीक ढङ्ग से पूरा करने का दायित्व आर्थिक प्रशासन का होता है।

(vi) **मूल्य स्तर**—आर्थिक प्रशासन के कार्यक्षेत्र में मूल्यों को ठीक स्तर पर बनाये रखना भी सम्मिलित है। यदि वस्तुओं के मूल्यो में निरन्तर वृद्धि आती जाती

है तो देश की सारी अर्थ-व्यवस्था बिगड़ने का डर रहता है क्योंकि सभी क्षेत्रों में लागत और खर्चे बढ़ जाते हैं। इसी प्रकार यदि मूल्य स्तर में गिरावट आने लगती है तो भी सारी अर्थ-व्यवस्था में गड़बड़ी उत्पन्न होने का भय रहता है क्योंकि मंदी के कारण उत्पादन करने वालों तथा व्यापारियों का विश्वास डगमगाने लगता है और एक मूक अशान्ति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जो अर्थ-व्यवस्था के लिए हानिकारक होती है। अतः मूल्यों को उचित स्तर पर बनाये रखना प्रशासन का महत्त्वपूर्ण दायित्व होता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आर्थिक प्रशासन का क्षेत्र बहुत व्यापक है। उसमें उत्पादन, उपभोग, विनिमय, वितरण तथा राजस्व की सब समस्याएँ ही नहीं बल्कि मूल्यों को बनाये रखने का गहन दायित्व भी सम्मिलित होता है।

(२) नीतियों का पालन

आर्थिक प्रशासन के क्षेत्र में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात आती है **नीतियों का पालन**। उत्पादन, उपभोग, विनिमय, वितरण तथा राजस्व सम्बन्धी समस्याओं का समाधान अनेक प्रकार से हो सकता है। यदि सरकार स्वतन्त्र आर्थिक नीति अपनाती है तो अर्थतन्त्र के किसी भी क्षेत्र के विकास पर कोई नियन्त्रण नहीं लगाये जाते। कोई भी व्यक्ति किसी प्रकार के उद्योग की स्थापना कर सकता है और उसके द्वारा चाहे जितना उत्पादन किया जा सकता है। इसी प्रकार उपभोग, विनिमय तथा वितरण पर भी कोई बन्धन या नियन्त्रण नहीं लगाया जाता। इस प्रकार की पूंजीवादी व्यवस्था में सब क्षेत्रों में स्पर्द्धा होती है और आर्थिक प्रशासन अपनी व्यावसायिक इकाई को इस स्पर्द्धा में जीवित रखने का प्रयत्न करता है। इस व्यवस्था में आर्थिक प्रशासन का नैतिक या सामाजिक दायित्व बहुत कम होता है।

यदि सरकार की आर्थिक नीति **समाजवादी** हो तो आर्थिक प्रशासन को अपना काम इस ढङ्ग से करना पड़ता है कि व्यवसाय को हानि भी न हो और सरकारी नीति का पालन भी हो जाय। इस नीति में प्रायः मूल्यों को कुछ कम रखना पड़ता है, मजदूरी की दरें उचित स्तर पर रखनी पड़ती हैं और अपने लाभ के साथ-साथ समाज के हित का भी ध्यान रखना पड़ता है। अतः समाजवादी नीति में प्रायः आर्थिक प्रशासन का दायित्व बहुत बढ़ जाता है।

सरकार की समाजवादी नीति का एक पक्ष यह है कि सरकार कभी-कभी सारे उद्योग तथा व्यवसायों को अपने अधिकार में ले लेती है। इस स्थिति में सम्पूर्ण आर्थिक प्रशासन का भार सरकारी कर्मचारियों पर आ जाता है। सरकारी कर्मचारियों पर सरकारी नीति के पालन का पूरा भार आ जाता है और उसकी सफलता या असफलता का पूरा उत्तरदायित्व उन पर ही आ जाता है।

इस प्रकार आर्थिक प्रशासन सरकार की आर्थिक नीतियों के अनुसार अपने आप को ढालने का प्रयत्न करता है और सरकारी नीतियों की सीमा में ही काम करता है।

आर्थिक प्रशासन का स्वभाव (Nature of Economic Administration)

आर्थिक प्रशासन विज्ञान भी है और कला भी।

यह विज्ञान इसलिए है कि इसका अध्ययन वैज्ञानिक ढङ्ग से किया जाता है। आर्थिक समस्याएँ एक दूसरी से जुडी हुई है। उनका समाधान भी अलग-अलग न कर एक साथ ही करने की आवश्यकता होती है। उदाहरण रूप में यदि किसी देश मे अनाज की कमी है तो इस समस्या का समाधान करने के लिए प्रशासन द्वारा एक साथ ही निम्नलिखित दिशाओं में कार्य किये जायेंगे :

(i) अन्न का उत्पादन बढाने की दिशा में प्रयत्न ;

(ii) अन्न की कमी दूर करने के लिए विदेशों से आयात ;

(iii) अन्न की खपत कम करने के लिए अन्य वस्तुओं के उपयोग को प्रोत्साहन ;

(iv) जन संख्या के नियन्त्रण के लिए प्रयत्न ;

(v) अनाज के मूल्यों को स्थिर रखने सम्बन्धी कार्यवाही, आदि।

यह सभी कार्य एक नियमित क्रम या निश्चित योजना के अनुसार किये जाते है। किसी भी विज्ञान में प्रत्येक कार्य निश्चित योजना के अनुसार होना आवश्यक होता है अतः आर्थिक प्रशासन एक विज्ञान है।

प्रशासन एक कला है क्योकि किसी कार्य को अच्छे ढङ्ग से करने की रीति को ही कला कहते है। प्रशासन को ठीक ढङ्ग से चलाने में पर्याप्त योग्यता, बुद्धि और क्षमता की आवश्यकता होती है। कुछ व्यक्ति कठिन से कठिन समस्याओं को सुलझा लेते हैं, उनके पास समस्याओं को सुलझाने की कला होती है। ऐसे व्यक्ति ही प्रशासक (या श्रेष्ठ प्रशासक) कहलाते है।

प्रशासन एक कला है अतः आर्थिक प्रशासन भी कला है। आर्थिक नीतियों का संचालन करने मे विशेष कुशलता की आवश्यकता होती है। बढ़ते हुए मूल्यों को नियन्त्रित करना, देश के निर्यातों को बढ़ाना, आयातो मे कमी करना, बाजार में आवश्यक मात्रा में ही मुद्रा चलन में डालना अथवा रोजगार के साधनो को बढ़ाना कुछ कार्य है जिनमें सफलता प्राप्त करने के लिए उचित मात्रा मे योग्यता, कुशलता या कला की आवश्यकता होती है। ऐसे अनेक दूसरे उदाहरण भी दिये जा सकते है। अतः आर्थिक प्रशासन एक कला भी है।

आर्थिक प्रशासन का भार किस पर ? (सरकार या निजी क्षेत्र)

अब प्रश्न यह उठता है कि आर्थिक प्रशासन का उत्तरदायित्व कौन उठाता है ? क्या इसका पूरा दायित्व सरकार पर है ? या इसकी जिम्मेदारी निजी क्षेत्र के पूँजीपतियों को उठानी पड़ती है ?

इस प्रश्न का कोई एक या निश्चित उत्तर नही दिया जा सकता क्योंकि समाजवादी व्यवस्था में—जहाँ सभी उद्योग तथा व्यवसाय सरकार के अधिकार में है—आर्थिक प्रशासन का पूरा भार सरकार पर ही होता है क्योकि वहाँ उत्पादन

उपभोग, विनिमय तथा वितरण सम्बन्धी सभी कार्य सरकार स्वयं करती है। इस व्यवस्था में, सरकार नीति निर्धारण भी करती है और उस नीति का पालन भी। अतः आर्थिक प्रशासन की सफलता या असफलता का दायित्व सरकार पर ही रहता है।

पूँजीवादी व्यवस्था में सरकार प्रायः लोक हित की इकाइयों (जलपूर्ति, बिजली, डाक तार आदि) को स्वयं चलाती है और उनके प्रशासन का भार सरकार पर ही होता है। इन इकाइयों का उद्देश्य जनता की सेवा करना अधिक और लाभ कमाना कम होता है। अनेक बार इन इकाइयों का प्रशासन बहुत ढीला और अकुशल होता है जिसके कारण इन इकाइयों को प्रायः निरन्तर हानि उठानी पड़ती है।

लोक हित सम्बन्धी कुछ इकाइयों को छोड़कर, पूँजीवादी व्यवस्था में शेष सारी औद्योगिक या व्यावसायिक इकाइयाँ निजी पूँजीपतियों के हाथ में रहती हैं। इन इकाइयों को लाभ कमाने के दृष्टिकोण से चलाया जाता है अतः इनकी प्रशासन व्यवस्था प्रायः बहुत कुशल और सुयोग्य हाथों में होती है।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था मे प्रायः सरकार और निजी उद्योगपति दोनों को उद्योग तथा व्यवसाय चलाने की अनुमति होती है। कुछ क्षेत्रों में सरकार तथा निजी व्यवसाय में स्पर्द्धा होती है। इस स्पर्द्धा के कारण दोनों क्षेत्रों में प्रशासनिक स्पर्द्धा रहती है क्योंकि दोनों क्षेत्र एक दूसरे से अधिक अच्छा काम करने की चेष्टा करते हैं। इस स्थिति में प्रशासनिक फेर-बदल भी होती रहती है क्योंकि सरकारी क्षेत्र से प्रशासक निजी क्षेत्र में और निजी क्षेत्र से प्रशासक सरकारी क्षेत्र में आते जाते रहते हैं। इस प्रकार मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में प्रशासन भार सरकार तथा निजी क्षेत्र दोनों पर रहता है। यदि दोनों क्षेत्रों मे अदल-बदल बनी रहे तो कुशलता के स्तर में उन्नति होती रहती है किन्तु अनेक बार ऐसा करने में बहुत सी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिससे दोनों प्रकार के प्रशासनो में नये खून का संचार नहीं हो पाता।

आर्थिक प्रशासन की कार्यप्रणाली
TECHNIQUE OF ECONOMIC ADMINISTRATION]

आर्थिक प्रशासन को प्रायः अनेक प्रकार की जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इन समस्याओं के समाधान के लिए सदा एक ही प्रकार की तकनीक या कार्यप्रणाली नही अपनायी जा सकती क्योंकि अलग-अलग क्षेत्रों की समस्याएँ भी भिन्न प्रकार की होती हैं। एक इस्पात बनाने का कारखाना स्थापित करने और एक बैंक स्थापित करने में बहुत अन्तर है। इन दोनों प्रकार के व्यवसायों की आवश्यकताएँ तथा समस्याएँ भिन्न हैं अतः उनके समाधान के लिए अलग तकनीक काम में लेने होंगे। किन्तु कुछ आधारभूत बातें ऐसी हैं जो सब प्रकार के व्यवसायों में समान रूप से लागू होती हैं। इन आधारभूत बातों के बारे में यहाँ बतलाना आवश्यक होगा।

(१) **नियोजन** (Planning)—सबसे पहले प्रशासन को जिस उद्देश्य की पूर्ति करनी है, उसके लिए एक रूपरेखा तैयार करनी होगी कि उद्देश्य की पूर्ति के लिए क्या-क्या कार्य किये जा सकते हैं, उनमें से कौन-कौन से कार्य वर्तमान परिस्थितियों में उचित हैं या प्रशासन की सामार्थ्य या क्षमता से बाहर नहीं हैं। इसके साथ ही यह निश्चय करना होगा कि उन कार्यों के लिए कौन सी रीति अपनायी जायगी। मान लीजिए सरकार को अपनी आय में वृद्धि करनी है तो पहले तो यह निश्चित किया जायगा कि आय वृद्धि के लिए कितनी रकम करों से वसूल की जायगी तथा कितनी रकम ऋणों से प्राप्त की जायगी। इसके पश्चात् यह निश्चित करना होगा कि करों से वसूल की जाने वाली रकम के लिए कितने प्रत्यक्ष कर लगाये जायेंगे। इसके बाद यह निश्चित करना होगा कि प्रत्यक्ष कर कौन से मदों पर बढ़ाये जायेंगे तथा अप्रत्यक्ष कर कौन से मदों पर बढ़ाये जायेंगे या किन-किन नये मदों पर कर लगाने की व्यवस्था होगी ? इस काम को ही नियोजन कहा जाता है।

(२) **संगठन** (Organisation)—जब उद्देश्य की पूर्ति के लिए उचित रूपरेखा तैयार हो जाती है तो उसके लिए साधनों को संगठित करने का काम आरम्भ किया जाता है। भूमि या मकान (या केवल स्थान), पूँजी, कच्चा माल तथा विशेषज्ञों का प्रबन्ध किया जाता है। इस प्रकार काम को पूरा करने के लिए उचित संगठन की स्थापना की जाती है।

(३) **कर्मचारियों की व्यवस्था** (Staffing)—नियोजन तथा संगठन के पश्चात् सारी योजना को पूरा करने के लिए सभी वर्गों के कर्मचारियों (श्रमिकों से लेकर उच्च अधिकारियों तक) की नियुक्ति की जाती है तथा उनके लिए पानी, बिजली तथा काम करने सम्बन्धी अन्य सुविधाओं की व्यवस्था की जाती है। जो कर्मचारी प्रशिक्षित नहीं है उनके उचित प्रशिक्षण का भी प्रबन्ध किया जाता है।

(४) **निदेशन** (Direction)—आर्थिक प्रशासन का चौथा काम है उद्देश्य की पूर्ति के लिए विभिन्न व्यक्तियों को अपने-अपने कार्य तथा कार्यप्रणाली के सम्बन्ध में स्पष्ट एवं पर्याप्त आदेश देना। यह आदेश या निर्देश समय-समय पर सूचना, आदेश या मार्गदर्शन के रूप में सम्बन्वित व्यक्तियों या विभागों के पास भेजे जाने चाहिएं तथा सबको यथासमय मिल जायें, ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिएं।

(५) **समन्वय** (Co-ordination)—किसी भी योजना की सफलता के लिए उसके सब अंगों या विभागों में उचित तालमेल या समन्वय अलग-अलग विभागों की समय-समय पर मीटिंग बुलाकर सब व्यक्तियों में आपसी विचार-विमर्श द्वारा किया जा सकता है। समन्वय के बिना व्यवसाय के प्रबन्ध का संतुलन बिगड़ने का भय रहता है।

(६) **रिपोर्ट देना** (Reporting)—जो काम चल रहा है उसकी प्रगति की निश्चित जानकारी बहुत आवश्यक है। अतः उसकी प्रगति की साप्ताहिक, मासिक या वार्षिक रपट तैयार की जाती है और संगठन के अध्यक्ष को भेजी जाती है।

संगठन का अध्यक्ष अपनी जानकारी के लिए समय-समय पर काम की प्रगति की सूचना माँगता रहता है और योजना की सही स्थिति के सम्पर्क में रहता है। इससे योजना की प्रगति ठीक दिशा में रखने में सहायता मिलती है।

बहुत बड़ी व्यावसायिक इकाइयों में काम (या योजना) की प्रगति की जानकारी देने के लिए अलग आर्थिक एवं सांख्यिकी विभाग (Economic and Statistics Dapartment) स्थापित किये जाते हैं।

(७) **बजट बनाना** (Budgeting)—इन सब कार्यों के अतिरिक्त योजना पर होने वाले खर्च का हिसाब रखना, नकद प्राप्ति, भुगतान तथा बिक्री का हिसाब रखना तथा व्यवसाय के सारे लेन-देन का लेखा-जोखा रखना बहुत आवश्यक होता है।

प्रत्येक प्रशासक वर्ष के आरम्भ में ही आय-व्यय, बिक्री, खरीद तथा नकदी की प्राप्ति और भुगतान का एक लेखा तैयार करता है जिसे बजट कहते हैं। बजट कभी-कभी त्रैमासिक या मासिक भी तैयार किया जाता है किन्तु वह वार्षिक बजट का एक भाग ही होता है। अनेक बार अलग-अलग विभागों के अलग-अलग बजट बनाये जाते हैं। बजट तैयार करने से प्रशासन के सामने अपने व्यवसाय की पूरी तस्वीर रहती है और सब विभागों को अपने-अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान रहता है। इससे प्रत्येक योजना को पूरा करने में सुविधा रहती है।

श्रेष्ठ आर्थिक प्रशासन—आवश्यक तत्व
[GOOD ECONOMIC ADMINISTRATION-ESSENTIAL ELEMENTS]

एक अच्छे आर्थिक प्रशासन मे निम्नलिखित बातें होनी आवश्यक हैं :

(१) **शीघ्र निर्णय** (Quick Decision)—आर्थिक समस्याएँ प्रायः ऐसी होती हैं जिनके उचित समाधान के लिए निर्णय लेने में देर नहीं होनी चाहिए। अतः प्रशासन का सारा संगठन ऐसा होना चाहिए कि समस्या के उत्पन्न होते ही उसके समाधान के बारे में निर्णय लिया जा सके। बड़ी-बड़ी व्यावसायिक इकाइयों में आर्थिक तथा सांख्यिकी विभाग प्रायः सारी घटनाओं के सम्पर्क में रहते हैं और उच्चतम अधिकारी को सब बातों की जानकारी देते रहते हैं। अनेक बार, कोई समस्या उत्पन्न होते ही उसका उपचार कर लिया जाता है। "सयाना व्यक्ति वही है जो रोग के चिह्न प्रकट होते ही उसका उपचार कर ले"।

(२) **कुशल संगठन** (Efficient Organization)—श्रेष्ठ आर्थिक प्रशासन के लिए यह भी आवश्यक है कि उसका संगठन कुशल हो। कुशल संगठन का अर्थ यह है कि जो निर्णय लिए जायें उनका पालन करने में देर या ढिलाई नहीं होनी चाहिए। अनेक बार अच्छी से अच्छी योजनाएँ पालन की शिथिलता के कारण असफल हो जाती हैं। अतः प्रशासन के उत्तरदायी व्यक्तियों को सब विभागों की

कुशलता के सम्पर्क में रहना चाहिए और जहाँ भी शिथिलता हो उसे तत्काल ठीक करना चाहिए।

(३) **उचित वातावरण** (Proper Atmosphere)—एक कहावत के अनुसार **"श्रेष्ठतम प्रशासक वह है जो कम से कम प्रशासन करे"**। इसका अर्थ यह है कि प्रशासनिक इकाई में ऐसा वातावरण होना चाहिए कि व्यवसाय के किसी काम में रुकावट या ढिलाई आने ही नहीं पाये। इसके लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं :—

(i) **अपनत्व**— सभी काम करने वाले व्यक्तियों के हृदय में संस्था के प्रति ममत्व या लगाव होना चाहिए। उनके मन में ऐसी भावना होनी चाहिए कि यदि व्यवसाय को हानि हुई तो उनकी प्रतिष्ठा को धक्का लगेगा।

(ii) **सबका सहयोग**—व्यावसायिक इकाई के प्रति सभी कर्मचारियों का ममत्व तभी हो सकता है जबकि प्रत्येक निर्णय में उनका योगदान हो। अतः प्रशासन को इस प्रकार की परम्परा स्थापित करनी चाहिए कि सभी महत्त्वपूर्ण निर्णयों में अधिक से अधिक व्यक्तियों के सुझाव या सलाह ली जा सके।

यह कार्य सब वर्गों के कर्मचारियों को विभिन्न समितियों में प्रतिनिधित्व देकर किया जा सकता है।

(iii) **पर्याप्त प्रोत्साहन**—प्रत्येक कर्मचारी की श्रद्धा या ममता जीतने के लिए यह भी आवश्यक है कि उनकी सुख-सुविधाओं, वेतन मान तथा पदोन्नति का उचित ध्यान रखा जाय। संस्था में एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना की जानी चाहिए कि जहाँ तक सम्भव हो प्रत्येक व्यक्ति को उच्चतम पद पर पहुँचने का अवसर मिल सके। इससे प्रत्येक व्यक्ति का अपनी व्यावसायिक इकाई के प्रति आदर तथा ममत्व बना रहता है और वह अच्छा काम करने के लिए प्रेरित होता रहता है।

वास्तव में, जिस व्यावसायिक इकाई में मानवी तत्त्व को उचित आदर तथा प्रत्येक तत्त्व को उचित प्रोत्साहन मिलता है। उस इकाई की सभी योजनाएँ सफल होती हैं। प्रशासन के प्रति ममत्व तथा स्नेह उत्पन्न किये बिना किसी भी कार्य में सफलता सम्भव नही है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को यह आभास होना चाहिए कि उसके संगठन में उसका उचित महत्त्व है और वह जहाँ काम कर रहा है वह उसकी अपनी संस्था है।

(४) **व्यापक सम्पर्क** (Adequate Touch)—आर्थिक प्रशासन की सफलता इस बात पर भी निर्भर करती है कि उसमें विभिन्न विभागों का आपसी सम्पर्क कैसा है। सब विभागों में तालमेल है और सब काम आपस में विचार विमर्श के पश्चात् किये जाते हैं तो कभी भी किसी स्तर पर कोई बाधा या अड़चन उत्पन्न नहीं होगी और सब काम ठीक प्रकार चलता रहेगा। किन्तु सम्पर्क के अभाव में कहीं न कहीं गड़बड़ उत्पन्न होने का भय रहता है।

व्यावसायिक इकाई के अन्दर के सब विभागों में आपसी सम्पर्क के अतिरिक्त बाहर की व्यावसायिक इकाइयों से भी सम्पर्क रहना आवश्यक है। यदि प्रशासन को यह जानकारी नहीं है कि उसके प्रतिस्पर्द्धी कौन-कौन हैं, उनके माल की कितनी खपत है और वह अपने व्यवसाय का किस सीमा तक विस्तार कर रहे हैं तो वह अन्य इकाइयों से पिछड़ जायेगा और उसकी व्यावसायिक इकाई प्रतिस्पर्द्धा में पिट जायेगी। अतः प्रशासक को आन्तरिक तथा बाहरी दोनों क्षेत्रों में सभी घटनाओं और परिस्थितियों के सम्पर्क में रहना चाहिए।

(५) राष्ट्रीय नीति (National Policy)—आधुनिक प्रशासन व्यक्तिवादी नहीं समष्टिवादी होना चाहिए। यदि कोई व्यवसायी या संस्था केवल व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से काम करता है तो वह अधिक दिन तक नहीं चल सकेगी क्योंकि अन्य इकाइयाँ उससे आगे निकल जायेंगी। जो इकाई राष्ट्रीय नीति को ध्यान में रखकर काम करती है उसे सरकार तथा जनता का समर्थन, सहयोग तथा संरक्षण मिलेगा और केवल व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से काम करने वाले व्यवसायी के मार्ग में अनेक प्रकार की व्यावहारिक अड़चनें आयेंगी और उसे अपनी नीति तथा व्यवहार में परिवर्तन करना पड़ेगा अन्यथा वह बंद हो जायेगी।

आर्थिक प्रशासन द्वारा राष्ट्रीय नीति को आधार मानना इसलिए भी आवश्यक है कि राष्ट्रीय नीति सारे देश के हित में बनायी जाती है और उसमें जो प्राथमिकताएँ निर्धारित की जाती है वह सबके हित मे होती है। इसलिए आर्थिक प्रशासन को देश की आर्थिक नीति के अनुसार ही अपने विचार तथा कार्यक्रमों को ढालना चाहिए।

(६) नीति निर्धारण में सहायता (Assistance in Policy Formulation)—आर्थिक प्रशासक को प्रत्येक नीति के पालन का अनुभव होता है। अतः वह मालिकों या सरकार को अपने अनुभव के आधार पर सही सलाह दे सकता है जिसके आधार पर भविष्य की नीतियाँ अधिक श्रेष्ठ और सही हो सकती हैं। अच्छा प्रशासक **शासकों की "आँख और कान का काम देता है"**। यह तभी सम्भव है जबकि वह सरकार से भी निरन्तर सम्पर्क बनाये रखे। वास्तव में सभी, अच्छे प्रशासक सरकार से उचित सम्पर्क बनाये रखने में विश्वास करते हैं क्योंकि यह उनके अपने हित में भी है। अनेक बार वह अपनी बात सरकार से मनवा लेते है जिससे उन्हें भी लाभ होता है और सरकार को भी सही नीति निर्धारित करने में मदद मिलती है।

(७) प्रशिक्षण (Training)—वर्तमान युग मे उत्पादन तथा प्रबन्ध की कार्य-प्रणाली और तकनीकों में बहुत तेजी से परिवर्तन हो रहा है और अच्छे प्रशासक तथा प्रबन्धक को नवीनतम तकनीकों की जानकारी रहनी चाहिए ताकि वह अपने प्रशासन के अधीन इकाई को कुशलतम बनाये रख सके। अतः प्रशासन का दायित्व उठाने वाले प्रत्येक व्यक्ति को समय-समय पर अपनी जानकारी को नया करने का

अवसर दिया जाना चाहिए। इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति के उचित प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए।

वर्तमान युग में प्रायः सभी देशों में व्यवसायी प्रबन्धकों के लिए ४, ६, ८ या १० सप्ताह के अभिनव पाठ्यक्रम (refresher courses) आयोजित किये जाते हैं जिनमें प्रशासन की नयी प्रणालियाँ तथा तकनीकों की जानकारी दी जाती है। भारत में भी अहमदाबाद, कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली और हैदराबाद के प्रबन्ध-संस्थान समय-समय पर इस प्रकार के पाठ्यक्रम आयोजित करते रहते हैं।

अभ्यास प्रश्न

१. आर्थिक प्रशासन से क्या तात्पर्य है? आर्थिक प्रशासन की परिभाषा दीजिये और उसका क्षेत्र बतलाइये।

२. आर्थिक प्रशासन किन समस्याओं से सम्बन्ध रखता है? उन पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

(संकेत—आर्थिक प्रशासन के क्षेत्र में जो बातें लिखी गयी हैं वही समस्याएँ हैं जिनसे आर्थिक प्रशासन का सम्बन्ध है)

३. आर्थिक प्रशासन की कार्यप्रणाली पर एक विवेचनात्मक नोट लिखिए।

४. आर्थिक प्रशासन की सफलता के लिए कौन सी बातें आवश्यक हैं।

या

श्रेष्ठ आर्थिक प्रशासन के मूल तत्त्वों का विवेचन कीजिए।

या

एक अच्छे आर्थिक प्रशासन की विशेषताओं की व्याख्या कीजिए।

(संकेत—तीनों प्रश्नों के उत्तर में "श्रेष्ठ आर्थिक प्रशासन—आवश्यक तत्त्व" के अन्तर्गत दी गयी बातें लिखनी चाहिएँ।)

२ भारतीय संविधान के आर्थिक पक्ष

(ECONOMIC ASPECTS OF INDIAN CONSTITUTION)

१५ अगस्त, १९४७ को जब भारत स्वतन्त्र हुआ तो यह विचार किया गया कि देश की शासन व्यवस्था को ठीक ढंग से चलाने के लिए एक संविधान की रचना की की जानी चाहिए। इस दृष्टि से डॉ० भीमराव अम्बेडकर तथा बूनेगल नरसिंह राव सरीखे कानून विशेषज्ञों की एक समिति बनायी गयी जिसने संसार के सभी देशों के संविधानों का अध्ययन कर भारत के लिए एक संविधान तैयार किया। इस संविधान पर भारत की संविधान निर्मात्री सभा द्वारा विस्तृत विचार किया गया और भारत के लिए एक संविधान तैयार हो गया। २६ जनवरी, १९५० से यह संविधान भारत में लागू किया गया।

आधारभूत तत्त्व

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में उन चार बातों का उल्लेख किया गया है जो भारत के प्रत्येक नागरिक को अन्य स्वतन्त्र देशों के नागरिक के समान गौरव और प्रतिष्ठा प्रदान करेगी। यह चार बातें निम्नलिखित हैं :[1]

(१) **न्याय**—भारत के प्रत्येक नागरिक को सामाजिक, आर्थिक, तथा राजनीतिक न्याय देने की गारण्टी की गयी है।

(२) **स्वतन्त्रता**—भारतीय संविधान में प्रत्येक नागरिक को विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, निष्ठा तथा पूजा की स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है।

(३) **समानता**—प्रत्येक नागरिक को समान दर्जा तथा अवसर प्रदान करने की घोषणा की गयी है। इन भावनाओं को सब नागरिकों में बढ़ावा देने का संकल्प लिया गया है।

---

1 *Justice*, social, economic and political ;
Liberty of thought, expression, belief, faith and worship ;
Equality of status and of opportunity ;
and to promote them all.
Fraternity assuring the dignity of the individual and the unity of the nation.

(४) **भाई चारा**—समाज के प्रत्येक नागरिक के सम्मान की रक्षा तथा राष्ट्र की एकता का व्रत लिया गया है।

आर्थिक महत्त्व

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में प्रत्येक नागरिक को **न्याय, स्वतन्त्रता, समानता** तथा **सम्मान** देने का जो संकल्प लिया गया है वह आर्थिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि—

(i) **आर्थिक न्याय** के बिना सामाजिक तथा राजनैतिक न्याय सम्भव नहीं है। जिन व्यक्तियों की आर्थिक स्थिति बहुत खराब होती है उन्हें प्रायः सामाजिक तथा राजनीतिक न्याय नही मिल पाता क्योंकि न्यायालयों में जाने के लिए धन की आवश्यकता होती है। गरीब व्यक्ति प्रायः अदालत में नहीं जा सकते क्योंकि उनके पास न तो अदालत की फीस देने के लिए पैसा होता है, न वह अपना केस लड़ने के लिए अच्छा वकील कर सकते हैं।

इसके विपरीत धनिक व्यक्ति पैसे के बल पर बढ़िया से बढ़िया वकील कर लेते है और उच्चतम न्यायालय तक जाकर अपनी बात मनवाने में सफल हो जाते है, अतः आर्थिक न्याय के बिना कोई भी नागरिक न तो सम्मानपूर्वक जीवित रह सकता है न अपनी मान मर्यादा की रक्षा कर सकता है।

आर्थिक न्याय में निम्नलिखित बातें सम्मिलित होती हैं :

(क) **रोजगार**—प्रत्येक व्यक्ति को योग्यतानुसार रोजगार मिलना चाहिए। उसे रोजगार की खोज में दर-दर भटकने की आवश्यता नहीं होनी चाहिए।

(ख) **वेतन**—प्रत्येक व्यक्ति को उसके काम के अनुसार वेतन दिया जाना चाहिए और किसी भी व्यक्ति के काम को घटिया नहीं समझना चाहिए।

प्रत्येक नागरिक की वेतन या आय कम से कम इतनी होनी चाहिए जिससे वह सम्मान से जीवन बिता सके।

(ग) **विषमता**—समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता का अन्त होना चाहिए। गरीबी और अमीरी के अन्तर में कमी लानी चाहिए तभी आर्थिक न्याय हो सकता है और समाजवाद की स्थापना हो सकती है।

(२) संविधान में प्रस्तावित **स्वतन्त्रता** का कोई अर्थ नहीं है जब तक कि नागरिक आर्थिक रूप में स्वतन्त्र नहीं हों। चुनाव के समय प्रायः देखा जाता है कि गरीब लोगों को कुछ रकम का लालच देकर मत खरीद लिए जाते हैं। यह प्रजातन्त्र का मखौल मात्र है क्योंकि जनता आर्थिक कठिनाइयों के कारण पैसे के बदले वोट बेच देती है अतः वह स्वतन्त्रतापूर्वक मतदान नहीं करती। जब तक प्रत्येक व्यक्ति की आय जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त नहीं हो, तब तक स्वतन्त्रता एक मधुर कल्पना है, प्रवञ्चना है, धोखा है।

(३) जहाँ तक **समानता** का प्रश्न है, वह भी केवल घोषणा से नहीं मिल सकती। समानता लाने के लिए आर्थिक शोषण समाप्त करना आवश्यक हैं, आर्थिक

विषमता कम करना आवश्यक है तथा आर्थिक साधनों का संकेद्रण समाप्त करना अनिवार्य है। वास्तव में आर्थिक असमानता रहते हुए अन्य किसी भी प्रकार की समानता की वात सोचना बुद्धिहीनता की परिचायक है।

(४) संविधान में भाईचारा स्थापित करने तथा राष्ट्रीय एकता उत्पन्न करने का संकल्प भी अत्यन्त श्रेष्ठ है किन्तु भाईचारा तो समान व्यक्तियों में होता है। ऊँच-नीच की भावना समाप्त हुए विना सही अर्थों में भाईचारा स्थापित नहीं हो सकता। *अतः भाईचारा और राष्ट्रीय एकता भी आर्थिक समानता लाये विना सम्भव* नहीं है।

भारतीय संविधान, में नागरिकों के लिए जिन श्रेष्ठ सिद्धान्तों को अपनाने का संकल्प लिया गया है वह सब सिद्धान्त **आर्थिक न्याय, आर्थिक समानता** तथा **आर्थिक स्वतन्त्रता** के विना अर्थहीन हैं क्योंकि मनुष्य की खाने-पीने, पहनने तथा अन्य अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति होने के पश्चात् ही वह सही दिशाओं में सोचने लायक होता है। एक अधभूखे, अधनंगे व्यक्ति के लिए राजनीति या समाजशास्त्र के ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्त वेकार हैं।

मौलिक अधिकार
[FUNDAMENTAL RIGHTS]

भारतीय संविधान में, भारत के प्रत्येक नागरिक को कुछ मौलिक अधिकार दिये गये हैं। इन अधिकारों का उद्देश्य नागरिकों के लिए आर्थिक न्याय, समानता, स्वतन्त्रता की व्यवस्था करना है तथा प्रत्येक नागरिक की स्वतन्त्रता की रक्षा करना, उसे न्याय दिलाना तथा उसके सामाजिव, आर्थिक एवं राजनीतिक हितों की सुरक्षा की गारण्टी करना है। भारत सरकार या कोई भी राज्य सरकार मौलिक अधिकारों के विरुद्ध कोई कानून नहीं वना सकती। यदि कोई कानून या उसकी कोई धारा किसी भी मौलिक अधिकार की अवहेलना करती हो तो वह कानून या वह धारा जनता पर लागू नहीं की जा सकती।

आर्थिक पक्ष—संविधान द्वारा भारतीय नागरिकों को जो मौलिक अधिकार दिये गये हैं, यहाँ उन अधिकारों के केवल आर्थिक पक्ष पर ही विचार किया जायेगा। यह अधिकार निम्नलिखित हैं :

(१) समानता का अधिकार (Right to Equality)

इस अधिकार के अनुसार भारत के प्रत्येक नागरिक को समान दर्जा देने का प्रयत्न किया गया है। किसी व्यक्ति के साथ धर्म, जाति, नस्ल, लिंग अथवा प्रदेश के आधार पर पक्षपात नहीं किया जा सकता। इस अधिकार का आर्थिक पक्ष यह है कि **सरकारी क्षेत्र में रोजगार देने की दृष्टि से किसी भी व्यक्ति से भेदभाव नहीं किया जा सकता।** इसके अनुसार, सरकारी सेवाओं में पूरी तरह निष्पक्षता की गारंटी की गयी है। यह अधिकार देश के प्रत्येक नागरिक को योग्यता के आधार पर रोजगार देने की व्यवस्था करना है। यह मान्यता समाजवादी धारणा के सर्वथा अनुकूल है।

सरकारी क्षेत्र में रोजगार देने में भेदभाव तो नहीं रखा जायगा किन्तु उसके साथ ही यह व्यवस्था भी की गयी है कि पिछड़ी जातियों तथा पिछड़े वर्गों के लोगों का सरकारी नौकरियों में विशेष ध्यान रखा जायगा। इसी के अनुसार, सरकारी नौकरियों में अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जन-जातियों के लिए स्थान सुरक्षित रखे जाते है।

इस अधिकार का दुरुपयोग—कुछ व्यक्तियों का मत है कि अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जन-जातियों के लिए सरकारी सेवाओं में स्थान सुरक्षित रखना बहुत उचित एवं श्रेष्ठ है किन्तु अनेक वार ऐसा देखा जाता है कि कुछ राज्य मेडीकल कालिजों, इंजीनियरी कालिजों तथा अन्य तकनींकी क्षेत्रों तथा सेवाओं में भी इन जातियों के लिए सीटें सुरक्षित रखते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि वहुत कम अंक पाने वाले तथा वहुत कम योग्यता वाले व्यक्तियों को मेडीकल, इंजीनियरी तथा तकनीकी कालिजों में दाखला मिल जाता है और उनसे वहुत अधिक योग्यता वाले व्यक्ति रह जाते है। इससे मेडीकल, इंजीनियरी तथा तकनीकी शिक्षा के स्तर में गिरावट का भय उत्पन्न हो गया है।

दूसरी ओर, वहुत कम योग्यता वाले व्यक्तियों को (अनुसूचित या जन-जाति के आधार पर) सभी सरकारी सेवाओं में प्राथमिकता देने से मेडीकल, इंजीनियरी तथा अन्य सेवाओ के स्तर में वहुत गिरावट आयी है। अतः सरकार इन पिछड़े हुए वर्गों को सरकारी सेवाओं में नियोजित करने में प्राथमिकता अवश्य दे किन्तु ऐसा करते समय यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि जिन व्यक्तियों को लाभ दिया जा रहा है उनका कम से कम एक न्यूनतम स्तर तो होना चाहिए और इससे अन्य वर्गों के बहुत **योग्य** व्यक्तियों की अवहेलना नहीं होनी चाहिए।

इस सम्बन्ध में दो सुझाव दिये जा सकते हैं :

(i) प्रथम, अनुसूचित तथा पिछड़ी जाति के सभी **योग्य व्यक्तियों** को उच्च शिक्षा के लिए पर्याप्त छात्रवृत्ति दी जाय किन्तु नौकरियों में उनके लिए सीटें सुरक्षित नहीं रखी जानी चाहिएं।

(ii) **अन्य बातें समान रहने पर**, सरकारी सेवाओं में अनुसूचित एवं जन-जाति के व्यक्तियों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

इन दोनों सिद्धान्तों को मान लेने पर, पिछड़े वर्गों के सभी होनहार वालक उच्च शिक्षा ग्रहण कर सकेंगे और इन वालकों को सरकारी सेवाओं में भी प्राथमिकता मिलेगी किन्तु अयोग्य तथा कम कुशलता वाले व्यक्ति पृष्ठ द्वार से सरकारी सेवाओं में प्रवेश नहीं पा सकेंगे।

(२) स्वतन्त्रता का अधिकार (Right to Freedom)

दूसरा मौलिक अधिकार नागरिक स्वतन्त्रता का है। भारत के प्रत्येक नागरिक

को विचार, भाषण तथा सम्पत्ति आदि रखने का अधिकार है। आर्थिक अधिकार निम्नलिखित हैं :

(i) **संघ या संगठन बनाना**—भारत के प्रत्येक नागरिक को संगठन या संघ बनाने तथा उनमें सम्मिलित होने का अधिकार है। इस अधिकार के अन्तर्गत सरकारी कर्मचारी श्रमिक संघों अथवा अन्य संगठनों के सदस्य बन सकते हैं। इस प्रकार भारत के प्रत्येक नागरिक को संघ या संगठन बना कर अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने का अधिकार दिया गया है।

संघ या संगठन बनाने के बारे में यह बात ध्यान रखने योग्य है कि राष्ट्रीय हित में सरकार किसी संघ या संगठन पर प्रतिबन्ध लगा सकती है या उसे गैर कानूनी घोषित कर सकती है। किन्तु सरकार को यह सिद्ध करना पड़ेगा कि अमुक संघ या संगठन राष्ट्रीय एकता के विरुद्ध है या जनहित की अवहेलना करता है अथवा नैतिकता के प्रतिकूल है। वास्तव में, इस प्रकार की व्यवस्था करना बहुत आवश्यक है क्योंकि राष्ट्र विरोधी तत्त्वों के प्रभाव से जन-जीवन को मुक्त रखना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

(ii) **सम्पत्ति**—नागरिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत ही भारत के प्रत्येक नागरिक को सम्पत्ति खरीदने, सम्पत्ति बेचने तथा सम्पत्ति रखने का अधिकार दिया गया है। यह अधिकार मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति की रक्षा करता है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति कुछ सम्पत्ति (भूमि, मकान या मूल्यवान वस्तु) का स्वामी बनना चाहता है।

सम्पत्ति रखने के अधिकार के साथ ही यह व्यवस्था की गयी है कि यदि किसी व्यक्ति के कोई सम्पत्ति रखने से लोकहित को नुकसान पहुँचता हो तो सरकार इस अधिकार पर नियन्त्रण या रोक लगा सकती है। वास्तव में यदि एक व्यक्ति के अधिकार से अन्य व्यक्तियों के अधिकार का हनन होता हो तो इस प्रकार के अधिकार को मान्यता देना उचित नहीं है। इस दृष्टि से संविधान में सम्पत्ति सम्बन्धी जो अधिकार दिया गया है वह सर्वथा उचित एवं उपयुक्त है।

(iii) **व्यवसाय की स्वतन्त्रता**—इस वर्ग का तीसरा अधिकार भारत के प्रत्येक नागरिक को कोई व्यवसाय, व्यापार अथवा वाणिज्य करने की स्वतन्त्रता प्रदान करता है। इस अधिकार के अनुसार भारत का प्रत्येक नागरिक अपने लिए कोई भी पेशा या व्यवसाय चुनने के लिए स्वतन्त्र है, सरकार या अन्य कोई व्यक्ति उसे व्यवसाय चुनने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। सरकार किसी व्यक्ति पर कोई व्यवसाय चुनने पर रोक नहीं लगा सकती और उसमें बाधा नहीं डाल सकती।

इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग किये जाने का भय था अतः संविधान में यह व्यवस्था की गयी है कि यदि कोई कार्य, पेशा या व्यवसाय जनहित के विरुद्ध हो तो सरकार उस पर उचित नियन्त्रण लगा सकती है।

व्यवसाय की स्वतन्त्रता के बारे में संविधान में दो और बातों की व्यवस्था है जो निम्नलिखित हैं :

(क) योग्यता निर्धारण—सरकार कोई व्यवसाय करने के लिए कुछ योग्यता निर्धारित कर सकती है और वह योग्यता प्राप्त किये बिना उस व्यवसाय को करने की छूट नहीं दी जा सकती। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति बिना पढ़े-लिखे या डाक्टरी की परीक्षा पास किये बिना डाक्टरी का पेशा अपनाना चाहता है तो सरकार उसे ऐसा करने की अनुमति नहीं देगी क्योंकि गलत व्यक्ति को डाक्टरी का अधिकार देने से जनता का स्वास्थ्य खतरे में पड़ने का भय रहता है।

(ख) सरकार द्वारा व्यवसाय—यदि सरकार चाहे तो वह स्वयं कोई व्यवसाय कर सकती है और देश के अन्य नागरिकों को वह व्यवसाय करने की मनाही कर सकती है। उदाहरण रूप मे, भारत में हवाई जहाज बनाने तथा कुछ वस्तुओं का आयात-निर्यात करने का अधिकार भारत सरकार के अपने हाथ में है, निजी उद्योगपति तथा अन्य व्यापारी वह काम नही कर सकते।

वास्तव में, इस धारा से नागरिकों की व्यवसाय स्वतन्त्रता पर कुछ रोक लगती है किन्तु जनहित में बहुत से काम सरकार के अधिकार में रहना ही अच्छा है। हवाई जहाज, हथियार आदि बनाना सरकार के हाथ में रहना उचित है। भारत में अधिकतर बैंक सरकारी अधिकार में है जबकि कुछ बैंकों को निजी तौर पर काम करने की अनुमति है। बैंकों का देश के आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान हो सकता है, इसीलिए बड़े-बड़े बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया है।

इन तथ्यों से स्पष्ट है कि भारत के नागरिकों को व्यवसाय करने, सम्पत्ति रखने तथा अपने हितों की रक्षा के लिए व्यावसायिक संगठन बनाने की पर्याप्त छूट दी गई है।

(३) शोषण के विरुद्ध अधिकार (Right against Exploitation)

भारत मे समाजवाद लाने का प्रयत्न किया जा रहा है। समाजवाद में एक शोषण-विहीन समाज की स्थापना करने की कल्पना की जाती है। भारतीय संविधान में यह व्यवस्था की गयी है कि देश के किसी भी नागरिक का शोषण नहीं किया जा सकेगा। इस सम्बन्ध में मुख्य रूप मे दो व्यवस्थाएँ की गयी हैं :

(i) बेगार का अन्त—भारत में राजाओं तथा जागीरदारों द्वारा बेगार लेने की परम्परा रही है। बेगार का अर्थ है किसी व्यक्ति को बिना मजदूरी दिये काम लेना। इससे व्यक्ति का आर्थिक तथा मानसिक शोषण होता है। व्यक्ति का आत्म सम्मान बनाये रखने के लिए उसका शोषण समाप्त करना आवश्यक है। भारतीय संविधान में बेगार लेना या किसी व्यक्ति को कोई काम करने के लिए मजबूर करना दण्डनीय अपराध घोषित किया गया है।

इस व्यवस्था का एक अपवाद यह है कि लोकहित में सरकार द्वारा लोगों को काम करने के लिए बाध्य किया जा सकता है। यह व्यवस्था किसी भी दृष्टि से अनुचित नहीं कही जा सकती।

(ii) **बालकों से काम लेना**—भारतीय संविधान में बालकों के शोषण का भी अन्त करने का प्रयत्न किया गया है। इसमें यह व्यवस्था की गयी है कि किसी फैक्टरी या खान में १४ वर्ष से कम उम्र के बालक से काम नहीं लिया जायेगा।

उपरोक्त दोनों व्यवस्थाएँ शोषण की समाप्ति के लिये की गयी हैं।

(४) सम्पत्ति पर अधिकार (Right to Property)

भारतीय संविधान की सबसे विवादग्रस्त धारा ३१ रही है जिसमे भारतीय नागरिकों को सम्पत्ति रखने का अधिकार दिया गया है। समाजवाद के समर्थकों ने समय-समय पर इस धारा को समाप्त करने या इसमे संशोधन करने की माँग की है।

इस धारा में भारत के नागरिक को सम्पत्ति पर अधिकार रखने की छूट दी है। लोकहित में सरकार किसी व्यक्ति की सम्पत्ति अपने अधिकार में ले सकती है किन्तु उस सम्पत्ति के बदले में उचित क्षति-पूर्ति या मुआवजा देना आवश्यक है।

भारत में जब जागीरदारी तथा जमीदारी उन्मूलन किया गया तब अनेक राज्यों के जमींदारी उन्मूलन कानून संविधान की इस धारा के विरुद्ध घोषित किये गये। इसलिये इस धारा में संशोधन किये गये और भूमि सुधार को कानूनी बनाने की व्यवस्था की गयी। इसके अतिरिक्त राज्यों द्वारा पास किये गये जमीदारी उन्मूलन कानूनों को भी संवैधानिक सीमाओं के भीतर लाने के उपाय किये गये।

सम्पत्ति पर अधिकार देना मनुष्य की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति को मान्यता देना है किन्तु जब सम्पत्ति पर अधिकार से सामाजिक हित की हानि होती है तब व्यक्ति के अधिकार को सीमित करना बहुत आवश्यक होता है। इस दृष्टि से भारतीय संविधान की यह व्यवस्था सर्वथा उचित एवं स्वाभाविक है।

मौलिक अधिकारों की विशेषताएँ—समाजवाद के अनुकूल,

भारतीय संविधान नें जो मौलिक अधिकार देने की व्यवस्था की गयी है उनकी मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित मानी जा सकती हैं :

(१) इसमें प्रत्येक नागरिक को **समान अधिकार** दिया गया है जिससे नागरिक के गौरव में वृद्धि होती है और उसकी प्रतिष्ठा की रक्षा होती है।

(२) नागरिक को व्यवसाय करने तथा अपने हितों की रक्षा करने के लिए **स्वतन्त्रता** दी गयी है। इससे नागरिक के अधिकारों की रक्षा होती है और उसे न्याय मिलने की सम्भावना में वृद्धि होती है।

(३) नागरिक को शोषण से मुक्त रखने की व्यवस्था की गयी है क्योंकि उससे बेगार नहीं ली जा सकती और छोटे बच्चों को भी फैक्टरी के कठिन कार्य में नियोजित नहीं किया जा सकता।

(४) सम्पत्ति पर अधिकार देकर भी भारतीय संविधान द्वारा नागरिक की एक स्वाभाविक भावना का आदर किया गया है।

उपरोक्त सभी व्यवस्थाएँ समाजवाद के सिद्धान्तों के सर्वथा अनुकूल हैं।

निदेशक सिद्धान्त
[DIRECTIVE PRINCIPLES]

भारतीय संविधान द्वारा दिये गये मौलिक अधिकारों की विशेपता यह है कि देश का प्रत्येक नागरिक उन अधिकारों को कानूनी रूप में माँग सकता है और उसे उनका प्रयोग करने का वैधानिक अधिकार है। इन अधिकारों की अवहेलना होने पर न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप किया जा सकता है। किन्तु सरकार को नीति सम्बन्धी मार्गदर्शन देने के लिए संविधान में कुछ निदेशक सिद्धान्त घोषित किये गये हैं। यह सिद्धान्त **सरकार का केवल मार्ग-दर्शन करने के लिए हैं। इनके आधार पर कोई व्यक्ति सरकार पर दावा नहीं कर सकता।** सरकार इन निदेशक सिद्धान्तों पर चलने का प्रयत्न करती है। यह सिद्धान्त सरकार की दीर्घकालीन नीति के लिए निश्चित किये गये है।

विशेषताएँ

संक्षेप में, निदेशक सिद्धान्तों की निम्नलिखित विशेपताएँ हैं :

(१) यह केवल मार्ग-दर्शक है। इनके आधार पर सरकार पर दावा नहीं किया जा सकता।

(२) सरकार की आर्थिक तथा सामाजिक नीति इन सिद्धान्तों पर आधारित होनी चाहिए।

(३) यह सिद्धान्त भी समाजवादी दर्शन पर आधारित हैं।

आर्थिक सिद्धान्त

निदेशक सिद्धान्तों में अधिकांश ऐसे हैं जो भारत सरकार की आर्थिक नीतियों को प्रभावित करते हैं। इनमें मुख्य सिद्धान्तों का विवेचन आगे किया जा रहा है :

(१) **जीवन निर्वाह की पर्याप्त व्यवस्था**—भारत में लगभग आधी जन संख्या ऐसी है जिसे दोनों समय भर पेट भोजन नहीं मिलता। जिन लोगों को पर्याप्त भोजन मिल जाता है उनमें से भी अधिकतर को रूखा सूखा भोजन मिलता है जिसमें पौष्टिक तत्त्वों की कमी होती है। पहले निदेशक सिद्धान्त में यह माना गया है कि भारत के प्रत्येक नागरिक (पुरुष और स्त्री) को जीवन निर्वाह के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार है। इसका तात्पर्य यह है कि भारत के संविधान में यह स्वीकार किया गया है कि सरकार को ऐसी आर्थिक नीति अपनानी चाहिए जिसके द्वारा प्रत्येक नागरिक को उचित भोजन, कपड़ा, रहने का स्थान तथा सामान्य शिक्षा की सुविधाएँ प्राप्त करने में कठिनाई न हो।

(२) **भौतिक साधनों का उचित वितरण**—दूसरे निदेशक सिद्धान्त में यह कहा गया है कि देश के भौतिक साधनों (भूमि तथा अन्य उत्पादक सम्पत्ति) का सारे समाज में इस ढङ्ग से वितरण होना चाहिए कि जिससे सभी को लाभ हो।

इस सिद्धान्त में यह स्वीकार किया गया है कि उत्पादन के साधनों का स्वामित्व तथा नियन्त्रण इस ढंग से किया जाना चाहिए कि उनका फल समाज के सभी वर्गों को समान रूप से मिल सके। यह तभी सम्भव है जबकि उत्पादन के मुख्य साधनों पर सरकार द्वारा अधिकार कर लिया जाय क्योंकि निजी पूँजीपतियों के नियन्त्रण में रहने से उत्पादन के स्रोतों का लाभ कुछ व्यक्तियों को ही मिल सकता है और इन कुछ व्यक्तियों में भी सबको समान लाभ मिलने की सम्भावना नहीं है।

(३) **आर्थिक सत्ता का संकेंद्रण नहीं**—तीसरे निदेशक सिद्धान्त का सम्बन्ध बहुत कुछ दूसरे सिद्धान्त में कहा गया है कि देश के भौतिक साधनों का स्वामित्व तथा नियन्त्रण सम्पूर्ण समाज के हित में होना चाहिए। यदि ऐसा होता है तो आर्थिक साधन और सम्पत्ति सारे समाज में बंटती रहती है उसका कुछ व्यक्तियों के हाथों में संकेन्द्रण होना सम्भव ही नहीं है। तीसरा निदेशक सिद्धान्त सरकार से यह आशा करता है कि सरकार इस बारे में सजग रहेगी कि देश की आर्थिक सत्ता या उत्पादन के साधन इने गिने व्यक्तियों के हाथों में संकेन्द्रित न हो सकें।

आर्थिक सत्ता (धन तथा सम्पत्ति) थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में संकेन्द्रित होने से समाज में आर्थिक विषमता को बढ़ावा मिलता है, सामाजिक भेद-भाव में भी वृद्धि होती है और अंत में देश का राजनीतिक स्वरूप भी बिगड़ने लगता है। इस दृष्टि से आर्थिक सत्ता का संकेन्द्रण रोकना सही अर्थों में समाजवादी धारणा है और प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए आवश्यक है।

(४) **समान काम के लिए समान वेतन**—संविधान द्वारा निर्धारित चतुर्थ निदेशक सिद्धान्त में व्यवस्था की गयी है कि '**समान काम के लिए समान वेतन दिया जाना चाहिए।**' यह सिद्धान्त सामाजिक एवं आर्थिक समानता की धारणा को स्वीकार करता है और प्रत्येक व्यक्ति द्वारा किये गये श्रम को समान महत्त्व देता है। यह सिद्धान्त भी पूरी तरह समाजवाद की मान्यताओं पर आधारित है।

(५) **आर्थिक शोषण की मनाही**—इस सिद्धान्त में यह मत प्रकट किया गया है कि देश में ऐसे वातावरण का निर्माण किया जाना चाहिए जिसमें आर्थिक कठिनाइयों के कारण मजदूरों या अन्य व्यक्तियों को अपनी शक्ति अथवा योग्यता से अधिक या क्षमता से अधिक कठोर काम न करना पड़े। यह स्थिति तभी आ सकती है जबकि प्रत्येक सक्षम व्यक्ति को उचित रोजगार मिल जाये और प्रत्येक व्यक्ति को जीवन निर्वाह के लिए उचित वेतन देने की व्यवस्था की जा सके।

(६) **श्रमिकों के लिए निर्वाह मजदूरी**—संविधान में सरकार को यह आदेश दिया गया है कि वह कानून द्वारा या संगठन में परिवर्तन द्वारा ऐसी स्थिति का निर्माण करने की चेष्टा करेगी कि प्रत्येक व्यक्ति को पर्याप्त रोजगार मिलेगा और

जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त वेतन या मजदूरी दी जायेगी। यह सिद्धान्त बहुत कुछ संख्या (५) से मिलता जुलता है।

इस सिद्धान्त मे भारत के प्रत्येक नागरिक के लिए एक "सुन्दर" (decent) जीवन स्तर की कल्पना की गयी है। इस प्रकार का जीवन स्तर देने के लिए भारतीय ग्रामों में कुटीर उद्योग तथा सहकारी समितियों के विकास पर बल दिया गया है।

(७) **कृषि तथा पशुपालन की उन्नति**—भारतीय अर्थ-व्यवस्था में कृषि तथा पशु धन का विकास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। यदि किसान को नियमित रूप में अच्छी फसल मिल सके और उसके पशुओं की किस्म बहुत बढ़िया हो तो देश के ग्रामों का कायाकल्प होने में देर नहीं लगेगी।

इसी बात को आधार मानकर संविधान में यह व्यवस्था की गयी है कि सरकार कृषि की नवीनतम प्रणालियों को प्रोत्साहन देकर देश की कृषि को उन्नत करने के लिए विशेष प्रयत्न करेगी तथा दूध देने वाले तथा खेती में काम आने वाले अन्य पशुओं की नस्ल सुधारने के लिए अधिकतम प्रयत्न करेगी। इसके लिए दूध देने वाले पशुओं का वध करने की भी मनाही की गयी है।

(८) **काम करने का अधिकार तथा आर्थिक सहायता**—संविधान के एक निदेशक सिद्धान्त में सरकार से यह माँग की गयी है कि वह प्रत्येक नागरिक के 'काम करने के अधिकार' की व्यवस्था करेगी अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपयुक्त रोजगार का प्रबन्ध किया जायेगा।

इसके साथ ही यह व्यवस्था भी की गयी है कि बेरोजगार व्यक्तियों, वृद्धों, बीमारों तथा अपंगों को जीवन निर्वाह के लिए आर्थिक सहायता दी जायेगी। यह सिद्धान्त भी मनुष्य के आत्म गौरव तथा प्रतिष्ठा को उचित स्थान देता है।

क्या यह सिद्धान्त समाजवाद के अनुकूल हैं ?

भारतीय संविधान में जो निदेशक सिद्धान्त दिये गये है वह समाजवाद की धारणा के सर्वथा अनुकूल है। निम्नलिखित तथ्यों से यह बात स्पष्ट हो जायेगी :

(१) **समानता**—समाजवाद आर्थिक विषमता को दूर कर गरीब और अमीर के भेद को समाप्त करने की माँग करता है। भारतीय संविधान के निदेशक सिद्धान्तों में (i) उत्पादन के साधनों का उचित वितरण, (ii) आर्थिक सत्ता के संकेन्द्रण का अन्त, तथा (iii) समान काम के लिए समान वेतन का दृष्टिकोण रखा गया है। यह तीनों सिद्धान्त समाजवाद के समानता के आधार की पुष्टि करते है।

(२) **रोजगार**—समाजवादी व्यवस्था में कोई भी व्यक्ति बेरोजगार नहीं रह सकता। निदेशक सिद्धान्तों मे प्रत्येक नागरिक को रोजगार प्राप्त करने का अधिकार दिया गया है और सरकार को यह आदेश दिया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपयुक्त काम की व्यवस्था की जाय।

(३) **मजदूरी की दर**—समाजवादी व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को जीवन

निर्वाह के लिए पर्याप्त वेतन या मजदूरी दी जाती है। निदेशक सिद्धान्तों में नागरिक के दो अधिकारों को स्वीकार किया गया है :

(i) निर्वाह मजदूरी (ii) जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त साधन

इन दोनों सिद्धान्तों मे नागरिक के अच्छे जीवन स्तर के अधिकार को स्वीकार किया गया है और उसकी पूर्ति के लिए सरकार से आशा की गयी है। यह सर्वथा समाजवादी विचारधारा के अनुकूल है।

(४) **सामाजिक सुरक्षा**—समाजवाद मे प्रायः प्रत्येक नागरिक को जन्म से लेकर मृत्यु तक सुरक्षा की गारंटी दी जाती है। वहाँ वृद्धावस्था में पेंशन तथा बीमारी मे तथा अपग होने पर आर्थिक सहायता देने की व्यवस्था की जाती है। भारतीय संविधान में भी बेरोजगारी, बीमारी, बुढ़ापा तथा अपंग होने पर आर्थिक सहायता देने का सुझाव दिया गया है। अतः यह समाजवाद के अनुकूल है।

निदेशक सिद्धान्तों का पालन कहाँ तक हुआ है ?

यह सत्य है कि भारतीय संविधान में दिये गये निदेशक सिद्धान्त बहुत श्रेष्ठ हैं। वह समाजवाद की धारणा के भी सर्वथा अनुकूल हैं। किन्तु अच्छे सिद्धान्त बनाना एक बात है, उनका पालन करना दूसरी बात है। अच्छे से अच्छे सिद्धान्तों का जब तक पालन नहीं किया जाय तब तक वह व्यर्थ हैं। अतः सिद्धान्तों को श्रेष्ठ मान कर सन्तोष नहीं किया जा सकता। जब तक उन सिद्धान्तों का पालन नहीं किया जाता, जनता को कोई लाभ नहीं हो सकता। इसलिए यह देखना आवश्यक है कि निदेशक सिद्धान्तों का कहाँ तक पालन किया गया है।

यदि गम्भीरता से देखा जाय तो पता लगेगा कि भारतीय संविधान के निदेशक सिद्धान्त सरकार की अलमारी में बन्द पवित्र सिद्धान्त मात्र हैं, **उनका भारतीय जनता पर लेशमात्र भी प्रभाव नहीं है**। इसका अनुमान अलग-अलग सिद्धान्तों का विश्लेषण करने से हो सकता है।

(१) **जीवन निर्वाह**—पहले निदेशक सिद्धान्त में भारतीय नागरिकों को एक अच्छे जीवन स्तर के लिए साधन दिलवाने की बात कही गयी है। किन्तु आजादी के २५ वर्ष बाद आर्थिक नियोजन के २० वर्ष बाद भी भारतीय नागरिक का औसत जीवन स्तर बहुत नीचा है। भारत की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय केवल ४३ रुपये मासिक है जो निश्चय ही बहुत कम है। देश की कम से कम आधी जनता ऐसी है जो एक समय भूखी सो जाती है, देश के अधिकांश नागरिक ऐसे हैं जिन्हें पौष्टिक भोजन नहीं मिलता और लाखों व्यक्ति गर्मी, सर्दी, वर्षा सड़कों की पटरियों पर बिता देते हैं। इस स्थिति को किसी भी दृष्टि से सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता।

(२) **आर्थिक साधन और सत्ता**—भारतीय आजादी के बाद सरकार द्वारा जितनी समितियाँ और आयोग नियुक्त किये गये हैं उनमें से अधिकांश ने यह मत व्यक्त किया है कि भारत में आर्थिक साधन कुछ व्यक्तियों के ही अधिकार में हैं और आर्थिक सत्ता का संकेन्द्रण कम होने के स्थान पर निरन्तर बढ़ता ही गया है। इससे

सरकार की आर्थिक नीति और उसके पालन करने की क्षमता का दिवालियापन ही सिद्ध होता है।

यह एक दुखद सत्य है कि देश की जनता को समाजवाद के नारों से गुमराह करने का ही प्रयत्न किया गया है। यह एक मान्य तथ्य है कि सरकार द्वारा इने-गिने पूँजीपतियों को ही उद्योग स्थापित करने के लाइसेंस दिये गये हैं। इसी प्रकार सरकारी नीति काला धन जमा करने वालों को परोक्ष रूप में संरक्षण देती रही है।

आर्थिक सत्ता का संकेन्द्रण पूँजीपतियों तथा मन्त्रियों में अधिक हुआ है। दुर्भाग्य की बात है कि समाजवाद की निरन्तर घोषणा करने वाले मन्त्रियों के घर में व्याह शादियों पर लाखों रुपया पानी की तरह बहाया जाता है। क्या इतनी बड़ी रकमें मन्त्रियों के वेतन की कमाई से जमा की जा सकती हैं ?

तीसरी बात यह है कि भारत में खेती योग्य सारी भूमि अभी भी किसान को नहीं मिल सकी है। भूमि पर नेताओं तथा नौकरशाही का अधिकार बढ़ता जा रहा है। यह प्रवृत्ति भारतीय संविधान की धारणा के सर्वथा प्रतिकूल है।

(३) वेतन मान—भारत में आर्थिक नियोजन के बीस वर्षों में बहुत तेजी से मुद्रा स्फीति हुई है और मध्यवर्ग तथा नौकरी पेशा लोगों की आर्थिक स्थिति में निरन्तर गिरावट आयी है। देश के विभिन्न उद्योगों तथा व्यवसायों में काम करने वाले व्यक्तियों के वेतनों में बहुत अधिक विषमता है। यहाँ तक कि केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार, बैंकों आदि में एक सरीखा काम करने वाले व्यक्तियों को ही बहुत भिन्न वेतन मिलते हैं। इस स्थिति से समाज में बहुत असन्तोष उत्पन्न हुआ है और हड़तालों की संख्या में वृद्धि हुई है।

वेतन मान के सिलसिले में जीवन निर्वाह मजदूरी (Living wage) तो अभी बहुत दूर है, सब वर्गों के मजदूरों को अभी न्यूनतम मजदूरी भी मिलनी आरम्भ नहीं हुई है। मंहगाई के कारण सामान्य कर्मचारियों को वास्तविक मजदूरी (या वेतन) निरन्तर गिरती जाती है जिससे उन्हें बहुत कष्ट होता है।

(४) बेरोजगारी में वृद्धि—भारत की आर्थिक नीति में समाजवाद की धारणा के सबसे विपरीत जो काम हो रहा है वह बढ़ती हुई बेरोजगारी है। "काम करने का अधिकार" अनेक नवयुवकों के लिए सुनहला स्वप्न मात्र है। रोजगार देने वाले प्रायः सभी क्षेत्रों में जातिवाद, प्रदेशवाद, भाई भतीजा-वाद तथा भ्रष्टाचार व्याप्त है। इससे देश की युवा पीढ़ी के मानस में क्रान्ति और नक्सलवादी धारणाएँ जोर पकड़ती जा रही हैं जो देश के सुखद भविष्य के लिए बहुत बड़ा खतरा है।

उपरोक्त सभी तथ्यों से स्पष्ट है कि भारतीय संविधान के निदेशक सिद्धान्त बहुत ही अच्छे और समाजवादी होने पर भी उनका सही अर्थों में पालन नहीं किया गया है। वास्तव में भारत जैसे देश के लिए जहाँ गरीबी, अन्ध विश्वास और सामाजिक एवं धार्मिक रूढ़ियाँ प्रगति के रथ को सदा पीछे खींचती हैं, साधारण

उपचारों से काम चलने वाला नहीं है। इसके लिए अत्यन्त सशक्त एवं क्रान्तिकारी कदम उठाने होंगे जिसके लिए क्रान्तिकारी नेतृत्व की अत्यधिक आवश्यकता है।

अभ्यास प्रश्न

१. भारतीय संविधान की प्रस्तावना में वर्णित चार तत्त्वों के आर्थिक महत्त्व का विवेचन कीजिए।

२. भारतीय संविधान में नागरिकों को आर्थिक दृष्टि से कौन से मौलिक अधिकार दिये गये हैं? उनकी विशेषताएँ लिखिए।

३. भारतीय संविधान में वर्णित निदेशक सिद्धान्तों का आर्थिक पक्ष प्रस्तुत कीजिए। क्या यह सिद्धान्त समाजवाद के अनुकूल हैं?

४. भारतीय संविधान में वर्णित निदेशक सिद्धान्तों का सरकार द्वारा कहाँ तक पालन किया गया है? उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।

३

केन्द्र तथा राज्यों के वित्तीय सम्बन्ध

(CENTRE-STATE FINANCIAL RELATIONS)

भारत में संघीय वित्त व्यवस्था

संसार के कुछ देश ऐसे हैं जिसमें एकछत्र शासन है। इसका अर्थ यह है कि उन देशों में केवल केन्द्र में एक सरकार होती है और देश के सभी भागों की शासन व्यवस्था का पूरा उत्तरदायित्व इस पर होता है। इस प्रकार की शासन व्यवस्था **ऐकिक** (Unitary) कहलाती है। ऐसा शासन व्यवस्था में आर्थिक अथवा वित्तीय नीतियाँ एक केन्द्र में निर्धारित होती हैं और इन नीतियों का पालन करने में कोई कठिनाई नहीं होती। इंगलैंड में इसी प्रकार की शासन व्यवस्था है।

दूसरी प्रकार की शासन व्यवस्था **संघीय** (Federal) होती है जिसमें अनेक राज्य होते हैं। यह राज्य स्वतन्त्र इकाइयाँ होती हैं किन्तु इनकी **सुरक्षा** (Defence) तथा **मुद्रा** (Currency) आदि की व्यवस्था केन्द्र से होती है। यह राज्य आन्तरिक प्रशासन, व्यवस्था तथा आर्थिक विकास के अनेक मामलों में स्वतन्त्र नीति अपना सकते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका तथा भारत संघीय प्रणाली के उदाहरण है।

संघीय प्रणाली और वित्त

संघीय शासन प्रणाली में केन्द्र को अपना खर्च चलाने के लिए आय प्राप्त करनी होती है तथा राज्यों को अपनी योजनाएँ पूरी करने और शासन व्यवस्था ठीक रखने के लिए रकम की आवश्यकता होती है। दोनों में आपसी मतभेद से बचने के लिए प्रायः संविधान में यह स्पष्ट व्यवस्था कर दी जाती है कि केन्द्र द्वारा कौन से कर लगाये जा सकते हैं और राज्यों को आय प्राप्त करने के लिए कौन से कर लगाने का अधिकार है। दोनों ही शासन व्यवस्थाएँ संविधान के अनुसार अपनी सीमा में कर लगाती हैं और आमदनी प्राप्त करती हैं।

अनेक बार ऐसा होता है कि संविधान में ऐसी व्यवस्था की जाती है कि अमुक कर केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाये जायेंगे किन्तु इनमें राज्य सरकारों को

अमुक भाग मिल सकेगा। इस प्रकार **राज्य सरकारों को केन्द्र की कुल वसूली में से कुछ भाग मिलता है।**

संघीय शासन व्यवस्था की तीसरी विशेषता यह है कि अनेक बार कुछ विकास योजनाएँ केन्द्रीय सरकार द्वारा बनायी जाती हैं। इन योजनाओं का खर्च सम्पूर्ण रूप में या आंशिक रूप में केन्द्रीय सरकार वहन करती है। कभी-कभी राज्यों को अपने बजट में घाटा रहता है और केन्द्रीय सरकार उसे पूरा करने लिए अनुदान देती है इस प्रकार राज्यों तथा केन्द्र के वित्तीय सम्बन्धों की मुख्य बातें तीन हैं:

(१) **कर के निश्चित क्षेत्र**—केन्द्र तथा राज्य अपने लिए निर्धारित मदों या क्षेत्रों में ही कर लगा कर आय प्राप्त करते हैं।

(२) **करों में हिस्सा**—अनेक बार केन्द्र द्वारा वसूल किये गये कुछ करों में राज्य सरकारों का कुछ हिस्सा होता है। यह भाग संविधान द्वारा निर्धारित होता है या किसी आयोग की सिफारिशों के अनुसार निर्धारित किया जाता है।

(३) **अनुदान**—विकासशील अर्थ-व्यवस्था में केन्द्र द्वारा प्रायः राज्य सरकारों को वार्षिक अनुदान दिये जाते हैं जिनसे राज्य सरकारों को अपने वित्तीय घाटे की पूर्ति करने में सहायता मिलती है।

भारत में केन्द्र तथा राज्यों के वित्तीय सम्बन्ध—विशेषताएँ:

भारतीय संविधान की धारा २४५ से ३०० तक में यह व्यवस्था की गयी कि केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों में किस प्रकार के सम्बन्ध होंगे। वित्तीय सम्बन्धों का वर्णन २६४ से ३०० तक की धाराओं में किया गया है। इन सम्बन्धों की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

(१) कर (Taxes)

केन्द्र तथा राज्य सरकारों को विभिन्न मदों पर कर लगाने के अधिकार दिये गये हैं। यह अधिकार निम्नलिखित भागों में वर्गीकृत किये जा सकते हैं:

(क) कर जो केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाये जाते हैं किन्तु जिनकी वसूली राज्य सरकारें करती हैं तथा जिनसे प्राप्त आय भी राज्य सरकारों को ही मिलती है:

इस प्रकार के करों की व्यवस्था भारतीय संविधान की धारा २६८ में की गयी है। इस वर्ग में निम्नलिखित कर सम्मिलित हैं:

औषधियों या शृंगार प्रसाधनों पर ऐसे मुद्रांक कर (Stamp duty) तथा उत्पादन कर (Excise duty) जिनका वर्णन संघीय सूची में किया गया है। इन करों से प्राप्त पूरी रकम राज्य सरकारों को ही मिलती है।

(ख) कर जो केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाये जाते हैं और जिनकी वसूली भी केन्द्रीय सरकार ही करती है किन्तु जिनकी पूरी आय राज्य सरकारों को दे दी जाती है:

(i) कृषि भूमि के अतिरिक्त, उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति पर कर।

(ii) कृषि भूमि के अतिरिक्त सम्पदा कर।

(iii) रेल, समुद्र या हवाई मार्ग से ले जाये गये यात्रियों तथा माल पर लगाये गये सीमा कर (चुंगी आदि)।

(iv) रेल किराये तथा भाड़े पर कर।

(v) स्कन्ध विनिमयो (Stock Exchanges) मे किये गये सौदो तथा वायदे के सौदों पर कर (मुद्राक कर को छोडकर)।

(vi) समाचार पत्रो की खरीद तथा बिक्री पर कर तथा उनमे प्रकाशित विज्ञापनों पर कर।

(vii) समाचार पत्रो के अतिरिक्त अन्य वस्तुओ के एक राज्य से दूसरे राज्य में खरीद या बिक्री पर कर।

इन सब करो की दरे केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्धारित की जाती है किन्तु इनकी वसूली राज्य सरकारें करती है और अपने-अपने क्षेत्र मे की गयी वसूली उन राज्यों की ही आय होती है।

एक राज्य से दूसरे राज्य मे होने वाले आपसी व्यापार के बारे मे भारतीय लोक सभा को कानून बनाने का अधिकार दिया गया है।

(ग) कर जो केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाये जाते है, केन्द्रीय सरकार ही जिनकी वसूली करती है किन्तु जिनकी आय का वितरण केन्द्र तथा राज्यों में होता है :

भारतीय संविधान की धारा २७० मे उन करो का ब्यौरा दिया गया है जिनकी वसूली केन्द्रीय सरकार द्वारा की जाती है तथा जिनकी दरे भी केन्द्रीय सरकार ही निश्चित करती है किन्तु इन करो से प्राप्त रकम का बंटवारा केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकार दोनो मे होता है। यह बटवारा किस आधार पर होगा इसका निर्धारण करने के लिए हर पाँचवें वर्ष एक वित्त आयोग (Finance Commission) नियुक्त करने की व्यवस्था की गयी है, वित्त आयोग यह सुझाव देता है कि ऐसे करों से प्राप्त आय का बटवारा किस अनुपात से किया जाना चाहिए।

इस श्रेणी मे केवल आय कर सम्मिलित है। केन्द्र तथा राज्यो मे बटने वाला इस कर का अनुपात प्रायः बदलता रहा है।

केन्द्र के लिए अधिभार—भारतीय संविधान की धारा २६९ तथा २७० में जो व्यवस्थाएँ (ऊपर ख तथा ग के अनुसार) की गयी है उनके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार इन दोनो वर्गों मे लगाये गये करो पर अधिभार लगा सकती है या उसमे वृद्धि कर सकती है। इस अधिभार की पूरी आमदनी केन्द्रीय सरकार के प्रयोग के लिए काम में ली जा सकती है।

(घ) कर जो केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाये जाते है, केन्द्रीय सरकार द्वारा ही वसूल किये जाते है तथा जिनका वितरण केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों में किया जा सकता है :

इस वर्ग में केवल **संघीय आबकारी कर** (Union Excise Duty) सम्मिलित है। यदि केन्द्रीय सरकार चाहे तो इस कर का एक भाग राज्य सरकारों को दे सकती है। पिछले वर्षों में इस कर का एक भाग राज्यों को देने की परम्परा वन गयी है। अत: अब यह कर राज्यों की आय का एक नियमित भाग वन गया है।

वह कर जो केन्द्रीय सरकार लगा सकती है :

भारतीय संविधान की अनुसूची ७ में केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों के अधिकार क्षेत्रों का स्पष्टीकरण किया गया है। इसके अनुसार केन्द्रीय सरकार द्वारा निम्नलिखित कर लगाये जा सकते हैं :

(i) आय कर (कृषि से प्राप्त आय को छोड़कर)।

(ii) कस्टम या चुंगी (आयात तथा निर्यात पर)।

(iii) शराब, अफीम तथा कुछ अन्य नशे वाली औषधियों को छोड़कर तम्बाकू तथा अन्य वस्तुओं पर उत्पादन कर (Excise Duty)।

(iv) निगम कर (Corporation Tax)।

(v) व्यक्तियों तथा कम्पनियों की पूँजी पर कर।

(vi) कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्तियों पर सम्पदा कर।

(vii) जल तथा स्थल मार्ग (विशेषकर रेल मार्ग) द्वारा ढोये गये माल और यात्रियों पर कर और उनके किराये तथा भाड़े पर शुल्क।

(viii) वेचान साध्य विलेखों (Negotiable Instruments), साख पत्रों, बीमा पालिसियों, अंशों के हस्तान्तरण विलेखों तथा ऋण-पत्रों आदि पर लगाया गया मुद्रांक कर।

(ix) स्कन्ध विनिमय बाजार में किये गये सौदों तथा वायदे के सौदों पर मुद्रांक कर के अतिरिक्त लगाये गये कर।

(x) समाचार पत्रों के क्रय-विक्रय तथा उनमें छपे विज्ञापनों पर कर।

(xi) अन्तरराष्ट्रीय क्रय-विक्रय पर कर।

वह कर जो राज्य सरकारें लगा सकती हैं :

संविधान की अनुसूची, के अनुसार राज्य सरकारें जो कर लगा सकती हैं उनमें मुख्य निम्नलिखित हैं :

(i) भूमि पर लगान।

(ii) कृषि आय पर कर।

(iii) कृषि भूमि के उत्तराधिकार पर कर।

(iv) कृषि भूमि पर सम्पदा कर।

(v) भूमि तथा मकानों पर कर।

(vi) खनिजों पर कर।

(vii) राज्यों में वनाये गये नशीले पदार्थों पर कर।

(viii) विजली के उत्पादन और उपभोग पर कर।

(ix) माल की खरीद और बिक्री पर कर।
(x) समाचार पत्रों के अतिरिक्त विज्ञापनों पर कर।
(xi) अतिरिक्त जल तथा स्थल मार्गों से यात्रियों तथा माल पर कर।
(xii) विभिन्न प्रकार की गाड़ियों पर कर।
(xiii) पशुओं तथा नावों पर कर।
(xiv) व्यवसाय पर कर।
(xv) मनोरंजन, शर्त तथा जुये पर कर।
(xvi) मुद्रांक कर (Stamp Duty)।

(२) समेकित निधि (Consolidated Fund)

भारतीय संविधान में राज्यों तथा केन्द्रीय सरकार के बीच करों की आय के वितरण के अतिरिक्त दूसरी व्यवस्था समेकित निधि के बारे में की गयी है। इस व्यवस्था के अनुसार केन्द्रीय सरकार द्वारा करों से प्राप्त आय (जो संविधान के अनुसार केन्द्रीय सरकार के हिस्से की है) का सम्पूर्ण भाग एक समेकित निधि में डाल दिया जाता है। केन्द्रीय सरकार जो ऋण आदि प्राप्त करती है वह रकमें भी समेकित निधि में डाली जाती है सरकार के सब खर्च इस निधि में से ही चलाये जाते हैं।

केन्द्रीय समेकित निधि की भाँति ही प्रत्येक राज्य में भी एक समेकित निधि है। संविधान में व्यवस्था की गयी है कि राज्य सरकारों की आय तथा प्राप्त ऋणों की सब रकमें इस निधि में डाली जाती है।

केन्द्रीय समेकित निधि में से कोई भी रकम लोकसभा की अनुमति के बिना खर्च नहीं की जा सकती। इसी प्रकार राज्य समेकित निधि में से रकम खर्च करने के लिए विधान सभा की अनुमति आवश्यक है। यह अनुमति प्रति वर्ष बजट सूत्र में प्राप्त की जाती है। यदि सरकार को निर्धारित रकम से अधिक राशि खर्च होने की आशंका हो तो लोकसभा या विधान सभा में पूरक माँगें (Supplementary demands) पास करवानी पड़ती है।

(३) सहायता अनुदान (Grants-in-Aid)

भारतीय राज्यों में से अधिकांश की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है। योजनाओं के कारण प्रायः सभी राज्यों को बड़ी-बड़ी रकमें खर्च करनी पड़ती हैं। प्रजातन्त्र की सम्भवतः सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि जनता पर बहुत अधिक कर लगाना सम्भव नहीं है। अतः राज्य सरकारों के कर के साधन बहुत सीमित रह गये हैं।

इन कारणों से प्रायः सभी राज्यों को कुछ नियमित खर्च चलाने के लिए भी केन्द्र का मुँह ताकना पड़ता है। भारतीय संविधान की धारा २७५ के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गयी है कि महत्त्वपूर्ण योजनाओं की पूर्ति के लिए केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को अनुदान दे सकती है। यह अनुदान परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं के

अनुसार बदल सकते हैं। यह अनुदान पूँजीगत व्यय अथवा नियमित खर्च की पूर्ति के लिए हो सकते हैं और इनकी राशि आवश्यकतानुसार निर्धारित की जा सकती है।

विशेष अनुदान—भारतीय संविधान की धारा २७३ में असम, बिहार, उड़ीसा तथा पश्चिमी बंगाल की राज्य सरकारों को पटसन तथा पटसन के सामान के निर्यात पर लगाये गये निर्यात कर के बदले में सहायता देने की व्यवस्था की गयी थी। यह व्यवस्था पहले दस वर्ष (१९५१ से) के वास्ते की गयी थी अतः इसे समाप्त कर दिया गया है।

(४) ऋण (Borrowings)

भारतीय संविधान की धारा २९२ के अनुसार भारत सरकार को ऋण लेने की अनुमति दी गयी है। यह ऋण देश के नागरिकों अथवा विदेशों से लिए जा सकते हैं। इन ऋणों की सीमा भारतीय लोकसभा द्वारा निर्धारित की जाती है और सरकार इन सीमाओं के भीतर ही ऋण ले सकती है, अधिक नहीं।

भारत सरकार की भाँति ही राज्य सरकारों को भी ऋण लेने की अनुमति दी गयी है, संविधान की धारा २९३ में यह व्यवस्था की गयी है कि राज्य सरकारें अपने देश में ही ऋण ले सकती हैं (विदेशों में नहीं)। इन ऋणों की सीमा राज्यों की विधान सभा द्वारा निश्चित की जाती है तथा ऋण राज्य सरकार की गारन्टी पर ही लिए जाते हैं।

केन्द्र से ऋण—राज्य सरकारें जनता के अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार से भी ऋण ले सकती हैं। भारतीय संविधान केन्द्रीय सरकार द्वारा इस प्रकार के ऋण देने की अनुमति प्रदान करता है।

(५) **विविध** (Miscellaneous Relations) **सम्बन्ध**

केन्द्र तथा राज्य सरकारों में कुछ अन्य वित्तीय सम्बन्ध भी हैं जिन्हें विविध की श्रेणी में रखा जा सकता है। यह सम्बन्ध निम्नलिखित हैं :

(i) **कर मुक्ति**—राज्यों के क्षेत्र में स्थिति केन्द्रीय सरकार की सम्पत्ति पर राज्य, नगरपालिका अथवा पंचायत द्वारा कोई कर नहीं लगाया जा सकता।

(ii) **बिजली**—केन्द्रीय सरकार जितनी बिजली का उपभोग करती है उस पर राज्य सरकार द्वारा कोई कर वसूल नहीं किया जा सकता।

(iii) **घाटी योजनाएँ**—केन्द्रीय सरकार द्वारा किसी भी राज्य के क्षेत्र के अन्तर्गत नदी घाटी योजनाओं से उत्पन्न बिजली या पानी पर राज्य सरकार द्वारा कोई कर नहीं लगाया जा सकता।

(iv) **राज्य सरकार**—राज्य सरकारों की सम्पूर्ण सम्पत्ति तथा आमदनी पर केन्द्रीय सरकार कोई कर वसूल नहीं कर सकती।

इस प्रकार केन्द्रीय सरकार राज्य सरकार से तथा राज्य सरकारें केन्द्रीय सरकार से कर के रूप में कोई रकमें वसूल नहीं कर सकती। यह व्यवस्था सुविधा की दृष्टि से बहुत अच्छी है।

(६) वित्त आयोग (Finance Commissions)

भारतीय संविधान की धारा २८० में यह व्यवस्था की गयी है कि भारत के राष्ट्रपति द्वारा पाँचवें वर्ष एक वित्त आयोग की नियुक्ति की जायेगी। यह नियुक्ति पाँच वर्ष से पहले भी की जा सकती है। वित्त आयोग में एक अध्यक्ष तथा चार अन्य सदस्य हो सकते है कि जिनकी नियुक्ति भी राष्ट्रपति द्वारा की जाती है।

वित्त आयोग के सदस्यों की योग्यता तथा उनकी नियुक्ति की विधि भारतीय लोकसभा द्वारा निश्चित की जा सकती है किन्तु अब तक की परम्परा यह रही है कि वित्त आयोग में प्राय: राजनयिक, अर्थशास्त्री, प्रशासक तथा न्यायशास्त्रियों को सदस्य बनाया जाता रहा है।

कार्य: वित्त आयोग के निम्नलिखित कार्य निर्धारित किये गये है:

(१) **कर की रकम का विभाजन**—वित्त आयोग अपनी रिपोर्ट में यह सलाह देता है कि केन्द्र तथा राज्यों के बीच बाँटी जाने वाली करों की रकम कितनी होनी चाहिए तथा वह किस अनुपात में बाँटी जानी चाहिए।

(२) **अनुदान**—वित्त आयोग का दूसरा काम इस बारे में सलाह देना है कि केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्यों को सहायता अनुदान किन सिद्धान्तों के अनुसार दिये जाने चाहिए।

(३) **अन्य**—यदि राष्ट्रपति किसी अन्य वित्तीय समस्या के बारे में सलाह चाहे तो देश की श्रेष्ठ वित्तीय व्यवस्था के हित मे उचित सलाह देना।

वित्त आयोग को अपने काम की पूर्ति के बारे में व्यापक अधिकार होते हैं। वह विभिन्न क्षेत्रों की राय ले सकता है तथा राज्यों में प्रशासकों, अर्थशास्त्रियों तथा व्यवसायियों आदि से विचार-विमर्श करने के पश्चात् अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करता है।

वित्त आयोग की रिपोर्ट भारत के राष्ट्रपति को प्रस्तुत की जाती है और राष्ट्रपति उसे भारतीय संसद के सामने प्रस्तुत कर देते है। भारत सरकार प्राय: रिपोर्ट के साथ-साथ अपने विचार भी संसद के सामने रख देती है।

भारत में वित्त आयोग तथा उनकी सिफारिशें
[FINANCE COMMISSIONS AND THEIR RECOMMENDATIONS IN INDIA]

भारतीय संविधान की धारा २८० के अनुसार पहले वित्त आयोग की नियुक्ति संविधान लागू होने के दो वर्ष के भीतर होनी थी। अत: पहला वित्त आयोग १९५१ मे नियुक्त किया गया जिसके अध्यक्ष श्री क्षितीशचन्द्र नियोगी (K. C. Neyogi) थे। दूसरे वित्त आयोग की नियुक्ति १९५७ में हुई और श्री के० संथानम् उसके अध्यक्ष थे तथा तीसरा वित्त आयोग १९६१ में ए० के० चन्दा की अध्यक्षता में

नियुक्त किया गया। चौथा वित्त आयोग १९६४ में नियुक्त किया गया और इसकी अध्यक्षता न्यायमूर्ति पी० वी० राजमन्नार द्वारा की गयी। पाँचवाँ वित्त आयोग २९ फरवरी १९६८ को श्री महावीर त्यागी की अध्यक्षता में नियुक्त किया गया। इसकी नियुक्ति कुछ पहले की गयी ताकि १९६९ में आरम्भ होने वाली चौथी पंचवर्षीय योजना में इसके सुझावों को कार्यान्वित किया जा सके।

भारत के पाँचों वित्त आयोगों द्वारा विभिन्न पहलुओं पर सुझाव दिये गये हैं जिन्हें प्राय: भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया है। उन आयोगों द्वारा महत्त्वपूर्ण करों के वितरण के बारे में जो सिफारिशें की गयीं उनका ब्यौरा आगे दिया जा रहा है :

(१) आय कर का वितरण

भारत में आय कर की दरें प्रति वर्ष बजट में भारत सरकार द्वारा निर्धारित की जाती है। आय कर से जितनी रकम वसूल होती है उसका एक भाग राज्य सरकारों को दे दिया जाता है।

आय कर की रकम के वितरण के बारे में वित्त आयोग को तीन बातें निश्चित करनी होती हैं :

(i) केन्द्र शासित प्रदेशों को आय कर से प्राप्त शुद्ध आय का कौन सा भाग मिलना चाहिए।

(ii) राज्य सरकारों को आयकर की शुद्ध आमदनी में से कितना हिस्सा दिया जाना चाहिए।

(iii) राज्यों तथा केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों को दिये जाने वाले भाग के बाँटने का क्या आधार होना चाहिए।

आगे इन तीनों समस्याओं के सम्बन्ध में वित्त आयोगों के सुझाव पर प्रकाश डाला जा रहा है :

(१) **केन्द्र शासित प्रदेशों का भाग**—पहले वित्त आयोग द्वारा आय कर की शुद्ध आय में केन्द्र शासित प्रदेशों का भाग २·७५ प्रतिशत निश्चित किया था। इससे पहले भारत में A, B C श्रेणी के राज्य थे। C श्रेणी के राज्यों को आय कर की कुल प्राप्ति का १ प्रतिशत भाग दिया जाता था। प्रथम वित्त आयोग ने C श्रेणी के राज्यों को आय कर की शुद्ध आय का २·७५ प्रतिशत देने का सुझाव दिया। तीसरे आयोग ने इसकी राशि २·५० प्रतिशत करने की सिफारिश की तथा पाँचवें वित्त आयोग ने इस राशि को २·६० प्रतिशत कर देने का सुझाव दिया है जिसे भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार अब आय कर की कुल प्राप्ति का २·६० प्रतिशत भाग केन्द्र शासित प्रदेशों को दे दिया जाता है।

(२) **राज्यों का भाग**—प्रथम वित्त आयोग की नियुक्ति से पहले C श्रेणी के राज्यों को छोड़कर (जो केन्द्र प्रशासित थे) अन्य राज्यों को आयकर की शुद्ध आय का ५० प्रतिशत भाग दिया जाता था। प्रथम वित्त आयोग ने यह भाग ५५

प्रतिशत तथा दूसरे आयोग ने इसे ६० प्रतिशत करने का सुझाव दिया। तीसरे वित्त आयोग ने राज्यो का अंश ६६⅔ करने की सिफारिश की तथा चोथे आयोग ने यह भाग ७५ प्रतिशत कर देने का सुझाव दिया। पाँचवे वित्त आयोग ने भी राज्यों का हिस्सा ७५ प्रतिशत ही बनाये रखने की सिफारिश की। भारत सरकार ने सभी वित्त आयोगो की सिफारिशों को बिना कोई परिवर्तन किये स्वीकार किया है।

(३) **वितरण का आधार**--राज्यों को आय कर का अश वितरित करने में प्राय: दो अधार रहे है : पहला आधार **जन सख्या** और दूसरा आधार **कर वसूली की कुल रकम**। यह वात स्पष्ट है कि आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए राज्यो मे प्राय: वहुत कम रकम आय कर के रूप मे वसूल होती है जबकि महाराष्ट्र, बंगाल तथा तमिलनाडु जैसे राज्यो मे आय कर की अधिकाश रकम वसूल होती है। अत कर वसूली को आधार मानने पर आय कर की अधिकतर रकम वापस उन्ही राज्यों को मिल जाती जो पहले ही काफी सम्पन्न और उन्नत है। अत. सभी वित्त आयोगो ने आय कर का अश बाँटने मे जन संख्या को अधिक और कर वसूली की रकम को कम महत्त्व दिया है।

पहले वित्त आयोग ने आय कर की बाँटी जाने वाली रकम का ८० प्रतिशत भाग जन संख्या के आधार पर तथा २० प्रतिशत कर वसूली के आधार पर बाँटने का सुझाव दिया था। दूसरे आयोग ने ९० प्रतिशत रकम जन सख्या के आधार पर बाँटने की सिफारिश की किन्तु तीसरे तथा चौथे आयोगो ने ८० प्रतिशत रकम को जन सख्या के आधार पर बाँटने का सुझाव दिया है। पाँचवे वित्त आयोग ने दूसरे वित्त आयोग के मत से सहमति प्रकट की है और बाँटी जाने वाली रकम का ९० प्रतिशत भाग जन सख्या के आधार पर तथा १० प्रतिशत भाग कर वसूली के आधार पर बाँटने का सुझाव दिया है।

इस प्रकार सभी वित्त आयोगो ने जन संख्या को अधिक महत्त्व दिया है ताकि कम विकसित राज्यो को पर्याप्त सहायता मिल सके। इस दृष्टि से पाँचवे वित्त आयोग की सिफारिश समाजवादी धारणाओ के अधिक अनुकूल है।

(२) संघीय आवकारी कर (Union Excise Duty)

भारतीय सविधान मे आय कर का एक भाग तो राज्य सरकारो को देना अनिवार्य है किन्तु धारा २७२ मे यह व्यवस्था की गयी है कि यदि सरकार चाहे तो संसद द्वारा कानून पास करवा कर केन्द्रीय उत्पादन कर का कुछ भाग भी राज्य सरकारों को बाँटा जा सकता है। अत: केन्द्रीय आवकारी कर की आय मे से कोई भाग राज्यों को बाँटना अनिवार्य नही है।

भारतीय संविधान मे उत्पादन कर का एक भाग राज्यों में बाँटना अनिवार्य नही है। प्रथम वित्त आयोग की नियुक्ति से पहले भारत सरकार द्वारा इस मद की आय में से राज्यों को कोई रकम नही दी जाती थी। पहले वित्त आयोग ने तम्बाकू (सिग्रेट तथा सिगार सहित), दियासलाई तथा वनस्पति पदार्थों पर लगाये गये उत्पादन

कर का ४० प्रतिशत भाग राज्यों में वितरित करने का सुझाव दिया। यह वितरण राज्यों की जन संख्या के आधार पर करने की सिफारिश की गयी। दूसरे वित्त आयोग ने भी जन संख्या के आधार पर वितरण को उचित ठहराया।

तीसरे वित्त आयोग ने ३५ वस्तुओं पर लगाये गये उत्पादन कर का २० प्रतिशत भाग राज्यों मे बाँटने का सुझाव दिया। इस आयोग ने जन संख्या के अतिरिक्त विभिन्न राज्यों के आर्थिक विकास या आर्थिक दुर्बलता को भी महत्त्व दिया है और सब बातों को ध्यान मे रखकर विभिन्न राज्यों में वितरण की प्रतिशतें निश्चित कर दीं।

चौथे वित्त आयोग ने भी संघीय उत्पादन कर का २० प्रतिशत भाग राज्यों को देने का सुझाव दिया। इस आयोग ने वितरण का ८० प्रतिशत आधार जन संख्या और २० प्रतिशत आर्थिक पिछड़ापन बतलाया। आयोग ने इसी आधार पर अलग-अलग राज्यों को दिये जाने वाले भाग का अनुमान लगा कर प्रतिशत निर्धारित कर दी। पाँचवें वित्त आयोग ने भी इसी आधार को स्वीकार किया है।

करों में से राज्यों को स्थानान्तरित रकम

ऊपर दिये गये विवरण से स्पष्ट है कि केन्द्रीय सरकार द्वारा आय कर तथा संघीय उत्पादन कर की आय में से नियमित रूप में कुछ रकम राज्यों को स्थानान्तरित की जाती रही है। इस रकम की राशि में नियमित रूप में वृद्धि हुई है जिसका अनुमान निम्नलिखित तथ्यों से लगता है :

केन्द्र से राज्यों को कर-भाग स्थानान्तरण

(करोड़ रुपयों में)

	कुल रकम	वार्षिक आय
प्रथम योजना काल	३५३	७०
द्वितीय योजना काल	७१०	१४२
तृतीय योजना काल	११९६	२३९
१९६६-६७ से १९६८-६९	१२७९	४२६
१९६९-७० से १९७१-७२	२२२७	७४२

इस तालिका से स्पष्ट है कि राज्यों को केन्द्र से करों के अंश से मिलने वाली रकम में निरन्तर वृद्धि हो रही है। इस वृद्धि के दो कारण हैं :

(i) अधिक आय—पहला कारण यह है कि करों की रकम में निरन्तर वृद्धि हो रही है क्योंकि सरकार द्वारा करों की दर में नियमित वृद्धि की जा रही है। प्रायः सभी वस्तुओं पर उत्पादन कर में वृद्धि हुई है तथा आय कर की दरें भी बढ़ती ही गयीं है। इस बढ़ती हुई आय में से स्वाभाविक रूप में राज्यों का हिस्सा भी बढ़ा है।

(ii) बढ़ता हुआ भाग—प्रत्येक वित्त आयोग ने राज्यों का हिस्सा भी बढ़ाने की सिफारिश की है। पहले वित्त आयोग से पहले राज्यों को आय कर की कुल

आय में से केवल ५० प्रतिशत भाग मिलता है जो बढ़कर अब ७५ प्रतिशत हो गया है। इससे भी राज्यों को पहले से अधिक रकम मिलती रही है।

अनुदान (Grants-in-aid)

वित्त आयोगों द्वारा राज्यों को दिये जाने वाले अनुदानों के बारे में भी सिफारिश करनी होती है। यह अनुदान प्रायः योजनाओं के घाटे को पूरा करने के वास्ते दिये जाते है या कुछ विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए देने की व्यवस्था की जाती है। वित्त आयोग प्राय: आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए राज्यों को अधिक अनुदान देने का सुझाव देते रहे हैं।

पाँचवें वित्त आयोग ने चौथी पंचवर्षीय योजना काल में राज्यों को कुल ६३८ करोड़ रुपये के अनुदान देने का सुझाव दिया है जिसमे से सबसे अधिक रकम उड़ीसा तथा असम जैसे बहुत पिछड़े राज्यों को तथा शेष रकम सात राज्यों को देने की सिफारिश की गयी है।

योजना काल में (१९५१-५२ से १९७१-७२) भारत सरकार द्वारा राज्यों को कुल ५४६० करोड़ रुपये की रकम अनुदान मे दी गयी है—ऐसा अनुमान लगाया गया है। इस प्रकार अनुदान का वार्षिक औसत लगभग २४३ करोड़ रुपया है। पिछले तीन वर्षों मे अनुदान की वार्षिक औसत ६०० करोड़ रुपये से अधिक रही है अतः स्पष्ट है कि राज्यों की केन्द्रीय सरकार पर निर्भरता निरन्तर बढ़ती जा रही है। यह स्थिति निश्चय ही संतोषजनक नहीं कही जा सकती।

ऋण (Loans)

राज्यों की दुर्बल आर्थिक स्थिति का अनुमान इस बात से भी लगता है कि योजना काल में राज्य सरकारें केन्द्र से नियमित ऋण लेती रही है और इस ऋण की वार्षिक रकम में तेजी से वृद्धि हो रही है। प्रथम योजना काल में राज्य सरकारों द्वारा केन्द्रीय सरकार से लिए गये ऋणों की रकम लगभग ६३८ करोड़ रुपये थी जो द्वितीय योजना काल में १०३८ करोड़ रुपये हो गयी। तृतीय योजना काल में केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्यों को लगभग २१५१ करोड़ रुपये के ऋण दिये गये। पिछले तीन वर्षों में (१९६९-७० से १९७१-७२) भी केन्द्र द्वारा राज्यों को १००० करोड़ से अधिक रकम के ऋण दिये जाने का अनुमान है इस प्रकार राज्यों की आर्थिक दुर्बलता के कारण उन पर ऋण भार भी बढ़ता चला जा रहा है।

कमियाँ और सुझाव

केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के वित्तीय सम्बन्धों की गहराई से अध्ययन करने से निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती है जिन्हें रोकना बहुत आवश्यक है :

(१) **राज्यों की बढ़ती हुई निर्भरता**— ऊपर दिये गये अंकों से स्पष्ट है कि भारत के राज्यों की केन्द्र पर निर्भरता निरन्तर बढ़ रही है। इसका प्रमाण यह है कि एक ओर तो राज्य केन्द्र से अधिक अनुदान ले रहे हैं, दूसरे वह केन्द्र से अधिक रकमें उधार भी प्राप्त कर रहे हैं, इससे राज्यों पर ऋण भार भी निरन्तर बढ़ता

चला जा रहा है। इस स्थिति में सुधार करने के लिए राज्यों को अपने व्यय में कमी करने का प्रयत्न करना चाहिए तथा करों की आय में वृद्धि करने की चेष्टा करनी चाहिए।

यदि राज्य अपनी कर वसूल करने की प्रक्रिया में सुधार करलें तो भी उनकी आय में वृद्धि हो सकती है।

(२) नीति में सहयोग—पिछले कुछ वर्षों में केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों की नीतियों में मतभेद उत्पन्न हो गये हैं। यदि आर्थिक नीतियों का निर्माण पारस्परिक विचार विमर्श के द्वारा किया जाय तो आपसी लेन-देन की समस्याओं का समाधान सरलता से हो सकता है और ऋण तथा ब्याज के भुगतान की कठिनाई दूर हो सकती है।

(३) समाजवादी समाज—भारत में "गरीबी हटाओ" का जो नया नारा लगाया गया है वह समाजवाद लाने की इच्छा का प्रतीक है किन्तु इसमें सफलता प्राप्त करने के लिए देश की कर नीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने होंगे। यह परिवर्तन केन्द्र तथा राज्य दोनों स्तरों पर होंगे। एक ओर तो भारत के मन्त्रियों तथा बड़े-बड़े अधिकारियों को अपने राजसी ठाठ में कुछ कमी करनी होगी, दूसरी ओर समाज के पिछड़े वर्ग की आय में कुछ वृद्धि करना आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जबकि देश का पूरा कर सम्बन्धी ढाँचा बदला जाय, राज्यों को अपने पैरों पर खड़ा होने के लिए बाध्य किया जाय तथा प्रशासन के प्रत्येक स्तर पर खर्च में कमी की जाय। यह तभी सम्भव है जबकि समाजवाद का उद्घोष करने वाले शासक अपने बुर्जुवा तथा नौकरशाही तरीकों का त्याग कर सही अर्थों में देश की सेवा का व्रत लें। यह कठिन तो है किन्तु असम्भव नहीं है।

अभ्यास प्रश्न

१. भारतीय संविधान में कर लगाने के सम्बन्ध में केन्द्र तथा राज्यों के लिए जो व्यवस्था की गयी है उसका विवेचन कीजिए।

२. वित्त आयोगों पर एक निबन्ध लिखिए तथा उनकी मुख्य सिफारिशों पर प्रकाश डालिए।

३. भारत में केन्द्र तथा राज्यों में कौन से करों का विभाजन होता है। इस विभाजन के आधार की विवेचना कीजिए।

४. "भारतीय राज्यों की केन्द्र पर निर्भरता बढ़ती जा रही है" इस कथन की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

४ भारत में वित्तीय प्रशासन

(FINANCIAL ADMINISTRATION IN INDIA)

एक पुरानी कहावत के अनुसार संसार में अधिकांश विवाद ''ज़र, **जमीन और ज़न'** अर्थात् धन, धरती और स्त्री के कारण उत्पन्न होते हैं। वास्तव में, यह तीनों ही तत्त्व मानव के सामाजिक जीवन के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग हैं। इनमें जर अर्थात् वित्त सबसे अधिक चलनशील और आकर्षक होता है क्योंकि वित्त के द्वारा संसार की अधिकतर श्रेष्ठ वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती हैं। वित्त का महत्त्व आधुनिक शासन व्यवस्था के लिए विशेष है क्योंकि आधुनिक प्रशासन का व्यय भार निरन्तर बढ़ रहा है जिसकी पूर्ति जनता द्वारा दिये गये करों से होती है। सरकार का स्वरूप प्रजातान्त्रिक होने के कारण उसे जनता की गाढ़े पसीने की कमाई का दुरुपयोग करने का अधिकार नहीं दिया जा सकता है। अत: करों से प्राप्त आय पर्याप्त तो होनी ही चाहिए, परन्तु इसका उपयोग भी जनहित में किया जाना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सम्पूर्ण सरकारी आय, व्यय तथा ऋणों का समुचित लेखा-जोखा तथा सम्पूर्ण रकम के श्रेष्ठतम उपयोग पर यथोचित नियन्त्रण होना आवश्यक है।

वित्तीय प्रशासन का अर्थ—जिस प्रकार देश की सुरक्षा एवं शान्ति के लिए नागरिक प्रशासन (सेना, पुलिस तथा अनेक प्रशासनिक विभागों) की व्यवस्था करनी आवश्यक होती है उसी प्रकार देश के आर्थिक साधनों की यथोचित देख-रेख करना भी आवश्यक होता है। यही वित्तीय प्रशासन है। यदि सामान्य दृष्टि से देखा जाय तो किसी देश, संस्था अथवा व्यक्ति की आय, व्यय तथा ऋणों का सामान्य प्रबन्ध ही वित्तीय प्रशासन कहलाता है।

क्षेत्र—वित्तीय प्रशासन का क्षेत्र स्वभावत: किसी राज्य अथवा संस्था का सम्पूर्ण लेन-देन होता है। इसमें मुख्यतया निम्नलिखित क्रियाएँ सम्मिलित की जा सकती हैं:

(१) आय की प्राप्ति,
(२) आय तथा व्यय का यथोचित समन्वय,
(३) लोक ऋण की व्यवस्था, तथा
(४) वित्तीय क्रियाओं का सामान्य नियन्त्रण।

आधुनिक प्रशासन व्यवस्था में इन चारों क्रियाओं का उचित प्रवन्ध करना आवश्यक होता है। इन क्रियाओं की उचित व्यवस्था के लिए विशेष विभाग स्थापित किये जाते हैं जिनमें इनका लेखा-जोखा रखने तथा पूरी व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए अधिकारी एवं अन्य कर्मचारी नियुक्त किये जाते हैं। वास्तव में, आय प्राप्ति की योजना वनाने से लेकर उसके खर्च करने तक की क्रियाओं की पर्याप्त व्यवस्था ही वित्तीय प्रशासन का क्षेत्र है।

वित्तीय प्रशासन के सिद्धान्त (Canons of Financial Administration)—सामान्य रूप में वित्तीय प्रशासन की कुशलता अधिकारियों की व्यक्तिगत सूझ-बूझ, योग्यता तथा तत्परता पर निर्भर करती है अत: उसके लिए कोई निश्चित सिद्धान्त निर्धारित करना विशेप महत्त्वपूर्ण नहीं है। परन्तु वित्तीय प्रशासन अधिकारियों के मार्ग दर्शन के लिए सामान्य अनुभव द्वारा कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये है जिनके पालन से आय का संयोजन कुशलतापूर्वक किया जा सकता है। उक्त सिद्धान्त निम्नलिखित है :

(१) **संगठन की एकता** (Canon of Unity of Organisation)—इस सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि वित्तीय प्रशासन केन्द्रित होना चाहिए तथा कार्य विशेप के लिए निश्चित व्यक्ति अपने-अपने कार्य की कुशलता के लिए उत्तरदायी होने चाहिएं। इसका तात्पर्य यह है कि दायित्व विकेन्द्रित होते हैं परन्तु सत्ता एक जगह केन्द्रित होती है जहाँ सभी वित्तीय निर्णय तथा नीतियाँ निर्धारित की जाती हैं।

(२) **विधान सभा की इच्छानुसार संचालन** (Canon of Compliance with the will of the Legislature)—इसका तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण आय, व्यय और ऋण की व्यवस्था जनता द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों के आदेशानुसार ही होनी चाहिए। विधान सभा के निर्णयानुसार आय, व्यय और ऋण की व्यवस्था प्रजातान्त्रिक दृष्टिकोण के सर्वथा उचित एवं युक्तिसंगत है। आधुनिक समय में वजट वनाकर उसे विधान सभा से अनुमोदित करवाना इसी सिद्धान्त की पूर्ति का परिचायक है।

(३) **सरलता एवं नियमितता** (Canon of Simplicity and Regularity)—किसी भी देश की प्रशासन प्रणाली सरल होनी चाहिए ताकि वह न केवल प्रशासकों के लिए आरामदायक हो वल्कि सामान्य जनता के भी आसानी से समझ में आ सके। इसके अतिरिक्त आय तथा व्यय की क्रिया सम्पूर्ण वर्ष में नियमित रूप से वँटी हो तो प्रशासन के लिए सुविधा रहती है। इससे न तो आकस्मिक ऋण

लेने की आवश्यकता होती है, न ही अपव्यय होने का भय रहता है। नियमितता के लिए प्रशासनिक कुशलता अत्यन्त आवश्यक है।

(४) **प्रभावशाली नियन्त्रण** (Canon of Effective Control)—वित्तीय प्रशासन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि वह पर्याप्त लचकदार होना चाहिए अर्थात् उसमे अनावश्यक वन्धन नही होने चाहिएं। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सरकारी धन खर्च करने मे किसी नियम का पालन ही न हो। यदि ऐसा हुआ तो सरकारी रकम का दुरुपयोग होने की बहुत आशंका रहेगी। अतः रकम के खर्च पर कुशल एवं प्रभावपूर्ण नियन्त्रण होना आवश्यक है। यह नियन्त्रण विधान सभा, या लोक सभा, अकेक्षण अधिकारियो तथा लोक-लेखा समितियो का हो सकता है।

आय व्ययक या वजट (Budget)—वजट एक ऐसा व्यौरा होता है जिसमें आगामी वर्ष के आय और व्यय के अनुमान प्रस्तुत किये जाते है। इन अनुमानों के साथ प्रायः पिछले वर्ष के वजट तथा संशोधित अनुमान और उससे भी पूर्व की वास्तविक आय और व्यय सम्वन्धी अंक दिये जाते है। उदाहरणस्वरूप, १९७०-७१ के बजट में १९६८-६९ की आय और व्यय के वास्तविक अंक तथा १९६९-७० की आय और व्यय के वजट तथा संशोधित अनुमान प्रस्तुत किये जाते है। इस दृष्टि से वजट प्राय. तीन वर्षो के तुलनात्मक अको का ब्यौरा होता है।

आगम तथा पूँजीगत वजट (Revenue and Capital Budget)—वजट को प्रायः दो भागों मे प्रस्तुत किया जाता है। पहले भाग मे आगम (Revenue) वजट होता है जिसमे करो से प्राप्त कुल आय अथवा सामान्य व्यवसाय के अन्तर्गत प्राप्त आय तथा सामान्य कार्यो की पूर्ति के हेतु किये गये व्यय सम्मिलित होते है। सरकार द्वारा व्यावसायिक कार्यो मे जो पूँजी विनियोजित की जाती है अथवा ऋण दिये जाते है तथा जो ऋण आदि प्राप्त किये जाते है वह पूँजीगत वजट मे दिखलाये जाते है।

वजट की प्रक्रिया—(१) **तैयारी**—केन्द्र तथा राज्य सरकार के वित्त मन्त्रालय मे एक वजट विभाग होता है जो विभिन्न मन्त्रालयो के अाधीन विभागों की आय तथा व्यय सम्वन्धी आँकड़े संग्रह करता रहता है। आगामी वर्ष के लिए विभिन्न मन्त्रालयो द्वारा जो योजनाएँ स्वीकृति की जाती है उनका सम्पूर्ण व्यौरा भी वजट विभाग एकत्रित करता है और आगामी वर्ष के अनुमान तैयार करता है। इस प्रकार वजट विभाग द्वारा गत दो वर्षो के वास्तविक अथवा संशोधित अंक तथा आगामी वर्ष के अनुमानित आय-व्यय के अंक तैयार कर लिए जाते हैं, यही वजट है।

(२) **कर आदि के प्रस्ताव**—इधर वजट विभाग वजट तैयार करता रहता है, उधर वित्त मन्त्री व्यापार, उद्योग तथा विविध व्यवसायों के प्रतिनिधियों से वार्ता द्वारा तथा देश की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था की गति ध्यान में रखकर यह निर्णय कर लेता है कि अमुक क्षेत्रो मे करो से छूट देनी है तथा अमुक-अमुक क्षेत्रो मे करों में

वृद्धि करनी है। इन निर्णयों की पुष्टि बजट विभाग द्वारा तैयार किये आँकड़ों के आधार पर कर ली जाती है।

(३) **प्रस्तुतीकरण**—बजट से सम्बन्धित सभी बातों पर विचार करने के पश्चात् निश्चित तिथि प्रायः फरवरी के अन्तिम दिन बजट लोक सभा में प्रस्तुत किया जाता है। बजट प्रस्तुत करने से पूर्व वित्त मन्त्री द्वारा देश का आर्थिक सर्वेक्षण (Economic Survery) प्रस्तुत किया जाता है जिसमें देश की आर्थिक स्थिति का विस्तृत व्यौरा होता है तथा भविष्य की सम्भावनाओं का अनुमान होता है। वास्तव में यह सर्वेक्षण ही बजट की पृष्ठभूमि का कार्य करता है।

(४) **विवाद**—वित्त मन्त्री द्वारा बजट लोक सभा या विधान सभा में प्रस्तुत करने के पश्चात् उस पर विवाद आरम्भ होता है। वित्त मन्त्री द्वारा रखे गये कर प्रस्तावों की आलोचना प्रत्यालोचना होती है और अन्त में वित्त मन्त्री द्वारा सभी आलोचनाओं के उत्तर दिये जाते हैं। कभी-कभी वित्त मन्त्री कुछ करों में कमी या सुधार के प्रस्ताव स्वीकार कर लेते हैं।

बजट की माँगों पर विचार प्रायः अलग-अलग विभागानुसार होता है और प्रत्येक विभाग से सम्बन्धित मन्त्री उन माँगों के औचित्य के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करते हैं। कभी-कभी विपक्षी सदस्यों द्वारा किसी माँग पर कटौती प्रस्तुत कर दी जाती है। यदि कटौती का प्रस्ताव बहुमत से पास हो जाय तो इसे मन्त्रिमण्डल पर अविश्वास की संज्ञा दी जाती है और मन्त्रिमण्डल को त्यागपत्र देना पड़ता है।

(५) **स्वीकृति**—बजट की स्वीकृति के पश्चात् इस पर राष्ट्रपति या राज्यपाल के हस्ताक्षर हो जाते हैं और यह अधिकृत मान लिया जाता है। इसकी प्रतियाँ सब विभागों को भेज दी जाती हैं और सब विभाग इसको आधार मानकर कार्य करते हैं।

(६) **पूरक बजट**—कभी-कभी सरकार के कुछ विभागों का बजट में स्वीकृत रकम से काम नहीं चलता। ऐसी स्थिति में पूरक बजट प्रस्तुत किया जाता है और अतिरिक्त माँगों की लोक सभा या विधान सभा से स्वीकृति ले ली जाती है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि लोक सभा या विधान सभा की स्वीकृति बिना सरकार का कोई विभाग कोई रकम खर्च नहीं कर सकता।

(७) **अंकेक्षण**—सरकारी रकमों की प्राप्ति तथा व्यय एवं ऋण आदि के सम्बन्ध में निश्चित नियम तथा परम्पराएँ बनी हैं जिनका पालन करना आवश्यक है। इसकी देख-रेख का दायित्व महा लेखापाल (Auditor and Comptroller General of India) पर है जिनके द्वारा सरकार के सब विभागों के आय-व्यय का नियमित अंकेक्षण करवाया जाता है। आय प्राप्ति, व्यय तथा ऋण आदि से सम्बन्धित सभी अनियमितताओं की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया जाता है। महा लेखापाल की रिपोर्ट भारतीय संसद या विधान सभा में प्रस्तुत की जाती है जिसमें वर्णित अनियमितताओं का सरकारी अधिकारियों या मन्त्रियों

द्वारा जवाब दिया जाता है। इस प्रकार अंकेक्षण द्वारा सरकारी धन के उचित प्रयोग का ध्यान रखा जाता है। अंकेक्षण रिपोर्ट भविष्य में होने वाली अनियमितताओं को रोकने में सहायक होती है।

(८) **लोक लेखा समिति (Public Accounts Committee)**—भारतीय संसद तथा राज्य विधान सभाएँ सरकारी आय-व्यय की उच्चस्तरीय जाँच के लिए लोक लेखा समिति की नियुक्ति करती है। इस समिति में प्रायः सभी दलों के सदस्य होते हैं और अनेक वार विरोधी पक्ष का कोई महत्त्वपूर्ण विधायक इस समिति का अध्यक्ष नियुक्त किया जाता है। यह समिति सरकार के सभी विभागों में व्यय की नियमितता सम्बन्धी जाँच करती है तथा अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करती है जिसके आधार पर सरकारी विभागो की भविष्य की वित्तीय नीतियाँ निर्धारित होती है।

नियमित कार्य संचालन—देश अथवा किसी राज्य की वित्तीय क्रियाओं का संचालन वित्त सचिवालय के अधीन होता है। वित्त सचिवालय के प्रायः कई भाग, विभाग होते हैं .

(१) **बजट विभाग**—जो वजट सम्बन्धी अंक संग्रह कर उसे अन्तिम रूप में तैयार करता है।

(२) **व्यावसायिक विभाग**—राज्य के व्यावसायिक प्रतिष्ठानों के लेन-देन का सम्पूर्ण व्यौरा रखता है तथा उससे सम्बन्धित रिपोर्ट तैयार करता है।

भारत सरकार ने सन् १९६७ से लोक उद्यम संस्थान (Bureau of Public Enterprises) की अलग से स्थापना कर दी है।

(३) **अर्थोपाय विभाग (Ways and Means Section)**–इसके द्वारा सरकार जितने ऋण लेती है, उनकी योजना वनायी जाती है तथा उनके सम्पूर्ण लेन-देन का व्यौरा रखा जाता है।

सरकार को कर वसूली से अधिकांश आय वर्ष के अन्तिम चार पाँच महीनों में प्राप्त होती है अतः नियमित कार्य संचालन के लिए उसे समय-समय पर आकस्मिक ऋण लेने पड़ते है। यह ऋण रिजर्व वैंक से लिए जाते है अथवा रिजर्व वैंक के माध्यम से जनता या व्यावसायिक वैंकों से प्राप्त किये जाते है। ज्यों-ज्यों करों की रकम जमा होती जाती है, इन ऋणों का भुगतान कर दिया जाता है। विदेशों से प्राप्त ऋणों की व्यवस्था भी रिजर्व वैंक द्वारा ही होती है।

सरकार जितनी रकम करो से प्राप्त करती है वह सम्पूर्ण रिजर्व वैंक (अथवा उसके प्रतिनिधि वैंकों) द्वारा जमा की जाती है और उस रकम मे से सम्पूर्ण सरकारी भुगतान भी रिजर्व वैंक द्वारा किये जाते है :

वित्तीय नियन्त्रण के संकाय—भारत में केन्द्रीय तथा राज्यों के वित्त प्रशासन का नियन्त्रण निम्नलिखित संकायों अथवा एजेन्सियों के माध्यम से होता है :

(१) **महा लेखापाल (Auditor and Comptroller General)**—सरकार के विभिन्न विभागों के व्यय वजट के अनुसार है या नही तथा उनका हिसाब समुचित

ढंग से रखने की व्यवस्था की गयी है या नहीं, आदि सभी तथ्यों तथा क्रियाओं का अंकेक्षण महा लेखापाल द्वारा करवाया जाता है। यह कार्यालय सरकार के किसी प्रकार के दवाव में नहीं होता अतः जाँच की सही और निष्पक्ष रिपोर्ट प्रस्तुत करता है। वास्तव में अंकेक्षण के भय से ही सरकारी आय-व्यय के खाते नियमित रूप में रखे जाते हैं तथा सरकारी धन ठीक प्रकार से खर्च करने की व्यवस्था का ध्यान रखा जाता है।

(२) **विभागीय नियन्त्रण**—सरकार के प्रत्येक विभाग में भी प्रायः प्रशिक्षित लेखाकर (accountants) होते हैं और सभी व्यय उनकी सहमति से किया जाता है। प्रायः प्रत्येक रकम का व्यय करने से पूर्व लेखाकर की राय लेना आवश्यक होता है। वहुत से विभागों में अंकेक्षण भी होता है जिससे अनियमितनाओं का भय वहुत कम हो गया है।

(३) **अनुमान समिति** (Estimates Committee)—यह समिति संसद द्वारा नियुक्त की जाती है। इसका कार्य राज्य के विभिन्न मदों पर होने वाले व्यय में मितव्ययता सम्वन्धी सुझाव देना है। अतः यह विभिन्न क्षेत्रों में मितव्ययता की सिफारिश करती है और खर्च मे परिवर्तन सम्वन्धी सुझाव देती है।

(४) **कार्यकारिणी समिति**—देश के विभिन्न मदों पर व्यय का निर्धारण प्रायः मन्त्रिमण्डल की एक समिति द्वारा होता है। आर्थिक समिति से (जिसमें वित्त मन्त्री तथा ५ अन्य मन्त्री होते है) विभिन्न प्रस्तावों से सम्बन्धित सुझाव माँग लिए जाते हैं और उसके सुझावों के आधार पर अन्तिम निर्णय कार्यकारिणी समिति या केविनेट द्वारा लिया जाता है। वास्तव में, यह समिति दिविध खर्चों के लिए प्राथमिकता के आधार पर रकमें निर्धारित करती है जिससे वित्तीय आयोजन अधिक युक्तिसंगत हो सकता है।

(५) **लोक लेखा समिति** (Public Accounts Committee)—यह समिति संसद सदस्यों या विधान सभा के सदस्यों की उच्चस्तरीय समिति होती है जिसका कार्य सम्पूर्ण आय-व्यय की राशि तथा क्षेत्रीय औचित्य की जाँच करना और तत्सम्वन्धी रिपोर्ट प्रस्तुत करना है। इस समिति की रिपोर्ट संसद में प्रस्तुत की जाती है अतः इससे सभी विभागाध्यक्षों को वहुत भय रहता है।

उपर्युक्त सभी संकाय देश की वित्त प्रशासन व्यवस्था को सुव्यवस्थित एवं सुसंचालित रखने में सहायक होते हैं।

अभ्यास प्रश्न

१. वित्तीय प्रशासन से क्या तात्पर्य है ? प्रजातन्त्रीय शासन व्यवस्था में वित्तीय प्रशासन का महत्त्व स्पष्ट कीजिए।

२. भारत में वजट किस प्रकार वनाया जाता है। भारतीय वजट की विशेषताएँ वताइए।

३. भारत में वित्तीय प्रशासन का नियन्त्रण करने की रीतियों का विवेचन कीजिए।

५

आर्थिक नियोजन–आवश्यकता एवं महत्त्व

(ECONOMIC PLANNING—NEED AND IMPORTANCE)

वर्तमान युग समाजवाद का युग है। प्रत्येक विकासशील देश में समाजवादी व्यवस्था की चर्चा है जिसका अर्थ यह है कि वहाँ आर्थिक विषमताओं को कम करके एक ऐसे समाज की स्थापना करना है जिसमें गरीब और अमीर का अन्तर बहुत कम हो जाय और आर्थिक साधनों पर इने-गिने व्यक्तियों का अधिकार नहीं रह जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही आर्थिक नियोजन का सहारा लिया जाता है। वर्तमान युग में 'समाजवाद' की तरह 'नियोजन' का भी बहुत प्रचार हो गया है। अतः नियोजन का अर्थ समझना बहुत आवश्यक है।

अर्थ (Meaning)

आर्थर ल्यूइस के अनुसार नियोजन के छः प्रचलित अर्थ हैं :

(१) **भौगोलिक वितरण**—पहले अर्थ के अनुसार नियोजन से तात्पर्य फैक्टरियों, रहने के मकानों तथा सिनेमा घर आदि का भौगोलिक वितरण करना मात्र है। इसका अर्थ यह है कि कारखाने, मकान तथा सिनेमा घर कहाँ कहाँ स्थापित किये जायँ तथा किन-किन दिशाओं में और कितने-कितने क्षेत्र में बनाये जायँ, यह निश्चित करना ही नियोजन कहलाता है।

इस अर्थ से स्पष्ट है कि वह केवल **नगर नियोजन** (Town Planning) की ओर संकेत करता है। नियोजन का अर्थ केवल नगर नियोजन नहीं हो सकता, उसमें नगर के विकास के कार्यक्रम भी सम्मिलित करने आवश्यक होते हैं।

(२) **सरकारी व्यय**—कुछ व्यक्तियों का मत है कि सरकार आने वाले चार पाँच वर्ष में किन-किन मदों पर कितनी-कितनी रकम खर्च करेगी इस सम्बन्ध में निर्णय करना ही नियोजन है। इस दृष्टि से सरकारी खर्च के बारे में निश्चय करना ही नियोजन कहलाता है।

नियोजन का यह अर्थ भी बहुत सीमित है क्योंकि सरकार किस मद पर कितनी रकम खर्च करेगी, यह नियोजन का केवल एक भाग है। नियोजन में अन्य

बहुत सी बातें सम्मिलित हैं जैसे कौन से क्षेत्रों का विकास पहले करना है, उनके विकास के लिए किन साधनों की आवश्यकता होगी, वह साधन कहाँ से और कैसे प्राप्त किये जायेंगे तथा सरकारी और निजी क्षेत्र में किन-किन उद्योगों तथा व्यवसायों का किस-किस सीमा तक विकास किया जायगा आदि, आदि।

(३) **अभ्यंश निर्धारण**—नियोजन का एक तीसरे अर्थ में भी प्रयोग किया जाता है। इसके अनुसार उत्पादन करने वाली प्रत्येक इकाई के लिए माल तथा मानवी तत्त्वों की मात्रा निश्चित कर दी जाती है। उसे इन तत्त्वों के प्रयोग से ही उत्पादन करना पड़ता है यह भी निश्चित कर दिया जाता है कि उस इकाई द्वारा अपना माल कहाँ बेचा जायेगा। इस स्थिति में प्रबन्धक को माल खरीदने, बेचने तथा उत्पादन करने की कोई स्वतन्त्रता नहीं होती। यह सब कार्य केन्द्रीय सरकार के आदेशानुसार किये जाते हैं। इस प्रकार उत्पादन तथा बिक्री के निर्धारण को नियोजन कहा जाता है।

नियोजन का यह अर्थ भी सीमित ही है क्योंकि केवल उत्पादन, खरीद और बिक्री के निर्धारण से नियोजन के उद्देश्यों की पूर्ति नही होती। नियोजन मे उत्पादन, क्रय-विक्रय के अतिरिक्त उपभोग, वित्त तथा विभिन्न क्षेत्रों में प्राथमिकताओं के निर्धारण का कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। यह बात अवश्य कही जा सकती है कि **यह अर्थ अन्य अर्थों से अधिक व्यापक है।**

(४) **उत्पादन लक्ष्यों का निर्धारण**—नियोजन के एक अन्य अर्थ के अनुसार सरकार द्वारा लोक और निजी क्षेत्र के उद्योगों के लिए उत्पादन के लक्ष्य निर्धारित कर दिये जाते हैं। यह अर्थ भी बहुत सीमित है क्योंकि इसमें केवल उद्योगों के विकास और विस्तार का नियन्त्रण करने को ही नियोजन माना गया है जो वास्तव में नियोजन का एक भाग मात्र है।

(५) **अर्थ-व्यवस्था के लिए लक्ष्य निर्धारण**—कुछ व्यक्तियों की मान्यता है कि यदि देश के सभी आर्थिक क्षेत्रों के लिए उत्पादन के लक्ष्य निर्धारित कर दिये जायें और उत्पादन के सभी क्षेत्रों में श्रम, कच्चा माल, विदेशी विनिमय और अन्य वस्तुओं का बंटवारा कर दिया जाय तो इसे नियोजन कहा जायेगा। यह अर्थ भी सत्यता के बहुत निकट है क्योंकि नियोजन में प्राथमिकताएँ निर्धारित करनी आवश्यक होती हैं। इन प्राथमिकताओं के आधार पर ही सब साधनों का बंटवारा किया जाता है और उत्पादन, उपभोग तथा बिक्री की व्यवस्था की जाती है।

(६) **निजी क्षेत्र का नियमन**—नियोजन का अन्तिम अर्थ यह है कि सरकार अपने द्वारा निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति निजी क्षेत्र से करवाने के लिए जो भी उपाय करती है वह नियोजन है। इस अर्थ में यह मान लिया गया है कि उत्पादन के लक्ष्य केवल निजी क्षेत्र के लिए निर्धारित किये जाते हैं और सरकार केवल उनकी पूर्ति के लिए प्रयत्न करती है। वास्तविक स्थिति यह है कि नियोजन में सरकार तथा

निजी क्षेत्र दोनों में उत्पादन होता है, दोनों के लिए लक्ष्य निश्चित किये जाते है और उनकी पूर्ति के लिए प्रयास किया जाता है।

उचित अर्थ या परिभाषा

इन सब तथ्यों तथा मान्यताओं को ध्यान में रखकर नियोजन की परिभाषा निम्न प्रकार दी जा सकती है :

जब किसी देश में उत्पादन, उपभोग, वितरण तथा विनियोग की क्रियाओं का सरकार द्वारा निर्धारित नीतियों के अनुसार नियन्त्रण तथा संचालन होता है तो इस व्यवस्था को नियोजन कहा जाता है। नियोजन का प्रयोग जब किसी देश के लिए किया जाता है तो वह **उसका अर्थ प्रायः आर्थिक नियोजन ही होता है** क्योंकि सरकार द्वारा उत्पादन, उपभोग, विनियोग तथा वितरण आदि की क्रियाओं का नियन्त्रण एवं निर्देशन किया जाता है। यह क्रियाएँ आर्थिक क्रियाएं है और इनका सम्बन्ध देश की अर्थ-व्यवस्था से होता है।

आर्थिक नियोजन की विशेषताएँ

आर्थिक नियोजन की आवश्यकता उन देशो में पड़ती है जो आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए है, जिनमें लोगों की प्रति व्यक्ति आय बहुत कम और जीवन स्तर बहुत नीचा है, जहाँ गरीबी और अमीरी मे भयानक अन्तर है, जहाँ आर्थिक साधन कुछ व्यक्तियो के हाथों मे संकेन्द्रित है और बेरोजगारी फैली हुई है। इन देशों को अपने सीमित साधनों के श्रेष्ठतम उपयोग द्वारा अपनी जनता का जीवन स्तर ऊँचा उठाना होता है और गरीब और अमीर के भेद को कम करना होता है। अतः उत्पादन, उपभोग, विनिमय, वितरण तथा मूल्यों पर अनेक प्रकार के नियन्त्रण लगाना आवश्यक होता है। वास्तव में, **नियोजित अर्थ-व्यवस्था एक नियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था होती है** जिसमें किसी का शोषण नही होता, सब व्यक्तियों को उन्नति के समान अवसर मिलते है तथा आर्थिक सत्ता कुछ हाथों में संकेन्द्रित नहीं रहती।

इन सब बातों को ध्यान में रख कर आर्थिक नियोजन की निम्नलिखित विशेषताएँ कही जा सकती है :

(१) **प्राथमिक क्षेत्रों का निर्धारण**—आर्थिक नियोजन का मुख्य उद्देश्य अभावों से मुक्ति पाना होता है। जिन देशों के पास सीमित साधन (पूँजी, तकनीक, कच्चा माल आदि) होते है वह ऐसी योजना बनाते हैं जिसमें सीमित साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग हो सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही कुछ क्षेत्रों को चुन लिया जाता है जिनमें इन साधनों का प्रयोग किया जाता है। यह क्षेत्र ही प्राथमिक क्षेत्र कहलाते है (जैसे कृषि, लघु उद्योग आदि)। यह क्षेत्र प्रायः ऐसे होते है जिनमें कम पूँजी तथा हल्के तकनीकों द्वारा ही अधिक उत्पादन हो सकता है।

(२) **लोक तथा निजी क्षेत्र में सहयोग**—आर्थिक नियोजन में प्रायः लोक तथा निजी क्षेत्र बने रहते है (सोवियत रूस तथा चीन आदि साम्यवादी देशों में सब उद्योग सरकारी क्षेत्र में ले लिए गये हैं अतः वहाँ निजी क्षेत्र नहीं है) और उद्योग

तथा व्यवसाय का विकास इन दोनों क्षेत्रों द्वारा किया जाता है। सरकार प्रायः यह निश्चित कर लेती है कि किन उद्योगों का विकास केवल लोक (या सरकारी) क्षेत्र में किया जायेगा, किन उद्योगों को निजी क्षेत्र के लिए सुरक्षित रखा जायगा तथा कौन से उद्योग सरकारी तथा निजी दोनों क्षेत्रों द्वारा विकसित किये जायेंगे। यह एक नीति सम्बन्धी प्रश्न है जिसके विषय में उचित निर्णय लेना आवश्यक होता है।

(३) **लक्ष्यों का निर्धारण**—आर्थिक नियोजन की तीसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि सरकार द्वारा प्रत्येक क्षेत्र (कृषि, लघु उद्योग, बड़े उद्योग, खनिज, परिवहन, व्यापार आदि) के विकास के लिए लक्ष्य निर्धारित कर दिये जाते हैं और उन क्षेत्रों के लिए लक्ष्यों की प्राप्ति सम्बन्धी सुविधाएँ दी जाती हैं। लक्ष्यों का निर्धारण देश के साधन तथा आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर किया जाता है और उनकी पूर्ति के लिए प्रयत्न किये जाते हैं।

(४) **नियन्त्रण**—नियोजित अर्थ-व्यवस्था मूल रूप में एक नियन्त्रित व्यवस्था होती है। अतः सरकार द्वारा प्रायः निम्नलिखित नियन्त्रण लगाये जाते हैं :

(i) **विनियोग**—देश में नये या पुराने उद्योगों या व्यवसायों में सरकार की अनुमति से ही पूँजी लगायी जा सकती है। इस व्यवस्था से पूँजी (जिसकी मात्रा सीमित है) का विनियोग अधिक महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में ही किया जा सकता है।

(ii) **लाइसेन्स**—नियोजित अर्थ-व्यवस्था में प्रायः नये उद्योग स्थापित करने अथवा उनका विस्तार करने के लिए भी लाइसेन्स की आवश्यकता पड़ती है। सरकार केवल उन्हीं उद्योगों की स्थापना के लिए लाइसेन्स देती है जो सरकार की प्राथमिकता सूची में आते हैं। इससे भी देश के लिए आवश्यक उद्योगों की ही स्थापना और विकास होता है।

(iii) **व्यापार**—नियोजित अर्थ-व्यवस्था वाले देशों के लिए विदेशी व्यापार का बहुत अधिक महत्त्व होता है। अतः वस्तुओं के आयात निर्यात व्यापार पर प्रायः कड़े नियन्त्रण लगाये जाते हैं और सरकार की अनुमति बिना आयात या निर्यात नहीं किये जा सकते। इससे देश का व्यापार सन्तुलन ठीक रखने में मदद मिलती है।

(iv) **विदेशी विनिमय**—नियोजित अर्थ-व्यवस्था तभी सफल हो सकती है जबकि विदेशी विनिमय के भण्डार सुरक्षित रखे जायें और विदेशी विनिमय की कमाई का अनिवार्य कामों के लिए ही प्रयोग किया जाय। इसी दृष्टि से इन देशों में प्रायः विदेशी विनिमय के प्रयोग पर कड़े नियन्त्रण लगाये जाते हैं।

(v) **उपभोग**—नियोजित अर्थ-व्यवस्था वाले देशों में प्रायः कुछ वस्तुओं का अभाव होता है अतः सरकार इन वस्तुओं के उपभोग को सीमित रखने के लिए इनका राशन कर देती है और यह वस्तुएँ प्रत्येक व्यक्ति को निश्चित मात्रा में ही मिल सकती हैं, अधिक नहीं।

(vi) **मूल्य**—नियोजित अर्थ-व्यवस्थाओं में प्रायः वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होने का भय रहता है अतः सरकार अनेक प्रकार से वस्तुओं के मूल्यों को बढ़ने से

रोकने का प्रयत्न करती है ताकि साधारण जनता को कठिनाई का सामना नहीं करना पड़े।

इन सब क्षेत्रों तथा क्रियाओं पर नियन्त्रण रखने का मुख्य उद्देश्य जनता को कठिनाइयों से बचाना, मूल्यों को स्थिर रखना, आर्थिक विकास में तेजी लाना तथा देश के सीमित साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग करना होता है।

(५) **नियमित एवं निरन्तर प्रक्रिया**—आर्थिक नियोजन की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि नियोजन चार-छह वर्ष या दो वर्ष का काम नहीं होता। यह एक लम्बी प्रक्रिया होती है। प्रायः पाँच वर्ष के लिए एक योजना बनायी जाती है और अगले पांच वर्ष के लिए फिर दूसरी योजना लागू कर दी जाती है। इस प्रकार एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी योजना लागू की जाती है और योजना का क्रम चलता रहता है। वास्तव में विकास का काम ही दीर्घकालीन होता है जिसमें कुछ परियोजनाएँ (भाखरा नांगल या बोकारो इस्पात कारखाना) कई-कई वर्षों में पूरी होती हैं। निरन्तरता बनाये रखने के लिए योजना का क्रम चालू रखना आवश्यक होता है।

आर्थिक नियोजन क्यों आवश्यक है ?

इससे पूर्व यह लिखा जा चुका है कि आर्थिक नियोजन में उत्पादन तथा उपभोग के सभी अंगों पर अनेक नियन्त्रण लागू कर दिये जाते हैं। इन नियन्त्रणों के फलस्वरूप देश की अर्थ-व्यवस्था का विकास उचित दिशाओं में होता रहता है और आर्थिक शोषण और विषमता में कमी आती जाती है।

यदि आर्थिक नियन्त्रण नहीं लगाये जायें तो अर्थ तन्त्र स्वतन्त्र रूप में चलता रहता है। शक्तिशाली पूँजीपति आर्थिक साधनों पर कब्जा करते चले जाते हैं, गरीब पहले से अधिक गरीब और अमीर पहले से अधिक अमीर होते चले जाते हैं। इस व्यवस्था को मुक्त बाजार व्यवस्था (Free Market Economy) कहते हैं। **इसके दोषों के कारण ही आर्थिक नियोजन अपनाना पड़ता है।** यह दोष निम्नांकित हैं :

(१) **आय का न्यायपूर्ण वितरण**—मुक्त अर्थ-व्यवस्था में धनी पूँजीपतियों द्वारा ऐसी वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है जिनसे उन्हें अधिक से अधिक लाभ होता है। वह समाज की पूँजी विलासितापूर्ण वस्तुओं की उत्पत्ति में लगाते रहते हैं। इससे एक ओर तो विलासिता का साम्राज्य बढ़ता जाता है, दूसरी ओर सामान्य जनता के काम में आने वाली अनिवार्य वस्तुओं की पूर्ति कम रहती है। नियोजित अर्थ-व्यवस्था में सरकार पूँजीपतियों को ऐसे क्षेत्रों में पूँजी लगाने के लिए बाध्य करती है जो साधारण जनता के लिए अधिक उपयोगी हों। अतः राष्ट्रीय सम्पत्ति के न्यायपूर्ण वितरण और श्रेष्ठतम उपयोग के लिए आर्थिक नियोजन आवश्यक है।

(२) **श्रमिकों की मजदूरी**—पूंजीवादी व्यवस्था अथवा मुक्त बाजार व्यवस्था में मजदूरों की मजदूरी प्रायः बहुत कम होती है क्योंकि कम मजदूरी देकर पूँजीपति अधिक लाभ कमा सकते हैं। इस व्यवस्था में कम मजदूरी के अतिरिक्त

श्रमिकों को बहुत गंदी परिस्थितियों में काम करना पड़ता है, उनके रहन-सहन की हालत बहुत घटिया होती है क्योंकि पूँजीपतियों को उनकी हालत सुधारने में कोई रुचि नहीं होती।

वर्तमान युग में मजदूरों में पहले से बहुत अधिक जागृति उत्पन्न हो गयी है अतः वह अधिक मजदूरी और अन्य सुविधाओं के लिए संघर्ष करने लगे हैं। इन संघर्षों से उत्पादन का स्तर गिरने लगता है। अतः नियोजित अर्थ-व्यवस्था अपनाना अच्छा है क्योंकि उसमें मजदूरों को उचित मजदूरी देने की व्यवस्था की जाती है और उनकी सामान्य सुविधाओं का अधिक से अधिक ध्यान रखा जाता है। अतः मजदूरों तथा मालिकों में अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने में भी आर्थिक नियोजन आवश्यक है।

(३) **मुद्रा स्फीति, बेरोजगारी तथा मूल्यों में उतार-चढ़ाव**—मुक्त अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन, उपभोग अथवा मूल्यों पर कोई नियन्त्रण नहीं होता। इससे मुद्रा स्फीति बढ़ती जाती है, मूल्यों में निरन्तर उतार-चढ़ाव होते रहते हैं और समाज में बेरोजगारी बढ़ने का सदा भय रहता है। इन सब क्रियाओं से समाज में निरन्तर असंतोष बढ़ता रहता है और समाज में एक अजीब बेचैनी बनी रहती है। इस बेचैनी को दूर करने के लिए नियोजित अर्थ-व्यवस्था का सहारा लिया जाता है।

(४) **विदेशी व्यापार**—मुक्त अर्थ-व्यवस्था मे प्रायः देश का व्यापार सन्तुलन सदा विपक्ष में रहने का भय रहता है। विकासशील देशों को प्रायः विदेशों से बहुत सामान आयात करना पड़ता है और उनके पास निर्यात के लिए बहुत कम सामान होता है। इसके अतिरिक्त मुक्त अर्थ-व्यवस्था में प्रायः विलासितापूर्ण वस्तुओं के आयात का भय बहुत होता है जिससे समाज अनेक बुराइयों से ग्रस्त हो जाता है। इस स्थिति को रोकने के लिए नियोजित अर्थ-व्यवस्था अपनायी जाती है जिसमें व्यापार पर उचित नियन्त्रण लगा दिये जाते हैं।

(५) **जड़ता**—मुक्त अर्थ-व्यवस्था में प्रायः शिथिलता और जड़ता होती है। उसमें परम्परा तथा पुरानी रीतियों का प्रभुत्व होता है। कम विकसित देशों को गरीबी से मुक्त करने के लिए क्रान्तिकारी कदम उठाने की आवश्यकता होती है जो प्रायः पूँजीवादी मुक्त व्यवस्था में उठाना कठिन होता है। अतः नियोजित अर्थ-व्यवस्था का सहारा लेना पड़ता है।

(६) **बर्बादी**—पूँजीवादी अथवा मुक्त अर्थ-व्यवस्था में प्रायः आपस में स्पर्द्धा होती है। यह सत्य है कि स्पर्द्धा के कारण उत्पादक अपने तकनीकों मे तेजी से सुधार करते है जिससे माल अच्छा और सस्ता बनता है किन्तु स्पर्द्धा के कारण लाखों करोड़ों रुपये विज्ञापन पर खर्च किये जाते हैं। इसी प्रकार कुछ इने-गिने उत्पादन क्षेत्रों मे पूँजी लगती रहती है जबकि बहुत से महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में पूँजी लगायी ही नहीं जाती। इस बर्बादी और पूँजी के हल्के उपयोग को नियोजित अर्थ-व्यवस्था द्वारा रोका जा सकता है।

बनाने, उसे कार्यान्वित करने तथा उसकी सफलता की देख-रेख एवं मूल्यांकन करने के लिए एक केन्द्रित अधिकारी या माध्यम होता है। इस प्रकार केन्द्रित नियोजन ऊपर से आदेश की तरह होता है जिसके पालन का दायित्व केन्द्रीय सरकार पर होता है। इस प्रकार के नियोजन में जनता का विश्वास और योगदान प्रायः नहीं मिल पाता।

विकेन्द्रित नियोजन के अन्तर्गत स्थानीय तथा प्रादेशिक संस्थाएँ (या शासन व्यवस्थाएँ) योजना बनाती है और इसको कार्यान्वित करती हैं। इस प्रकार की योजना में केन्द्र की केवल सहमति ले ली जाती है क्योंकि केन्द्र द्वारा प्रायः विभिन्न प्रदेशों की योजनाओं में समन्वय तथा तालमेल बैठानी पड़ती है।

केन्द्रित तथा विकेन्द्रित नियोजन का मध्यम मार्ग सुविधापूर्वक अपनाया जा सकता है। इसमें केन्द्रीय अधिकारी स्थानीय तथा प्रादेशिक संस्थाओं से योजना की माँग करते हैं। आपस में विचार-विमर्श के पश्चात् ही इन योजनाओं को अन्तिम रूप दिया जाता है। इससे सारी योजनाओं का एक समन्वित रूप तैयार हो सकता है और प्रत्येक क्षेत्र को अपनी योजना पूरी करने का उत्साह रहता है।

(४) व्यापक नियोजन तथा आंशिक नियोजन
(Comprehensive Planning and Partial Planning)

व्यापक नियोजन में देश की पूरी अर्थ-व्यवस्था के सारे क्षेत्रों के विकास के बारे में योजना बनायी जाती है। इसमें कृषि, उद्योग, व्यापार, वित्त आदि सब क्षेत्रों की समस्याओं का अध्ययन कर उनके समाधान के उपाय किये जाते हैं तथा इन क्षेत्रों के संतुलित विकास के उपाय निकाले जाते हैं। व्यापक नियोजन देश के सम्पूर्ण अर्थ तन्त्र की उन्नति का दृष्टिकोण लेकर अपनाया जाता है।

आंशिक नियोजन के अन्तर्गत देश की अर्थ-व्यवस्था के कुछ चुने हुए क्षेत्रों (खेती, उद्योग आदि) को ले लिया जाता है और उनके विकास के लिए योजना बनायी जाती है। इस प्रकार की योजना अर्थ-व्यवस्था के कुछ हिस्सों से ही सम्बन्धित होती है और वह सारी अर्थ-व्यवस्था को केवल अप्रत्यक्ष रूप में ही प्रभावित करती है। भारत में यदि खेती के विकास के लिए योजना बनायी जाय तो वह सारी अर्थ-व्यवस्था को प्रभावित तो करेगी किन्तु उसका प्रभाव सीमित और अप्रत्यक्ष ही होगा।

लार्ड रॉबिन्स जैसे प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों का मत है कि किसी देश के आर्थिक जीवन में आंशिक नियोजन का कोई महत्त्व नहीं है। यदि नियोजन किया जाय तो व्यापक ही होना चाहिए नहीं तो मुक्त अर्थ-व्यवस्था ही ठीक है।

(५) स्थायी नियोजन तथा आपात नियोजन
(Permanent Planning and Emergency Planning)

जब सरकार आर्थिक नियोजन को आर्थिक विकास का आधार मान लेती है तो प्रायः दीर्घकाल के लिए नियोजन किया जाता है और एक योजना के पश्चात्

दूसरी तथा दूसरी के बाद तीसरी योजना के कार्यक्रम चलते रहते हैं। इस प्रकार का नियोजन देश की आर्थिक स्थिति में स्थायी सुधार लाने के वास्ते किया जाता है और नियोजन का कार्य दीर्घकाल तक चलता रहता है।

आपात नियोजन किसी आर्थिक या राजनीतिक संकट से मुक्त होने के लिए अपनाया जाता है। इसकी सारी योजना कुछ समय के लिए होती है और संकट समाप्त हो जाने पर खत्म हो जाती है। युद्धकाल में प्रायः उद्योगों के स्वरूप में परिवर्तन कर दिया जाता है। और माल की पूर्ति का क्रम भी बदल दिया जाता है ताकि युद्धकालीन आवश्यकताओं को आसानी से पूरा किया जा सके। युद्ध की समाप्ति के पश्चात् उद्योगों के ढाँचे में फिर से परिवर्तन कर लिया जाता है। वास्तव में संकटकालीन या **आपात नियोजन को नियोजन नहीं कहना चाहिए।** यह तो संकटकालीन व्यवस्था मात्र होती है जो परिस्थितियों के अनुकूल स्थापित की जाती है।

(६) प्रजातान्त्रिक नियोजन तथा तानाशाही नियोजन
(Democratic Planning and Dictatorial Planning)

कुछ व्यक्तियों की यह मान्यता रही है कि प्रजातन्त्र एक पूँजीवाद व्यवस्था है जिसमें आर्थिक नियोजन सफल नही हो सकता। उनकी मान्यता यह रही है कि आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए तानाशाही शासन ही सर्वथा उपयुक्त है क्योंकि तानाशाही शासन में जो भी आदेश दिया जायेगा उसका भय के कारण पालन होगा, जबकि प्रजातन्त्र में अनेक निर्णयों को कार्यान्वित करना ही कठिन होता है।

वर्तमान युग में इस धारणा में परिवर्तन हो गया है। अब यह माना जाता है कि योजना बनाते समय सभी क्षेत्रों के विशेपज्ञों तथा प्रशासकों से सलाह ली जानी चाहिए तथा सभी क्षेत्रों के प्रतिनिधियों के मत को उचित महत्त्व दिया जाना चाहिए, इस प्रकार अनेक व्यक्तियों को नियोजन सम्बन्धी निणयों में शामिल करने से योजना को कार्यान्वित करना बहुत सरल हो जायेगा। इसके साथ ही, साहसियों तथा प्रशासकों को अपने क्षेत्र की योजना को सफल बनाने का उत्साह भी रहेगा।

तानाशाही नियोजन—में ऊपर से आदेश दिये जाते हैं जिनमें पालन करने वालों का विश्वास नहीं होता। अतः वह केवल मशीन की भाँति उन आदेशों का पालन करते है, उनसे लगाव या अपनत्व अनुभव नहीं करते। इस प्रकार के नियोजन में उत्तरदायित्व तथा लगाव की कमी रहती है और **जनता की बुद्धि तथा क्रियात्मक शक्ति नष्ट हो जाती है** क्योंकि उन्हें अपनी क्रियात्मक शक्ति का प्रयोग करने का अवसर ही नहीं मिलता।

अल्प विकसित देशों में आर्थिक नियोजन
[ECONOMIC PLANNING IN UNDERDEVELOPED COUNTRIES]

कठिनाइयाँ—अल्प या कम विकसित देशों में आर्थिक नियोजन में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है जिनमें से मुख्य निम्नलिखित है :

(१) **घटिया प्रशासन**—आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए **मजबूत, सुयोग्य तथा ईमानदार प्रशासन** (strong, competent and incorrupt administration) की आवश्यकता होती है। यह प्रशासन ऐसा होना चाहिए जो अपनी नीतियों को कार्यान्वित करने में समर्थ हो। अल्प विकसित देशों में प्रायः करों की वसूली करनी कठिन होती है। यदि वस्तुओं के मूल्यों पर नियन्त्रण लगाये जाते हैं और राशन व्यवस्था लागू कर दी जाती है तो प्रायः भ्रष्टाचार और चोर बाजारी फैल जाती है। इस प्रकार सरकार की नीतियाँ प्रायः कागज पर रह जाती हैं, उनका ठीक प्रकार पालन नहीं हो पाता।

इन देशों में प्रशासन व्यवस्था ढीली, अयोग्य तथा भ्रष्ट होती है। और रिश्वत के बल पर राष्ट्रद्रोही काम होते रहते है। अतः जनता को भी सरकार की नीतियों तथा प्रशासन व्यवस्था में विश्वास नहीं रहता। इस प्रकार आर्थिक योजनाओं में जो रकम खर्च की जाती है। उसका एक बड़ा भाग भ्रष्ट शासकों, ठेकेदारों तथा प्रशासकों की जेबों में चला जाता है और जनता को बहुत कम लाभ मिलता है।

(२) **साज सज्जा की कमी**—अल्प विकसित देशों में प्रायः सड़कें, रेलें, बिजली, सिंचाई की सुविधाएँ जल पूर्ति, स्वच्छता, शिक्षा तथा संदेशवाहन के साधनों की बहुत कमी रहती है। यह सुविधाएँ आर्थिक विकास के लिए बहुत आवश्यक है किन्तु इन देशों में यह सुविधाएँ बहुत पिछड़ी हुई रहती हैं तथा विकास भी धीरे-धीरे होता है। अतः इन आधारभूत आवश्यकताओं की कमी के कारण आर्थिक विकास का काम शिथिल रहता है।

(३) **तकनीकी ज्ञान**—अल्प विकसित देशों में प्रायः तकनीकी ज्ञान का सर्वथा अभाव रहता है। इन देशों में प्रशिक्षित इंजीनियर, तथा प्राविधिक विशेषज्ञों और प्रबन्ध व्यवस्था में कुशल व्यक्तियों की कमी रहती है अतः किसी भी योजना का आरम्भ करने से पहले विदेशों से इंजीनियर या तकनीकी जानकार बुलाना आवश्यक होता है। इनकी सेवा के लिए बहुत अधिक वेतन देना पड़ता है जो इन देशों के लिए बहुत भारी पड़ता है।

(४) **पिछड़ी हुई कृषि**—संसार के विकसित देशों में प्रायः खेती से प्राप्त आमदनी से औद्योगिक विकास किया गया है। अल्प विकसित देशों में प्रायः कृषि की स्थिति बहुत पिछड़ी हुई रहती है। कृषि की पुरानी प्रणालियाँ, छोटे-छोटे खेत, कृषि की नयी प्रणालियों के प्रति अज्ञानता तथा कृषि पर बहुत अधिक जन संख्या की निर्भरता के कारण इन देशों में खेती से कोई बचत नहीं होती है। अतः खेती उद्योगों के विकास में कोई सहयोग प्रदान नहीं करती।

(५) **मुद्रा स्फीति का भय**—अल्प विकसित देशों में योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए पूँजी की प्रायः कमी रहती है। इन देशों में जनता की आय कम

होने से पूँजी निर्माण कम होता है अतः जनता पर अधिक कर लगाने से भी आवश्यक पूँजी नहीं मिल सकती। जनता की बचाने की शक्ति कम होने के कारण उधार लेकर भी पूँजी की आवश्यकता को पूरा नहीं किया जा सकता। अतः सरकार द्वारा पूँजी की कमी घाटे के बजट बना कर पूरी की जाती है।

इन सब स्थितियों के साथ ही सबसे गम्भीर स्थिति यह होती है कि इन देशों में उत्पादन में बहुत धीरे वृद्धि होती है अतः सरकार जितने नये नोट छापती है उनका अधिक भाग मुद्रा स्फीति में सहयोग देता है। मुद्रा स्फीति के कारण वस्तुओं के मूल्य बढ़ने लगते हैं, कर्मचारियों के महंगाई भत्तों में वृद्धि करनी पड़ती है और सरकार के खर्च में निरन्तर वृद्धि होती चली जाती है। इस प्रकार प्रत्येक योजना जिस आशा से आरम्भ की जाती है उस आशा से बहुत अधिक खर्चीली सिद्ध होती है जिससे सरकार की आर्थिक कठिनाइयाँ बढ़ती चली जाती हैं।

(६) **विदेशी पूँजी**—इन सब कठिनाइयों के कारण कम विकसित देशों को अन्य देशों से पूँजी उधार लेनी पड़ती है, तकनीकी विशेषज्ञों को बुलाना पड़ता है या विदेशियों को अपने देश में पूँजी विनियोग के लिए प्रोत्साहित करना पड़ता है। इस प्रकार अल्प विकसित देशों में विदेशी पूँजीपतियों का प्रभाव बढ़ता चला जाता है। यह प्रभाव अनेक बार इन देशों की स्वतन्त्र आर्थिक नीति में बाधक हो जाता है। वर्तमान युग में यह कहा जाता है कि अनेक अल्प विकसित देशों की आर्थिक नीति वाशिंगटन में निर्धारित होती है क्योंकि इन देशों की आर्थिक योजनाओं के लिए अमरीका द्वारा पूँजी की व्यवस्था की जाती है।

(७) **जन संख्या**—अल्प विकसित देशों में आर्थिक नियोजन की एक कठिनाई यह है कि अनेक देशों में जन संख्या बहुत तीव्र गति से बढ़ रही है। इन देशों में कुल आय में जितनी वृद्धि होती है उसका अधिकांश भाग बढ़ती हुई जन संख्या में बंट जाता है अतः प्रति व्यक्ति आय में विशेष वृद्धि नहीं होने पाती। इसलिए इन देशों में जीवन स्तर निरन्तर नीचा रहता है और ऐसा आभास ही नहीं होने पाता कि इनमें आर्थिक नियोजन द्वारा विकास किया जा रहा है। भारत, पाकिस्तान, लंका, ब्रह्मा आदि देश इस स्थिति के उदाहरण हैं।

अल्प विकसित देशों में कहीं-कहीं जन संख्या इतनी कम भी है कि वहाँ आर्थिक योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए काम करने वाले उपलब्ध नहीं होते। आर्थर ल्यूइस ने उत्तरी रोडेशिया का उदाहरण दिया है जिसकी १५ लाख जन संख्या लगभग ३½ लाख वर्गमील के क्षेत्रफल में बिखरी हुई है। ऐसे देशों में आर्थिक साधनों का विकास करने तथा उनकी देखभाल के लिए पर्याप्त जन शक्ति की कमी दिखलायी पड़ती है।

(८) **अंधविश्वास तथा रूढ़ियाँ**—आर्थिक नियोजन की सफलता में सबसे अधिक बाधक तत्त्व हैं धार्मिक अंधविश्वास तथा रूढ़ियाँ। अल्प विकसित देशों में

प्रायः अधिकांश व्यक्ति अशिक्षित होते हैं जो भाग्यवाद और पुरातन रूढ़ियों में विश्वास करते हैं। भाग्यवाद की जड़ता के कारण इनकी क्रियाशीलता समाप्त हो जाती है क्योंकि वह मानते हैं कि अधिक प्रयत्न करने से कोई लाभ नहीं है, जो भाग्य में लिखा है सो ही होगा। यह दृष्टिकोण उत्पादन के नये तकनीक अपनाने में बाधक है। अनेक बार उत्पादन की नयी रीतियाँ इसलिए नहीं अपनायी जातीं कि उनमें लोगों को विश्वास नहीं होता। अतः उत्पादन कम रहता है जनता की आय में आशा के अनुकूल वृद्धि नहीं होती और जीवन स्तर नीचा ही बना रहता है।

कम विकसित देशों के लिए आर्थिक नियोजन अधिक अनुकूल है

ऊपर लिखी गई कठिनाइयों के होते हुए भी पिछड़े देशों के लिए आर्थिक नियोजन अधिक अनुकूल है। यदि संसार के आर्थिक इतिहास को ध्यान से देखा जाय तो पता चलेगा कि अल्प विकसित देशों में ही आर्थिक नियोजन द्वारा विकास करने का कार्य आरम्भ किया गया और इन देशों में आर्थिक नियोजन को पर्याप्त सफलता भी मिली। सोवियत संघ यूरोप के अत्यन्त पिछड़े हुए देशों में से था। पूर्वी यूरोप के अन्य देशों की भी यही स्थिति थी। इन देशों ने आर्थिक नियोजन के द्वारा जिस गति से आर्थिक विकास किया वह अन्य देशों के लिए उदाहरण बन गया है और अन्य देश आर्थिक नियोजन की दृष्टि से इन देशों का उदाहरण सामने रखते हैं।

अल्प विकसित देशों के लिए आर्थिक नियोजन निम्नलिखित कारणों से अधिक अनुकूल है :

(१) **नव निर्माण सरल**—अल्प विकसित देशों में प्रायः कृषि तथा उद्योग पिछड़े हुए रहते हैं। इन देशों में प्रायः उद्योग धन्धों का तो सर्वथा नये सिरे से विकास करना होता है। नये उद्योगों की स्थापना पुराने उद्योगों में सुधार की बजाय अधिक सरल होती है। अतः अल्प विकसित देशों के लिए एक ओर तो योजना बनाना सरल होता है, दूसरी ओर इसके सम्बन्ध में योजनाओं को कार्यान्वित करना भी आसान रहता है क्योंकि पुराने उद्योग नाम मात्र को होते हैं जिनकी ओर से बाधा उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

(२) **व्यवस्था**—अल्प विकसित देशों में नये सिरे से उद्योग और व्यवसाय स्थापित किये जाते हैं। इन इकाइयों में प्रबन्ध और व्यवस्था के नवीनतम तकनीक काम में लिए जाते हैं और प्रबन्ध व्यवस्था की बिल्कुल नयी परम्पराएँ स्थापित होती हैं। इन परम्पराओं में काम करने वाले व्यक्ति अपने आप ही उच्चस्तरीय कौशल ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार इन देशों में अच्छे प्रबन्धकों की नयी पीढ़ी तैयार हो जाती है जो उद्योग तथा व्यवसाय के लिए बहुत उपयोगी रहती है।

(३) **अन्तरराष्ट्रीय व्यापार**—विकसित देशों का व्यापार प्रायः अनेक देशों से होता है और इस पर नियन्त्रण लगाने पर अनेक प्रकार की आर्थिक तथा राजनीतिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। अतः विकसित देशों में आर्थिक नियोजन सरल नहीं है। अल्प विकसित देशों का व्यापार प्रायः कम होता है और उनके इने गिने

आयात तथा निर्यात कुछ ही देशों से होते हैं जिन पर नियन्त्रण लगाने में विशेष कठिनाई या समस्याएँ उत्पन्न नहीं होती।

वास्तव में अल्प विकसित देश आर्थिक नियोजन की दृष्टि से एक नयी स्लेट की भाँति हैं जिन पर कुछ भी नयी बात लिखने में विशेष कठिनाई उत्पन्न नहीं होती।

आर्थिक नियोजन का महत्त्व

(Improtance of Economic Planning)

आर्थिक नियोजन आज के युग की माँग है क्योंकि अब प्रायः सभी को यह विश्वास हो गया है कि नियोजन द्वारा देश के आर्थिक विकास को गति दी जा सकती है, राष्ट्रीय आय में तेजी से वृद्धि की जा सकती है तथा आर्थिक विषमता को कम किया जा सकता है। आर्थिक नियोजन के बढ़ते हुए महत्त्व को अनेक दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है। यहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण प्रस्तुत किये जा रहे हैं :

(१) **समाजवाद**—आज के युग को समाजवादी युग कहा जा सकता है। आर्थिक नियोजन समाजवाद की आधार शिला है। कुछ व्यक्ति तो नियोजन और समाजवाद को एक ही मानते है तथा कुछ की मान्यता यह है कि आर्थिक नियोजन के बिना समाजवाद की स्थापना सम्भव नहीं है। वास्तव में उत्पादन में तेजी से वृद्धि और आर्थिक साधनों का न्यायपूर्ण वितरण करने के लिए आर्थिक नियोजन आवश्यक है। यही तत्त्व समाजवाद की स्थापना में सहायक होते हैं।

(२) **तकनीशियन के लिए**—वर्तमान युग प्रगतिशील तकनीक का युग है। इसमें उत्पादन की नयी प्राविधियों (Technology) का विकास होता जा रहा है। एक तकनीकी विशेषज्ञ आर्थिक नियोजन को श्रेष्ठ समझता है। क्योंकि नियोजित व्यवस्था में देश के प्राकृतिक तथा अन्य साधनों का श्रेष्ठतम प्रयोग किया जाता है। यह नवीनतम तकनीकों के प्रयोग से ही सम्भव है। एक तकनीकी विशेषज्ञ की दृष्टि से आर्थिक नियोजन अधिक वैज्ञानिक तथा तर्क संगत आधार को मानती है। अतः वह नियोजन को आर्थिक विकास का श्रेष्ठ माध्यम स्वीकार करता है।

(३) **राजनीतिज्ञ**—वर्तमान युग में प्रत्येक राजनीतिज्ञ यह चाहता है कि उसके क्षेत्र में नये कारखाने खोले जायें, नयी सड़कें बनें, बिजली तथा पानी की सुविधाएँ उपलब्ध हों और विकास के अधिक से अधिक कार्यक्रम आरम्भ किये जायें। यह आर्थिक नियोजन में ही सम्भव है क्योंकि नियोजन का ध्येय ही नये-नये कल कारखाने स्थापित कर तेजी से आर्थिक विकास करना होता है। अतः राजनीतिज्ञों के लिए आर्थिक नियोजन का विशेष महत्त्व होता है।

(४) **विनियोक्ता**—जिन व्यक्तियों के पास पूँजी होती है और वह अपनी पूँजी को लाभदायक कामों में लगाना चाहते हव हों विनियोक्ता कहलाते हैं। आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत विकास की अनेकानेक योजनाएँ बनायी जाती हैं जिनमें करोड़ों रुपये विनियोजित किये जाते हैं अतः आर्थिक नियोजन में पूँजी विनियोग करने वालों को अपनी पूँजी श्रेष्ठतम क्षेत्रों में लगाने का अवसर मिलता है। इससे एक ओर तो

पूँजी लगाने वालों को लाभ होता है, दूसरी ओर देश के आर्थिक विकास के लिए धन उपलब्ध हो जाता है।

(५) **सरकार**—आर्थिक नियोजन का सरकार के लिए अत्यधिक महत्त्व है क्योंकि नियोजन के माध्यम से सरकार को अपनी योजनाएँ कार्यान्वित करने का अवसर मिल जाता है। प्रजातन्त्र की सफलता के लिए तेजी से आर्थिक विकास होना बहुत आवश्यक है और तेजी से आर्थिक विकास करने के लिए आर्थिक नियोजन महत्त्वपूर्ण माध्यम है।

(६) **सामान्य नागरिक**—आर्थिक नियोजन का सामान्य नागरिक के लिए भी बहुत महत्त्व है क्योंकि नयी-योजनाओं में करोड़ों रुपये की पूँजी लगने से रोजगार के नये साधनों का विकास होता है। अत: साधारण नागरिक को रोजगार मिलने में पहले से कुछ अधिक सुविधा रहती है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आर्थिक नियोजन के द्वारा आर्थिक विकास तेजी से होता है जिससे प्रत्येक नागरिक की आय में वृद्धि होने की सम्भावना रहती है। तीसरी बात यह है कि आर्थिक नियोजन के कारण सड़कें, रेलें, बिजली, पानी, शिक्षा, चिकित्सा आदि की सुविधाओं का विस्तार होता है। अत: सामान्य नागरिक को पहले से अधिक और अच्छी सामाजिक सेवाएँ मिलने लगती है।

संक्षेप में, आर्थिक नियोजन के एक सामान्य नागरिक के लिए निम्नलिखित महत्त्व हे :

(i) रोजगार मिलने के अवसरों में वृद्धि हो जाती है।

(ii) उसकी आय में वृद्धि होने की सम्भावना रहती है।

(iii) उसे पहले से अच्छी और अधिक सामाजिक सेवाएँ मिलती है।

आर्थिक नियोजन की सफलता में सहायक तत्त्व

वर्तमान युग मे यह स्वीकार कर लिया गया है कि आर्थिक विकास में तेजी लाने के लिए नियोजन की नीति अपनायी जानी चाहिए। वैसे तो आर्थिक नियोजन कहीं भी किसी भी देश में अपनाया जा सकता है किन्तु नियोजन में सफलता प्राप्त करना सरल काम नही है। यदि निम्नलिखित व्यवस्थाएँ की जा सकें तो आर्थिक नियोजन की सफलता में सहायता मिल सकती है :

(१) **पर्याप्त सम्पर्क**—कोई भी योजना बनाने से पहले उस क्षेत्र की वास्तविक स्थिति का पूरा ज्ञान होना आवश्यक है। यदि किसी देश में इस्पात का नया कारखाना लगाना है तो यह जानकारी होनी चाहिए कि देश में कहाँ-कहाँ किस किस्म का कितना लोहा मिलता है और इस्पात बनाने के लिए अन्य आवश्यक तत्त्व कहाँ-कहाँ कितने-कितने मिलते हैं; देश में इस्पात की वर्तमान माँग कितनी है तथा भविष्य में कितनी हो जाने की सम्भावना है। विभिन्न देशों में इस्पात के क्या मूल्य हैं तथा उनके भविष्य में कितने बढ़ने या घटने की सम्भावना है। इसी प्रकार के

अन्य आँकड़े मिल जाने पर देश में इस्पात का कारखाना स्थापित करने का निर्णय लेने में आसानी रहेगी।

वास्तव में, सही आँकड़ों के अभाव में किसी भी क्षेत्र में कोई भी योजना बनाना बहुत कठिन है क्योंकि भविष्य की योजना का आधार सदा वर्तमान की स्थिति को बनाना चाहिए। अतः योजना की सफलता के लिए देश में एक शक्तिशाली सांख्यिकीय संगठन की स्थापना की जानी चाहिए जो विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित शुद्ध आँकड़े संग्रह कर नियोजकों को उपलब्ध करा सके।

(२) **प्रशासनिक ढाँचा**—आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए **सबल, सुयोग्य तथा ईमानदार प्रशासन** होना चाहिए। यदि देश का प्रशासनिक ढाँचा ढीला है, उसमें भ्रष्ट तथा निकम्मे कर्मचारी तथा अधिकारी भरे हुए हैं तो पहले उसमें सुधार किया जाना चाहिए। इसके लिए यदि विशेष कानून भी बनाने पड़ें तो ऐसे कानून बनाकर घटिया व्यक्तियों को सेवा मुक्त या सेवा निवृत्त कर देना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया गया तो कोई भी काम सफलतापूर्वक सम्पन्न नहीं किया जा सकेगा। पद-पद पर ढीले तथा भ्रष्ट अधिकारी योजना को दिशा भ्रष्ट कर देंगे या उसकी सफलता में बाधाएँ उत्पन्न करेंगे।

प्रशासनिक ढाँचे को भ्रष्ट आचरण से मुक्त करने के लिए बहुत कड़े दण्ड विधान की व्यवस्था करनी आवश्यक है और दोषी पाये जाने पर अधिक से अधिक शक्तिशाली व्यक्तियों को भी दण्ड देने की व्यवस्था की जानी चाहिए। इससे भ्रष्टा-चार करने में भय लगने लगेगा और स्वच्छ तथा सबल शासन मिलने से योजनाओं की सफलता असंदिग्ध हो जायेगी।

(३) **जन विश्वास तथा सहयोग**—किसी भी योजना की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उसमें आदि से अंत तक जनता का सहयोग मिले। इसके लिए योजना बनाते समय ही जनता का मत जान लेना चाहिए और जनता की इच्छा तथा आवश्यकतानुसार ही योजना बनायी जानी चाहिए।

योजना बन जाने के बाद उसे कार्यान्वित करने के लिए भी जन सहयोग अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए योजना के महत्त्व का उचित प्रचार किया जाना चाहिए और जनता से उचित सहयोग की माँग की जानी चाहिए। जन सहयोग के बिना कोई भी आर्थिक योजना सफल नहीं हो सकती।

(४) **आर्थिक संगठन**—आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए राज्य स्तर पर एक शक्तिशाली आर्थिक संगठन बनाया जाना चाहिए जो सरकार को (या योजना आयोग को) उचित परामर्श दे सके। इसके लिए आर्थिक तथा वित्त मन्त्रालय और योजना आयोग के संगठन को उचित रूप में पुनर्व्यवस्थित किया जाना चाहिए। आर्थिक संगठन अच्छा होने पर योजना ठीक बन सकेगी और उसे कार्यान्वित करना भी सरल रहेगा।

आर्थिक नियोजन के गुण
(Merits of Economic Planning)

आर्थिक नियोजन अनेक आशाओं को लेकर अपनाया जाता है। वास्तव में ठीक ढंग से बनायी गयी योजना और उसके ठीक ढङ्ग से संचालन में अनेक गुण हैं जिनका उल्लेख आगे किया जा रहा है

(१) **तेजी से आर्थिक विकास**—वर्तमान युग में संसार के अधिकांश देशों में भूख और गरीबी है। इसे दूर करने के लिए बहुत तेजी से आर्थिक विकास करने की आवश्यकता है। यह कार्य आर्थिक नियोजन द्वारा ही हो सकता है। आर्थिक नियोजन के बिना कृषि, उद्योग, व्यवसाय आदि में विकास तो होता है किन्तु उन्हीं क्षेत्रों में होता है जिनसे पूँजीपतियों को अधिक लाभ मिलने की आशा होती है। अतः आर्थिक विकास का चक्र बहुत धीरे घूमता है। आर्थिक नियोजन से विकास का पहिया अधिक गतिशील हो जाता है और सभी क्षेत्रों में प्रगति तथा उन्नति दिखलाई पड़ने लगती है।

(२) **आर्थिक विषमता में कमी**—पूँजीवादी अथवा मुक्त अर्थ-व्यवस्था में प्रायः गरीब और अमीर का भेद बहुत अधिक होता है। इसमें आर्थिक साधन कुछ व्यक्तियों के हाथ में संकेन्द्रित होते हैं। समाज का निरन्तर शोषण होता रहता है, गरीब-गरीब ही बने रहते हैं तथा अमीर अधिक अमीर होते चले जाते हैं। इस दुष्चक्र को आर्थिक नियोजन द्वारा तोड़ा जा सकता है क्योंकि नियोजन के द्वारा उत्पादन के साधन अनेक व्यक्तियों में बाँट दिये जाते हैं और आर्थिक सत्ता थोड़े से हाथों से निकल कर अनेक हाथों में बंट जाती है। अतः शोषण कम होने लगता है, राष्ट्रीय आय का वितरण ठीक होने लगता है और गरीबी अमीरी के भेद मिटने लगते हैं। वास्तव में, यह परिवर्तन इस बात पर निर्भर करता है कि नियोजन को कितनी ईमानदारी और सचाई से लागू किया जाता है।

(३) **रोजगार सबके लिए**—पूँजीवादी मुक्त व्यवस्था में इस बात की चिन्ता नहीं की जाती कि किन व्यक्तियों को रोजगार मिला हुआ है और कितने व्यक्ति बेरोजगार हैं। इस व्यवस्था में "शक्तिशाली व्यक्ति ही जीवित रहते हैं" जिसका अर्थ यह है कि रोजगार उन व्यक्तियों को मिलता है जिनके पास राजनीतिक या अन्य प्रकार की शक्ति है। अनेक व्यक्ति बेरोजगार रह जाते हैं। आर्थिक नियोजन का लक्ष्य आर्थिक लाभ कमाना नहीं, व्यक्तियों को रोजगार देना है। यदि नियोजन ठीक ढङ्ग से किया जाय तो समाज का कोई भी व्यक्ति बेरोजगार नहीं रहेगा और समाज में बढ़ता हुआ व्यापक असन्तोष धीरे-धीरे कम होने लगेगा।

(४) **सामाजिक परजीविता का अन्त**—मुक्त बाजार व्यवस्था में जिन लोगों ने उत्तराधिकार में लाखों करोड़ों रुपये की सम्पत्ति प्राप्त कर ली है या जिन्हें लगे लगाये कारखाने मिल गये हैं वह बिना परिश्रम किये ही खूब आमदनी प्राप्त करते रहते हैं जबकि लाखों व्यक्ति दिन-रात परिश्रम करके भी ठीक प्रकार जीवन निर्वाह

नहीं कर सकते। आर्थिक नियोजन में **कर व्यवस्था** तथा आय के वितरण का क्रम ऐसा होता है कि सम्पत्ति धीरे-धीरे काम न करने वाले व्यक्तियों के हाथ से निकाली जाती है और काम करने वाले वर्ग में बंटती जाती है। यदि सरकार चाहे तो इस क्रम में तेजी कर परजीविता (Parasitism) को समाप्त कर सकती है। वास्तव में आर्थिक नियोजन एक माध्यम है जिसके द्वारा सबको परिश्रम करने के लिए बाध्य किया जा सकता है।

(५) **मूल्यों में स्थायित्व**—पूँजीवादी व्यवस्था एक स्पर्द्धात्मक व्यवस्था होती है जिसमें सरकार प्रायः किसी प्रकार के नियन्त्रण आदि लागू नहीं करती। इस व्यवस्था में अनेक बार पूँजीपति वस्तुओं के कृत्रिम अभाव की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं जिससे मूल्यों में वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार मूल्यों में उतार-चढाव द्वारा कुछ व्यक्ति अतुल धन-राशि कमा लेते हैं और निर्धन तथा सामान्य वर्ग के व्यक्तियों को बहुत कष्ट उठाना पड़ता है।

आर्थिक नियोजन एक नियन्त्रित व्यवस्था होती है जिसमें सरकार वस्तु मूल्यों को नियन्त्रित रखती है। मूल्यों में उतार-चढ़ाव नहीं होने दिये जाते जिससे साधारण जनता को सब वस्तुएँ नियमित रूप में ठीक मूल्य पर मिलती रहती हैं और सरकार की योजनाओं पर खर्च में भी वृद्धि नहीं होने पाती। इस प्रकार मूल्यों पर नियन्त्रण रखने से व्यापार चक्र नहीं आने पाते (जिनमें मूल्यों में भयानक उतार-चढ़ाव होने का डर रहता है)।

(६) **प्राकृतिक साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग**—आर्थिक नियोजन में वैसे तो सभी क्षेत्रों के विकास का प्रयत्न किया जाता है किन्तु कुछ क्षेत्रों के विकास पर विशेष ध्यान दिया है ताकि राष्ट्रीय आय में तेजी से वृद्धि हो सके। इस प्रकार देश के पास जितने प्राकृतिक तथा मानवी साधन है उनको इस ढङ्ग से काम में लिया जाता है कि कम मूल्य पर अधिक से अधिक उत्पादन हो सके। वास्तव में, आर्थिक नियोजन विकास की वह प्रणाली है जिसमें राष्ट्रीय साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग किया जाता है।

(७) **सामाजिक सेवाओं का विस्तार**—आर्थिक नियोजन सदा बहुमुखी होता है जिसमें भूमि, उद्योग तथा व्यवसाय आदि के विकास के साथ-साथ शिक्षा, चिकित्सा आदि सामाजिक सेवाओं की सुविधाओं का भी तेजी से विस्तार किया जाता है। इन सुविधाओं का विस्तार किये बिना आर्थिक विकास में भी पर्याप्त तेजी नहीं आ सकती किन्तु पूँजीवादी व्यवस्था इन सुविधाओं की कोई चिन्ता नहीं करती।

सामाजिक सेवाओं का विस्तार करने से देश का नागरिक अपने आप को एक प्रतिष्ठित तथा गौरवशाली व्यक्ति समझने की स्थिति में होता है। इस दृष्टि से आर्थिक नियोजन समाज के प्रत्येक व्यक्ति को गौरव प्रदान करता है।

(८) **सन्तुलित विकास**—प्रत्येक देश में कुछ भाग ऐसे होते हैं जो अन्य भागों से अधिक पिछड़े हुए होते हैं। इन भागों में सड़कें, रेलें, नहरें आदि बनाने या

कल-कारखाने लगाने में अधिक पूँजी खर्च करनी पड़ती है और लाभ कम होता है। अतः सामान्य स्थिति में यह भाग सदा पिछड़े हुए ही रह जाते हैं। आर्थिक नियोजन में प्रायः पिछड़े हुए भागों के विकास पर विशेष ध्यान दिया जाता है ताकि यह भाग भी देश के अन्य क्षेत्रों के समान स्तर पर आ सकें। इस प्रकार आर्थिक नियोजन सन्तुलित आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करता है जिससे समाज का पिछड़ापन जल्दी दूर हो जाता है।

(९) **जनता की आकांक्षाओं का प्रतीक**—वर्तमान युग में अधिकतर देशों में प्रजातन्त्रीय सरकारें हैं। प्रजातन्त्र में जनता के प्रतिनिधि प्रायः आर्थिक विकास के अनेक वायदे करते हैं। जनता भी यह आशा करती है कि उनके द्वारा चुनी गयी सरकार उनके आर्थिक उत्थान के लिए महत्त्वपूर्ण कदम उठायेगी। इस प्रकार प्रजातन्त्रीय सरकारों से जनता अनेक आशाएँ लगाती है। इन आशाओं तथा आकांक्षाओं को आर्थिक नियोजन के माध्यम से पूरा किया जा सकता है क्योंकि आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत आर्थिक विकास के अनेक कार्यक्रम बनाये जाते है जिनसे जनता को अधिक रोजगार मिलता है, उसकी आय में वृद्धि होती है तथा जीवन स्तर ऊँचा होता है।

(१०) **उचित स्वरूप तथा संचालन आवश्यक**—आर्थिक नियोजन के यह सब लाभ तभी उपलब्ध हो सकते हैं जबकि सरकार योजना बनाने में सब क्षेत्रों के व्यक्तियों का उचित सहयोग प्राप्त करे और सम्पूर्ण निष्ठा, सचाई तथा ईमानदारी से योजना बनाकर उसके संचालन का भार भी श्रेष्ठ व्यक्तियों को सौंप दे। इस सम्बन्ध में यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि एक घटिया योजना भी श्रेष्ठ व्यक्तियों के हाथ में आकर उचित फल देती है जबकि एक श्रेष्ठ योजना भी भ्रष्ट तथा अवांछनीय व्यक्तियों के हाथ में आकर असफल हो जाती है। अतः आर्थिक नियोजन के वास्तविक लाभ प्राप्त करने के लिए देश में सबल, सजग, समर्थ, सक्रिय तथा ईमानदार शासन तथा प्रशासन की व्यवस्था करना आवश्यक है।

आर्थिक नियोजन की कमियाँ या दोष :

यह प्रायः देखा गया है कि प्रत्येक अच्छी बात का एक दूसरा पहलू भी होता है जिसमें उसकी कमियाँ अथवा दोष दिखलायी पड़ते हैं। अनेक बार यह दोष गलत नीति या गलत संचालन के कारण उत्पन्न होते है। कभी-कभी किसी व्यवस्था में ही आधारभूत बुराइयाँ छिपी रहती हैं। आर्थिक नियोजन के भी कुछ दोष बतलाये गये हैं जो निम्नलिखित है :

(१) **नौकरशाही का प्रभुत्व**—आर्थिक नियोजन में सरकारी उद्योगों का प्रभुत्व रहता है। सरकारी उद्योग प्रायः प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों की देख-रेख मे चलाये जाते है जिनको उद्योग तथा व्यवसाय चलाने का तनिक भी अनुभव नही होता। यह व्यक्ति जिस परम्परा में पले हुए होते हैं उसमें काम प्रायः

धीरे-धीरे होता है, कागजी कार्यवाही बहुत होती है। सरकारी कर्मचारियों के इस रवैये के कारण ही आर्थिक नियोजन में सफलता नहीं मिलती।

(२) **प्रोत्साहनों का अभाव**—नियोजन की परम्परा ऐसी है कि उसमें प्रत्येक क्षेत्र केवल निर्धारित सीमा में काम करता है। किसी के लिए नया काम करने या नयी दिशा में सोचने का अवसर नहीं होता। अतः नयी दिशाओं में सोचने या क्रियात्मक दृष्टिकोण अपनाने का क्रम समाप्त हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति बनी बनायी लकीरों पर कोल्हू के बैल की भाँति आँखों पर पट्टी बाँधे चला जाता है क्योंकि नया काम करने या अधिक काम करने की न तो स्वतन्त्रता होती है, न उसका फल ही मिलता है। इस प्रकार प्रोत्साहनों के अभाव में प्रायः बहुत सीमित मात्रा में ही विकास हो पाता है।

(३) **भ्रष्टाचार तथा चोर बाजारी**—आर्थिक नियोजन में नियन्त्रण, लाइसेंस, परमिट आदि के कारण सरकारी कर्मचारियों तथा अधिकारियों का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है। लोगों को बार-बार इनके पास जाना पड़ता है। इनकी कार्यप्रणाली ढीली और सुस्त होने के कारण कुछ व्यक्ति (जिनके पास काम अधिक है) अपना काम जल्दी करवाने के लिए रिश्वत का सहारा लेने लग जाते हैं। इस प्रकार लाइसेंस और परमिट दिलवाने वालों का एक नया वर्ग पैदा हो जाता है जो सारे प्रशासन तथा आर्थिक तन्त्र में भ्रष्टाचार फैला देता है। अनेक वस्तुएँ जो लाइसेंस या परमिट से मिलती हैं चोर बाजार में ऊँचे मूल्यों पर बिकने लगती हैं। इस प्रकार नियन्त्रणों के कारण सारे समाज में भ्रष्टाचार व्याप्त हो जाता है।

(४) **उपभोक्ता की अवहेलना**—आर्थिक नियोजन में प्रायः वस्तुओं की पूर्ति सरकारी अधिकार में रहती है। सरकार के आदेश से ही वस्तुओं का आयात होता है तथा देश में उत्पन्न वस्तुएँ सरकारी आदेश से ही वितरित होती हैं। अतः उपभोक्ता की स्थिति बिल्कुल गुलाम सरीखी हो जाती है। उसे जो वस्तु मिल जायें उन्हीं पर गुजारा करना पड़ता है। अनेक बार उसे जीवन की अति आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करने में भी कठिनाई होती है। कभी-कभी वह वस्तुएँ बहुत महँगे भाव भी खरीदनी पड़ती हैं।

(५) **व्यावसायिक स्वतन्त्रता नहीं**—आर्थिक नियोजन लागू होने पर अनेक व्यवसाय और कार्य तो सीधे सरकारी अधिकार या नियन्त्रण में आ जाते हैं अतः जनता को वही व्यवसाय चुनने पड़ते हैं जिनकी सरकार द्वारा अनुमति होती है। इस प्रकार धन्धा या व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है।

(६) **तानाशाही**—नियोजित अर्थ-व्यवस्था में राजनीतिक सत्ता कुछ व्यक्तियों के हाथ में होती है। यदि उनके दल को अत्यधिक बहुमत प्राप्त होता है तो वह तानाशाह की तरह व्यवहार करने लगते हैं। धीरे-धीरे जनता की आवाज का महत्त्व कम होने लगता है। और मनमाने काम होने लगते हैं। इससे समाज में व्यापक

असन्तोष उत्पन्न हो जाता है और खून-खच्चर तथा विद्रोह की घटनाएँ घटने लगती हैं।

(७) गुप्तता – आर्थिक नियोजन में अनेक बार सत्ताधारी दल गुप्त रूप से अपनी नीतियाँ लागू करने का प्रयत्न करता है। अनेक क्षेत्रों से सम्बन्धित बातें गुप्त रखी जाती है। इससे पर्दे के पीछे अनेक बार आर्थिक भ्रष्टाचार पनपने लगता है।

(८) राजनीतिक उद्देश्य—अनेक बार कुछ योजनाएँ सत्ताधारी दल के राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए बनायी जाती है ताकि कुछ प्रभावशाली व्यक्ति सदा कुर्सी पर बने रह सकें। इस प्रकार के राजनीतिक पक्षपात से कुछ इने-गिने वर्गों को लाभ पहुँचता है और जनता के धन का दुरुपयोग होता है। जिन व्यक्तियों का राजनीतिक प्रभाव नही है या जो क्षेत्र सत्ताधारी दल के साथ नहीं होते उनको हानि उठानी पड़ती है।

उपसंहार—इससे पूर्व दिये गये विवरण से स्पष्ट है कि आर्थिक नियोजन एक वरदान भी है और अभिशाप भी। यदि आर्थिक नियोजन के पीछे पूर्वाग्रह नही है, व्यक्तिगत दलगत या राजनीतिक स्वार्थ नही है, केवल राष्ट्रीयता की भावना है तो वह सबके लिए लाभकारी होगा। इसके पीछे 'बहुजन सुखाय, बहुजन हिताय' का आदर्श होने के कारण उससे अधिकांश व्यक्तियों को लाभ ही होगा। आर्थिक नियोजन को निकम्मे, काहिल और घटिया चरित्र के व्यक्तियों से बचाना होगा क्योंकि उनकी छाया ही किसी श्रेष्ठ कार्य को कलंकित करने के लिए पर्याप्त है।

अभ्यास प्रश्न

१. आर्थिक नियोजन का क्या अर्थ है ? नियोजन की आवश्यकता क्यों पड़ती है।
२. आर्थिक नियोजन की विशेषताओं पर टिप्पणी लिखिए।
३. आर्थिक नियोजन कितनी प्रकार के हो सकते है ? प्रत्येक का संक्षिप्त ब्यौरा देकर बतलाइये, भारत में किस प्रकार का नियोजन अपनाया गया है ?
४. कम विकसित देशों में आर्थिक नियोजन की क्या कठिनाइयाँ है ? क्या इन देशों के लिए आर्थिक नियोजन उपयुक्त है ?
५. आर्थिक नियोजन के महत्त्व पर प्रकाश डालिए।
६. आर्थिक नियोजन के गुण-दोषों का विवेचन कीजिए।

६ भारत में आर्थिक नियोजन का विकास

(EVOLUTION OF ECONOMIC PLANNING IN INDIA)

भारत में अंग्रेजी राज की सबसे उल्लेखनीय देन यह रही कि अंग्रेजों ने इस देश का जी भरकर आर्थिक शोषण किया। उन्होंने अपने अधीन अन्य बस्तियों जैसे कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड मे आर्थिक विकास के लिए खूब प्रयत्न किया और इन देशों को आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होने में सहायता की परन्तु इन देशों के निवासी गोरे अंग्रेजों की ही सन्तान थे। भारत में रहने वाले व्यक्तियों का रंग काला था और अंग्रेजों ने काले लोगों को कभी भी गोरों के समान स्वीकार नहीं किया। अतः भारत मे अंग्रेजो का निरन्तर यही प्रयत्न रहा कि भारत मूल रूप में एक खेतिहर देश बना रहे ताकि इंगलैंड को भारत का कच्चा माल आसानी से मिलता रहे और इंगलैंड का निर्मित माल भारत की मंडियों मे बिक सके। किसी देश को राजनीतिक गुलामी का इससे बड़ा और क्या मूल्य चुकाना पड़ सकता है।

महात्मा गांधी और नियोजन—राष्ट्रपिता महात्मा गाधी का यह मत था कि भारत को अंग्रेजी शासन से मुक्त करना तो केवल राजनीतिक उद्देश्य-मात्र था, असली काम देश के करोड़ों अध-भूखे, अध-नगे इन्सानों को गरीबी के रसातल से उठकर सम्मानजनक जीवन प्रदान करना था। यह काम आर्थिक नियोजन द्वारा ही सम्भव था और आर्थिक नियोजन अपनाने के लिए अंग्रेजों की गुलामी से मुक्त होना आवश्यक है। इसीलिए स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए १९२१, १९३१, १९४२ तथा बाद के वर्षों में आन्दोलन किये गये। इन आन्दोलनों के साथ-साथ विदेशी माल का बहिष्कार किया गया तथा खादी को राष्ट्रीय परिधान के रूप में अपनाया गया। यह कदम आर्थिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए उठाये गये।

नियोजन का विचार—भारत में आर्थिक नियोजन का विचार सबसे पहले प्रसिद्ध इंजीनियर श्री एम० विश्वेश्वरैया ने दिया जिन्होंने १९३४ में **भारत के लिए नियोजित अर्थ-व्यवस्था (Planned Economy for India)** नाम की पुस्तक

प्रकाशित करवाई। इस पुस्तक में भारत की राष्ट्रीय आय को दुगना करने की योजना प्रस्तुत की गयी थी।

सन् १९३८ में भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष सुभाषचन्द्र बोस की अध्यक्षता में एक सम्मेलन हुआ जिसमें वह प्रस्ताव पास किया गया कि भारत की गरीबी, बेरोजगारी, राष्ट्रीय सुरक्षा तथा आर्थिक पुनरुत्थान के लिए देश का औद्योगिक विकास करना आवश्यक है और औद्योगिक विकास के लिए एक व्यापक आर्थिक योजना बनायी जानी चाहिए। इस सम्मेलन ने एक योजना आयोग की नियुक्ति का सुझाव दिया।

राष्ट्रीय नियोजन समिति

(National Planning Committee)

कॉंग्रेस दल के सम्मेलन के इस सुझाव पर दल द्वारा एक राष्ट्रीय नियोजन समिति नियुक्ति की गयी। इस समिति के अध्यक्ष श्री जवाहर लाल नेहरू तथा महामन्त्री प्रसिद्ध अर्थशास्त्री के० टी० शाह थे।

राष्ट्रीय नियोजन समिति ने देश की अर्थ-व्यवस्था को २९ वर्गों मे विभाजित किया और प्रत्येक वर्ग का विस्तृत अध्ययन कर रिपोर्ट देने के लिए अलग-अलग उप-समितियों की नियुक्ति की गयी। द्वितीय युद्धकाल में इन समितियो का काम बन्द हो गया किन्तु युद्ध की समाप्ति के पश्चात् इन समितियों द्वारा अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी गयी। इन रिपोर्टों में विभिन्न क्षेत्रों के आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त मूल्यवान एवं व्यावहारिक सुझाव दिये गये थे।

नियोजन तथा विकास विभाग—द्वितीय महायुद्ध काल में, भारत मे आर्थिक नियोजन के पक्ष मे बहुत अच्छा वातावरण बना और औद्योगिक क्षेत्रों में नियोजित विकास को बहुत समर्थन मिला। इस वातावरण से प्रेरित होकर भारत सरकार ने १९४४ में एक नियोजन तथा विकास विभाग की स्थापना की। इस विभाग ने युद्ध के बाद भारत के आर्थिक विकास की योजना बनाने का काम अपने हाथ में लिया।

बम्बई योजना

(Bomaby Plan)

भारत मे आर्थिक नियोजन सम्बन्धी वातावरण का अनुमान इस बात से भी लगता है कि सन् १९४४ में देश के आठ उद्योगपतियों ने देश के आर्थिक विकास के लिए एक योजना प्रकाशित की। यह योजना बम्बई योजना के नाम से प्रसिद्ध हुई तथा कुछ व्यक्तियों ने इसे टाटा-बिरला योजना का भी नाम दिया।

बम्बई योजना एक पन्द्रह वर्षीय योजना थी। इस काल में १०,००० करोड रुपया खर्च करने का सुझाव दिया गया था। इस योजना द्वारा खेती के उत्पादन में १३० प्रतिशत तथा उद्योगों के उत्पादन में ५०० प्रतिशत वृद्धि होने की आशा की गयी थी जिससे १५ वर्ष में प्रति व्यक्ति आय दुगुनी होने की आशा थी।

बम्बई योजना में कुल खर्च का ४४·८ प्रतिशत उद्योगों के विकास पर, १२.४ प्रतिशत खेती पर, ९·४ प्रतिशत संवाद वहन पर, ४·९ प्रतिशत शिक्षा पर, ४.५ प्रतिशत शिक्षा पर, २२.० प्रतिशत भवन निर्माण पर तथा शेष २·० प्रतिशत अन्य कार्यों पर खर्च करने की व्यवस्था की गयी।

बम्बई योजना उद्योगपतियों द्वारा बनायी गयी योजना थी जिसमें उद्योगों को ही अत्यधिक महत्त्व दिया गया था। कृषि के विकास के लिए इस योजना में विशेष जोर नहीं दिया गया।

इस योजना में जो १०,००० करोड़ रुपया खर्च करने की व्यवस्था थी उसमें से २६ प्रतिशत विदेशी सहायता से तथा शेष ७४ प्रतिशत आन्तरिक साधनों से प्राप्त करने की व्यवस्था की गयी जिसमें से लगभग ३४ प्रतिशत रकम घाटे के बजट से प्राप्त करने का सुझाव दिया गया।

बम्बई योजना को तीन पंचवर्षीय योजनाओं में विभाजित किया गया था। पहले पाँच वर्ष में उपभोक्ता उद्योगों तथा शेष दस वर्षों में आधारभूत उद्योगों का विकास करने की व्यवस्था की गयी थी।

यह योजना केवल आधार के रूप में दी गयी थी ताकि आगे विचार विमर्श के लिए वातावरण बन सके। योजना का यह उद्देश्य निश्चय ही सफल हो गया क्योंकि इसके तुरन्त बाद ही कई अन्य योजनाएँ भी प्रकाशित की गयीं।

गाँधीवादी योजना
(Gandhian Plan)

बम्बई योजना एक ऐसी योजना थी जिसमें बड़े उद्योगों के विकास पर बल दिया गया था। इसी वर्ष (१९४४) आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल ने एक योजना प्रकाशित की जिसमें दस वर्ष के भीतर भारतीय जनता के भौतिक तथा सांस्कृतिक स्तर को उठाने का लक्ष्य रखा गया। इस योजना में गाँधीजी के विचारों के अनुकूल आत्मनिर्भरता को विशेष महत्त्व दिया गया और कुटीर तथा लघु उद्योगों के विकास पर अधिक जोर दिया गया। इस योजना में जनता की न्यूनतम आवश्यकताएँ पूरी करने का लक्ष्य रखा गया था जिसके अनुसार १० वर्ष के भीतर प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम २० गज कपड़ा वार्षिक मिल सके तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिए कम से कम १०० वर्ग फीट आवास का स्थान मिल सके।

गाँधीवादी योजना में भूमि का राष्ट्रीयकरण करने, चकबन्दी तथा फसलों की बीमा योजना सम्बन्धी सुझाव दिये गये थे। योजना में भूमि का लगान कुल उत्पत्ति का छठा या आठवाँ भाग निश्चित करने का सुझाव दिया गया।

गाँधीवादी योजना मुख्य रूप में देश की ग्रामीण व्यवस्था को आत्मनिर्भर बनाने तथा रोजगार के अधिक साधन सुलभ करने के पक्ष में थी। उसका आधार उद्योग नहीं खेती था।

जन योजना

(*People's Plan*)

बम्बई योजना तथा गाँधीवाद योजना के अतिरिक्त श्रमिक सघो की ओर से एक योजना प्रकाशित की गयी। इस योजना पर दस वर्ष मे १५००० करोड़ रुपया खर्च करने की व्यवस्था थी। योजना मे यह मत प्रकट किया गया था कि आय देने वाली परियोजनाओ पर पहले तीन वर्ष मे १६०० करोड़ रुपया खर्च किया जाना चाहिए। इन योजनाओ से जो आय होगी वह शेप योजना को पूरा करने के लिए पर्याप्त होगी।

जन योजना भी कृषि प्रधान थी। इसमे खेती मे सुधार करने के लिए नयी रीतियाँ अपनाने के कार्यक्रम सुझाये गये थे। इस योजना के प्रवर्तको का मत था कि खेती मे सुधार करने से किसानो की आय मे पर्याप्त वृद्धि हो सकती है जिससे औद्योगिक उत्पादन की माँग बढ सकती है। इस प्रकार खेती के विकास के माध्यम से उद्योगो के विकास की कल्पना की गयी थी।

जन योजना के अतिरिक्त प्रसिद्ध क्रान्तिकारी एम० एन० राय ने भी एक योजना रखी जिसमे श्रमिको की उत्पादकता बढाने का सुझाव दिया गया था और उद्योगो के विकास पर जोर दिया था।

सरकार की ओर से प्रयत्न

भारत सरकार ने आर्थिक नियोजन के लिए जो प्रयत्न किये उनमे पहला यह था कि जून १९४१ मे एक समिति की नियुक्ति की गयी जिसका काम देश के लिए एक योजना तैयार करना था। इस समिति को शीघ्र ही "पुर्ननिर्माण समिति" (Reconstruction Council) के रूप मे बदल दिया गया और भारत के वायसराय को इसका अध्यक्ष बनाया गया।

जून १९४४ मे भारत सरकार मे एक **नियोजन एवं विकास विभाग** स्थापित किया गया। इस विभाग के दो कार्य थे :

(i) प्रान्तो तथा राज्यो को अपने-अपने क्षेत्रो मे नियोजन मडल बनाना तथा उन्हे अपने क्षेत्रो के लिए विकास योजनाएँ बनाने के लिए तैयार करना ताकि उन योजनाओं को मिलाकर एक राष्ट्रीय योजना का स्वरूप दिया जा सके, और

(ii) सारे देश के विकास के लिए कुछ सामान्य सिद्धान्त निश्चित करना। इसका परिणाम यह हुआ कि राज्यो तथा प्रान्तो ने कुछ योजनाएँ बनानी आरम्भ की।

कृषि अनुसन्धान संस्था (Imperial Council of Agricultural Research)—ने भारत मे कृषि उत्पादन को पंद्रह वर्ष मे दुगुना करने के लिए एक योजना तैयार की। इस योजना मे भूमि सुधार, फसल नियोजन, कृषि ऋण तथा कृषि मूल्यो मे स्थायित्व लाने सम्बन्धी सुझाव दिये गये।

इंजीनियरों के नागपुर सम्मेलन ने देश में ४ लाख मील लम्बी सड़कें बनाने की योजना बनायी जिस पर ४५० करोड़ रुपया खर्च करने का अनुमान लगाया गया। इसी प्रकार रेल्वे, जहाज तथा वायुसेवा विभागों ने अपने-अपने क्षेत्रों में विकास की योजना तैयार की।

वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान संस्था (Council of Scientific and Industrial Research)—ने देश में राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला, राष्ट्रीय रसायन प्रयोगशाला, राष्ट्रीय धात्विक प्रयोगशाला, ईंधन शोध तथा शीशा उद्योग के लिए शोध संस्थान स्थापित करने की योजनाएँ तैयार कीं। इन योजनाओं पर पहले पाँच वर्ष में ६ करोड़ रुपये तथा बाद में प्रति वर्ष १ करोड़ रुपये के अनुदान देने का सुझाव दिया गया।

सलाहकार नियोजन मंडल—अक्तूबर १९४६ में भारत की अंतरिम राष्ट्रीय सरकार ने श्री के० सी० नियोगी की अध्यक्षता में एक सलाहकार नियोजन मंडल की स्थापना की। इस मंडल ने दिसम्बर १९४६ में अपनी रिपोर्ट में मत प्रकट किया कि देश में एक शक्ति सम्पन्न योजना आयोग की स्थापना की जानी चाहिए जिसका काम सरकार को सलाह देना हो।

१९४७ से १९५०—सन् १९४७ मे आजादी मिलते ही भारत सरकार को अनेक कठिन समस्याओं का सामना करना पड़ा। अतः आर्थिक नियोजन के सम्बन्ध में कोई विशेष कदम नहीं उठाया जा सका। सन् १९४८ में अखिल भारतीय कांग्रेस दल की **आर्थिक कार्यक्रम समिति** (Economic Programmes Committee) ने एक केन्द्रीय योजना आयोग की स्थापना का सुझाव दिया और जनवरी १९५० मे कॉंग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने इस सुझाव को शीघ्र कार्यान्वित करने की माँग की। तदनुसार जनवरी, १९५० मे ही राष्ट्रपति द्वारा योजना आयोग की नियुक्ति की गयी। १५ मार्च, १९५० के एक प्रस्ताव के अनुसार भारत सरकार द्वारा भारतीय योजना आयोग स्थापित कर दिया गया।

प्रथम पंचवर्षीय योजना
[FIRST FIVE YEAR PLAN]

भारतीय योजना आयोग द्वारा जुलाई, १९५१ में प्रथम पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा प्रस्तुत की गयी। यह योजना १ अप्रेल १९५१ से ३१ मार्च १९५६ तक के पांच वर्षों के लिए तैयार की गयी थी। इस योजना काल में कुल २०६९ करोड़ रुपया खर्च करने का कार्यक्रम बनाया गया जिसे बाद में बढ़ाकर २३७८ करोड़ रुपये कर दिया गया। **प्रथम योजना पर वास्तविक व्यय १९६० करोड़ रुपये हुआ।**

(क) **उद्देश्य** (Odjectives)—प्रथम पंचवर्षीय योजना भारत के आर्थिक विकास का पहला व्यवस्थित प्रयत्न था किन्तु इस योजना का मुख्य उद्देश्य देश मे

आर्थिक नियोजन के लिए एक वातावरण तैयार करना था और आगे आने वाली योजनाओं के लिए एक शक्तिशाली आधार बनाना था। इस दृष्टि से पहली योजना को आर्थिक नियोजन की भूमिका कहा जा सकता है।

इस बात का एक प्रमाण यह मिलता है कि प्रथम योजना के सामान्य उद्देश्य रखे गये जो किसी भी समाजवादी देश के आर्थिक विकास के लिए महत्त्वपूर्ण हो सकते है। उनमें से मुख्य निम्नलिखित है :[1]

(१) अधिकतम उत्पादन
(२) पूर्ण रोजगार
(३) आर्थिक समानता की उपलब्धि
(४) सामाजिक न्याय की व्यवस्था

प्रथम योजना मे यह स्वीकार किया गया कि इनमें से किसी भी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अलग से प्रयत्न नही किये जा सकते। यह सब एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। उदाहरण के तौर पर अधिकतम उत्पादन और पूर्ण रोजगार एक दूसरे से जुड़े हुए है। इसी प्रकार उत्पादन बढ़ाये बिना सामाजिक न्याय की कल्पना करना भी व्यर्थ है।

वास्तव मे प्रथम योजना का उद्देश्य **सभी क्षेत्रों का सन्तुलित विकास करना था ताकि देश की जनता के जीवन स्तर को ऊँचा उठाया जा सके।**

(ख) **प्राथमिकताएँ**—प्रथम योजना मे देश के विकास के लिए एक मजबूत आधार का निर्माण करने का लक्ष्य रखा गया था ताकि भविष्य की योजनाओं की पूर्ति मे सुविधा रहे। इसीलिए **खेती और सिंचाई** (जो देश की अर्थ-व्यवस्था के आधार हैं) पर कुल खर्च का ३१ प्रतिशत भाग खर्च किया जाय।

आर्थिक विकास के लिए **परिवहन तथा संचार** के साधनों की उन्नति बहुत महत्त्व रखती है। अतः पहली योजना में इन सुविधाओं का विस्तार करने के लिए कुल सार्वजनिक व्यय का २७ प्रतिशत व्यय किया गया।

तीसरा महत्त्वपूर्ण वर्ग **सामाजिक सुविधाओं** का है जिसमें शिक्षा, चिकित्सा, पीने का पानी आदि सम्मिलित हैं। प्रथम योजना काल मे इन सेवाओं पर लगभग २३ प्रतिशत रकम खर्च की गयी।

इस प्रकार पहली योजना मे **उद्योगों को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया** क्योंकि खेती, परिवहन के साधन, बिजली तथा पानी आदि की सुविधाओं के बिना उद्योगों का विकाश सम्भव नही था।

(ग) वित्त (Finance)—प्रथम योजना में लोक क्षेत्र द्वारा जो १९६० करोड़ रुपये की रकम खर्च की गयी उसका ९० प्रतिशत भाग (१७७२ करोड़) आन्तरिक

---

1 First Five Year Plan, p. 28.

साधनों से प्राप्त किया गया, केवल १८८ करोड़ रुपये अर्थात् लगभग १० प्रतिशत रकम की व्यवस्था विदेशी सहायता से की गयी।

(घ) राष्ट्रीय आय—प्रथम योजना काल में राष्ट्रीय आय में १२ प्रतिशत वृद्धि का लक्ष्य रखा गया था किन्तु वास्तविक वृद्धि १८ प्रतिशत हुई।

कृषि, सिंचाई तथा परिवहन के क्षेत्रों में आशा के अनुकूल प्रगति की गयी।

विश्लेषण—इससे पूर्व वह स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना एक सामान्य योजना थी। इसके लक्ष्य सामान्य थे तथा इसका मूल उद्देश्य विभिन्न क्षेत्रों में सन्तुलित विकास का वातावरण तैयार करना था। इस योजना में सामान्य धन राशि खर्च की गयी इसलिए विशेष आर्थिक कठिनाइयाँ उत्पन्न नहीं हुई। इसीलिए विदेशों से बहुत कम सहायता लेनी पड़ी। लगभग १२२ करोड़ रुपये के व्यापारिक घाटे की पूर्ति देश के विदेशी विनिमय कोषों से लेकर पूरी कर ली गयी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह थी कि इससे भारत में आर्थिक नियोजन का स्वस्थ आधार तैयार हो गया।

द्वितीय पचवर्षीय योजना
[SECOND FIVE YEAR PLAN]

पहली पंचवर्षीय योजना के लिए यह कहा जाता है कि "उसके द्वारा एक समाजवादी समाज की स्थापना की नीव रखी गयी है।"—एक ऐसी सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था की जो जाति, वर्ग तथा विशेप सुविधा से मुक्त तथा स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र के मूल्यों पर आधारित थी जिसमें रोजगार तथा उत्पादन मे वृद्धि और अधिकतम सामाजिक न्याय प्राप्ति की आशा थी।

दूसरी योजना काल मे ग्रामीण भारत का पुनर्निर्माण करने, औद्योगिक विकास की नीव रखने, समाज मे आर्थिक दृष्टि से दुर्बल व्यक्तियों की उन्नति के लिए अधिकतम अवसरों की व्यवस्था तथा देश के सभी भागो का सन्तुलित विकास करने का लक्ष्य रखा गया। यह योजना १ अप्रेल, १९५६ से ३१ मार्च, १९६१ की अवधि के लिए थी।

(क) उद्देश्य[1]—दूसरी योजना के उद्देश्यो मे कुछ निश्चितता थी। यह उद्देश्य निम्नलिखित थे :

(१) राष्ट्रीय आय में २५ प्रतिशत की वृद्धि करना ताकि देश का जीवन स्तर ऊँचा हो सके।

(२) देश का तीव्र गति से औद्योगीकरण करना। इसके लिए आधारभूत उद्योगों (कोयला, इस्पात आदि) के विकास को प्राथमिकता दी गयी।

(३) रोजगार के साधनों में तेजी से वृद्धि करना, तथा

---

1 Second Five Year Plan, p. 24.

(४) आय तथा सम्पत्ति की असमानता कम करना और आर्थिक सत्ता का उचित रूप में वितरण करना।

यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो पता चलेगा कि यह चारों उद्देश्य एक-दूसरे से जुड़े हुए है। देश में उद्योगों का विकास करने से एक ओर तो उत्पादन में वृद्धि होती है दूसरी ओर रोजगार के नये साधन उत्पन्न होते है। रोजगार में वृद्धि होने से भी राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है। इस प्रकार उत्पादन तथा रोजगार में वृद्धि—दोनों राष्ट्रीय आय की वृद्धि मे सहायक होते हैं। राष्ट्रीय आय में होने वाली यह वृद्धि इने-गिने व्यक्तियो के हाथ में न चली जाय इसके लिए वितरण की न्यायपूर्ण प्रणाली स्थापित करनी आवश्यक है।

इस प्रकार पहली योजना में समाजवाद का जो क्रम अपनाया गया उसकी दूसरी योजना मे पुष्टि की गयी और उत्पादन तथा वितरण की व्यवस्थाओं को क्रान्तिकारी स्वरूप दिया गया।

(ख) **आकार और साधन**—दूसरी योजना में सरकार द्वारा ४६०० करोड़ रुपया खर्च करने की व्यवस्था की गयी थी। इस रकम के ७६ प्रतिशत भाग (३५१० करोड़ रुपये) की व्यवस्था आन्तरिक साधनों से तथा शेष २४ प्रतिशत भाग (१०९० करोड़ रुपये) की व्यवस्था विदेशी सहायता द्वारा की गयी।

द्वितीय योजना काल मे नये करों से पर्याप्त रकम वसूल की गयी किन्तु लगभग ९४८ करोड़ रुपये घाटे के बजट बना कर (नये नोट निकाल कर) प्राप्त किये गये।

दूसरी योजना उद्योग प्रधान योजना थी अतः मशीनें आदि खरीदने के लिए बहुत अधिक मात्रा मे विदेशी मुद्रा की आवश्यकता थी। यह अनुमान लगाया गया था कि योजना के दस वर्षो मे कुल ११०० करोड़ रुपये का घाटा विदेशी व्यापार तथा लेन देन मे रहेगा किन्तु १९५८ में ही भुगतान की कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गयीं। इन कठिनाइयो को दूर करने के लिए ६०० करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा तो जमा कोषो मे से निकाली गयी। अमरीका के पी० एल० ४८० के अन्तर्गत लगभग ५३४ करोड़ रुपये की वस्तुएँ आयात की गयीं। (इनका भुगतान बहुत वर्षो बाद करना है) तथा ८७२ करोड़ रुपये की विदेशी सहायता का प्रयोग लोक और निजी क्षेत्र के उद्योगों के विकास के लिए किया गया। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष से भी ५५ करोड़ रुपये के शुद्ध ऋण लिए गये :

इस प्रकार दूसरी योजना के पाँच वर्षो में विदेशी व्यापार में अधिक घाटा रहने तथा औद्योगिक विकास के लिए अधिक रकम की माँग होने के कारण बहुत अधिक विदेशी सहायता लेनी पड़ी।

(ग) **प्राथमिकताएँ**—पहली योजना में खेती, सिचाई, बिजली तथा परिवहन के साधनों के विकास पर अधिक जोर दिया गया था। इन क्षेत्रों को दूसरी योजना में भी काफी महत्त्व दिया गया किन्तु दूसरी योजना में विशेष महत्त्व बड़े पैमाने के उद्योग तथा खनिजों को दिया गया। इन पर कुल सरकारी व्यय की २० प्रतिशत

रकम खर्च करने का निश्चय किया गया जबकि पहली योजना में उद्योगों पर केवल ४ प्रतिशत रकम खर्च करने की व्यवस्था थी।

परिवहन तथा संचार साधनों के विकास पर पहली योजना में २७ प्रतिशत राशि व्यय की गयी थी जबकि दूसरी योजना में इस मद में २८ प्रतिशत रकम खर्च करने की व्यवस्था थी। इसका कारण यह था कि परिवहन तथा संचार के साधनों में विकास के बिना किसी भी क्षेत्र का विकास तेज नहीं किया जा सकता था।

खेती और सिंचाई के लिए पहली योजना मे ३१ प्रतिशत रकम खर्च की गयी थी जबकि दूसरी योजना में इन दोनों पर मिला कर कुल खर्च का २० प्रतिशत भाग व्यय करने का निश्चय किया गया। इस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि दूसरी योजना में खेती और सिंचाई की अवहेलना की गयी।

(घ) राष्ट्रीय आय तथा अन्य—दूसरी योजना मे देश की राष्ट्रीय आय में २५ प्रतिशत वृद्धि का लक्ष्य रखा गया था किन्तु वास्तविक वृद्धि केवल २० प्रतिशत ही की जा सकी। किन्तु दूसरी योजना काल मे स्टील, खाद्य, कोयला, मशीन आदि क्षेत्रों में अनेक नये और बड़े-बड़े औद्योगिक प्रतिष्ठान स्थापित किये गये जिनसे देश में एक शक्तिशाली औद्योगिक आधार का निर्माण हो गया। यह भविष्य की योजनाओं के लिए एक महत्त्वपूर्ण योगदान था।

विश्लेषण—पहली योजना में देश के आर्थिक तन्त्र का जो ढाँचा तैयार किया गया था, दूसरी योजना में उसे मजबूत किया गया। इसका अनुमान इस बात से लगता है कि दूसरी योजना के पाँच वर्षों में औद्योगिक उत्पादन का सूचक अंक जो १९५५-५६ में १३९ था (१९५०-५१=१००) वह १९६०-६१ मे १९४ हो गया अर्थात् उत्पादन में लगभग ५० प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसमें मशीनों तथा रसायनों का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण था क्योंकि मशीनों का उत्पादन लगभग अढ़ाई गुना हो गया तथा रसायनों के उत्पादन में लगभग ६० प्रतिशत वृद्धि हुई।

दूसरी योजना की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह थी कि लोक क्षेत्र में इस्पात के तीन नये कारखाने स्थापित किये गये, राँची में एक भारी इंजीनियरी कारखाना तथा भोपाल में भारी बिजली के सामान का कारखाना लगाया गया। इनके अतिरिक्त मशीन, खाद तथा बिजली का सामान बनाने के अनेक कारखाने स्थापित किये गये जिनसे भारत के औद्योगिक विकास का नया अध्याय आरम्भ हो गया।

तीसरी पंचवर्षीय योजना
[THIRD FIVE YEAR PLAN]

तीसरी योजना का निर्माण करने वालों को पहली दो योजनाओं के अनुभव का लाभ प्राप्त था। अतः योजना बनाते समय पिछले दस वर्षों की सफलताओं और असफलताओं का ध्यान रखा गया, इसके अतिरिक्त भारत के संविधान में जो सामाजिक दायित्व और आर्थिक उद्देश्य निश्चित किये गये हैं उन्हें पूरा करने के लिए अधिक स्पष्ट कार्यक्रम निर्धारित किये गये।

(क) उद्देश्य[1]— तीसरी योजना के निम्नलिखित उद्देश्य निश्चित किये गये :

(१) राष्ट्रीय आय—में प्रतिवर्ष ५ प्रतिशत की वृद्धि करना। इसके लिए पूँजी विनियोग इस तरह करने का प्रबन्ध किया गया कि आय में वृद्धि की दर आगे के वर्षों में भी बनी रह सके।

(२) कृषि—खाद्यान्नो मे आत्मनिर्भरता प्राप्त करना और उद्योगो की आवश्यकता के लायक तथा निर्यात के लिए भी कृषि पदार्थो के उत्पादन में वृद्धि करना।

(३) उद्योग—इस्पात, रसायन, ईंधन तथा शक्ति का उत्पादन करने वाले आधारभूत उद्योगों का विस्तार करना तथा मशीनें बनाने वाले उद्योगों की स्थापना करना ताकि अगले दस वर्षो मे देश का औद्योगीकरण अपने साधनों द्वारा किया जा सके।

(४) रोजगार—देश की मानवी शक्ति का अधिकतम उपयोग करना तथा रोजगार के साधनो मे पर्याप्त वृद्धि करना।

(५) आर्थिक समानता—समाज मे सबके लिए समान अवसर प्रदान करना तथा आय और सम्पत्ति के न्यायपूर्ण वितरण की व्यवस्था करना।

तीसरी योजना के उद्देश्यो से स्पष्ट है कि संख्या १,४ तथा ५ में वही बातें कही गयी है जो पहली और दूसरी योजना के उद्देश्यो मे कही गयी थीं। उद्देश्य नम्बर २ मे पहली बार कृषि पदार्थो मे आत्मनिर्भर होने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। वास्तव मे देश प्रति वर्ष ३००-४०० करोड़ रुपये का अनाज तथा रुई और पटसन आयात कर रहा था जिससे देश की अर्थ-व्यवस्था पर बहुत भार था। इस भार को कम करने के लिए कृषि का विकास करने का विशेष निश्चय करना स्वाभाविक था।

तीसरी योजना के उद्देश्यों मे दूसरी महत्त्वपूर्ण बात आधारभूत उद्योगों का विस्तार करने तथा मशीने बनाने के उद्योगों की स्थापना करने सम्बन्धी निश्चय है। इस्पात, रसायन तथा कोयला आदि वस्तुएँ अन्य उद्योगों की स्थापना और विकास के लिए बहुत आवश्यक है। इसी प्रकार मशीन उद्योग भी देश के बाकी उद्योगों के आधार का काम करता है। इस दृष्टि से तीसरी योजना में कृषि की उन्नति और उद्योगों का विस्तार करने का निश्चय देश की अर्थ-व्यवस्था के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण कहा जा सकता है।

(ख) आकार तथा साधन—तीसरी योजना मे सरकारी क्षेत्र द्वारा कुल ७५०० करोड़ रुपया खर्च करने की व्यवस्था थी। वास्तविक व्यय ८५७७ करोड़ रुपये हुआ। इसमें से लगभग ५९ प्रतिशत (अर्थात ५०२१ करोड़ रुपये) की व्यवस्था आन्तरिक साधनों से की गयी, लगभग २८ प्रतिशत (२४२३ करोड़ रुपये) की व्यवस्था

1 Third Five Year Plan, p. 48

विदेशी सहायता से करनी पड़ी तथा शेष लगभग १३ प्रतिशत (११३३ करोड़ रुपये) रकम घाटे के बजट बना कर (नोट छाप कर) प्राप्त की गयी।

इस प्रकार तीसरी योजना पहली दोनों योजनाओं के मिले जुले आकार से भी बड़ी थी और इसके लिए काफी अधिक रकम विदेशी सहायता से प्राप्त करनी पड़ी। वास्तव में तीसरी योजना ने भारत को विदेशी सहायता पर बहुत अधिक निर्भर कर दिया। यह निश्चय ही एक गम्भीर स्थिति थी जिसका अनुमान योजना बनाने वाले नहीं कर सके।

(ग) प्राथमिकताएँ—दूसरी योजना की भाँति तीसरी योजना भी उद्योग प्रधान थी। इसमें उद्योग तथा खनिजों पर लगभग २५ प्रतिशत रकम खर्च करने का प्रावधान था। इस मद पर वास्तविक खर्च लगभग २० प्रतिशत किया गया। परिवहन तथा संचार पर लगभग १७ प्रतिशत राशि खर्च करने का निश्चय किया गया था किन्तु इन मदों पर वास्तविक खर्च लगभग २५ प्रतिशत हुआ। इस प्रकार उद्योग तथा परिवहन पर कुल मिला कर तीसरी योजना में लगभग ४५ प्रतिशत रकम खर्च की गयी।

तीसरी योजना की सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि **ग्रामीण तथा लघु उद्योगों पर** कुल व्यय का केवल ४ प्रतिशत भाग खर्च करने का निश्चय किया गया था जबकि वास्तविक **व्यय लगभग १५ प्रतिशत** हुआ। यह खर्च इस बात का परिचायक है कि तीसरी योजना में अधिक से अधिक व्यक्तियों को रोजगार देने के लिए गम्भीर प्रयत्न किये गये।

खेती, सिंचाई तथा बाढ़ नियन्त्रण पर मूल योजना में लगभग २० प्रतिशत रकम खर्च करने का अनुमान किया गया था और वास्तविक व्यय २० प्रतिशत ही किया गया। यही स्थिति अन्य क्षेत्रों (सामाजिक सेवाओं तथा शक्ति उत्पादन) की भी कही जा सकती है।

(घ) राष्ट्रीय आय—तीसरी योजना में राष्ट्रीय आय में प्रति वर्ष ५ प्रतिशत वृद्धि का अनुमान लगाया गया था। योजना काल में औसत वार्षिक वृद्धि ७७ प्रतिशत हुई किन्तु देश में इस अवधि में अत्यधिक मुद्रा स्फीति हुई जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आय में वास्तविक वार्षिक वृद्धि केवल २·८ प्रतिशत हुई। यह वृद्धि पहली दोनों योजना में हुई वृद्धि से बहुत कम थी।

यदि राष्ट्रीय आय में प्रति व्यक्ति वास्तविक वृद्धि का अनुमान लगाया जाय तो तीसरी योजना काल में यह वृद्धि केवल ०·६ प्रतिशत वार्षिक थी जो पहली दोनों योजना में हुई वृद्धि के आधे से भी कम थी। यह स्थिति निश्चय ही असन्तोषजनक एवं दुःखद कही जानी चाहिए।

विश्लेषण—तीसरी योजना की अवधि में देश के औद्योगिक विकास में बहुत उन्नति हुई। इस्पात, इंजीनियरी, कोयला, तेल, रसायन, खाद, बिजली, दवाएँ तथा लघु उद्योगों का तेजी से विकास हुआ। इतना होने पर भी कुल आर्थिक विकास की

वार्षिक दर केवल २·८ प्रतिशत रही। इसका मुख्य कारण यह था कि तीसरी योजना में कृषि क्षेत्र में अत्यधिक असफलता का मुख देखना पड़ा। योजना के चार वर्षों में अनाज तथा अन्य कृषि पदार्थों का उत्पादन बहुत कम रहा जिसके फलस्वरूप अन्न, कपास, पटसन आदि विदेशों से मगवाने पड़े। यहाँ तक कि खाद, तेल (सोयाबीन तथा सूरजमुखी) भी आयात करने पड़े ताकि वनस्पति घी तैयार किया जा सके और साधारण जनता की आवश्यकता की पूर्ति हो सके।

कृषि क्षेत्र मे असफलता के साथ-साथ तीसरी योजना मे **उद्योगों के क्षेत्र में भी जितनी आशा की गयी थी उतनी सफलता नहीं मिली।** यह अनुमान लगाया गया था कि औद्योगिक उत्पादन मे प्रति वर्ष ११ प्रतिशत की वृद्धि होगी किन्तु वास्तविक वृद्धि ७·८ प्रतिशत वार्षिक से अधिक नही रही।

तीसरी योजना की असफलता के कारण भारत सरकार एकदम असमंजस मे पड़ गयी कि आगे क्या किया जाय। देश मे वस्तुओ के मूल्यों मे निरन्तर वृद्धि हो रही थी जिसके फलस्वरूप श्रमिक आन्दोलनों मे वृद्धि हो गयी। जगह-जगह वेतन तथा महगाई भत्ते मे वृद्धि की माँग होने लगी जिसे पूरा करना बहुत कठिन था। इसका परिणाम यह हुआ कि **चतुर्थ योजना को स्थगित कर दिया गया।**

आर्थिक नियोजन का अवकाश काल—वार्षिक योजनाएँ

सन् १९६५-६६ से १९६८-६९ के तीन वर्ष आर्थिक नियोजन के अवकाश के वर्ष कहे जा सकते है। अधिकृत रूप मे तो सरकार ने इन वर्षो मे योजनाओं को स्थगित नही किया परन्तु व्यवहार मे ऐसा अपने आप हो गया। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना को अंतिम रूप नही दिया जा सका क्योंकि सरकार के सामने स्पष्ट मार्ग नही था कि वह क्या करे।

स्थगन के कारण—तीसरी योजना की समाप्ति के बाद भारत सरकार ने तीन वर्ष तक एक-एक वर्षीय योजनाएँ ही प्रकाशित की। चौथी योजना को अन्तिम रूप नही दिया जा सका। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित थे :

(१) **बढ़ती हुई महँगाई**—आर्थिक नियोजन के पन्द्रह वर्षों मे—विशेष कर तीसरी योजना के पांच वर्षो मे—प्रायः सभी वस्तुएँ बहुत महँगी हो गयी जिससे साधारण जनता को बहुत कष्ट हुआ। सरकार के प्रशासन व्यय मे भी बहुत वृद्धि हो गई। अतः सरकार इस समस्या पर गम्भीरता से विचार करने के लिए कुछ समय चाहती थी। अत. चतुर्थ योजना को स्थगित कर दिया गया।

(२) **तीसरी योजना की असफलता**—आर्थिक नियोजन के स्थगन का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि तीसरी योजना मे सरकार को कृषि तथा उद्योग—दोनो ही क्षेत्रों में भयानक असफलता का मुँह देखना पडा। इस योजना मे सरकार ने आर्थिक विकास तथा आत्मनिर्भरता की जो आशाएँ लगायी थी वह सब मिट्टी में मिल गयी। अतः नियोजन की पूरी नीति पर नये सिरे से विचार करना आवश्यक था। यह नियोजन को कुछ समय के लिए स्थगित कर देने से ही हो सकता था।

(३) **उद्योगों में मंदी**—तीसरी योजना की अवधि में भारत के सामने एक विचित्र समस्या यह उत्पन्न हुई कि एक ओर तो देश में मुद्रा स्फीति के कारण मूल्यों में वृद्धि हो रही थी, दूसरी ओर कुछ उद्योगों में मन्दी का दौर आरम्भ हो गया। इंजीनियरी तथा कुछ अन्य औद्योगिक इकाइयों के पास माल के स्टाक जमा होते चले गये क्योंकि इनके माल की माँग बहुत कम थी। अतः इन उद्योगों को बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ा। इस कठिनाई का समाधान करने में सरकार भी असफल रही। अतः थोड़े समय के लिए आर्थिक नियोजन को स्थगित करना ही श्रेयस्कर समझा गया।

(४) **आर्थिक सत्ता का संकेन्द्रण**—भारत की तीनों ही योजनाओं का एक लक्ष्य यह रहा कि देश में आय तथा सम्पत्ति का न्यायपूर्ण वितरण होना चाहिए तथा आर्थिक विषमता का अन्त होना चाहिए किन्तु आर्थिक विषमता में निरन्तर वृद्धि होती गयी और आर्थिक शक्ति का संकेन्द्रण निरन्तर बढ़ता गया। अतः सरकार ने देखा कि वह जिस समाजवाद की दिशा में जाने की घोषणा करती रही है, वह तो देश से निरन्तर दूर होता जा रहा है। इसलिए कुछ ठहर कर यह सोचना आवश्यक था कि समाजवाद के मार्ग मे क्या बाधाएँ हैं और नियोजन में सफलता क्यों नहीं मिल रही है? इसी उद्देश्य से नियोजन को कुछ समय के लिए स्थगित किया गया।

(५) **पूँजीपतियों का विरोध**—वैसे तो भारत के उद्योगपति तथा कुछ अन्य व्यक्ति आर्थिक नियोजन की मूलभूत धारणा का ही विरोध करते रहे हैं किन्तु तीसरी योजना की असफलता के कारण यह विरोध अत्यधिक हो गया। देश के सारे समाचार पत्र (जिनमें से अधिकतर पूँजीपतियों के स्वामित्व में हैं) आर्थिक नियोजन का सदा के लिए अन्त कर देने की माँग करने लगे। यह विरोध इतना तीव्र था कि न चाहने पर भी नियोजन का नियमित क्रम कुछ समय के लिए स्थगित हो गया।

एकवर्षीय योजनाएँ—तीसरी योजना की समाप्ति पर सरकार यह चाहती थी कि आर्थिक नियोजन के सारे दर्शन पर ही एक बार पुनर्विचार किया जाय और यह निर्णय लिया जाय कि आगामी योजना की सफलता के लिए क्या-क्या करना आवश्यक है। दूसरी ओर वह नियोजन को स्थगित भी नहीं करना चाहती थी। अतः बीच का मार्ग निकाला गया। सरकार वार्षिक बजट के साथ ही वार्षिक योजना प्रकाशित करती रही। इस प्रकार तीन वार्षिक योजनाओं में सरकार द्वारा लगभग ६,७५७ करोड़ रुपये खर्च किये गये। इन योजनाओं के व्यय का आदर्श तीसरी योजना ही थी। इसका अनुमान इस बात से लगता है कि तीन वर्ष में किये गये कुल व्यय का लगभग २३ प्रतिशत उद्योगों पर, लगभग १९ प्रतिशत परिवहन एवं संचार पर तथा लगभग २४ प्रतिशत कृषि एवं सिंचाई आदि पर व्यय किया गया।

एकवर्षीय योजनाएँ केवल नियोजन के अधिकृत क्रम को चालू रखने के लिए थीं, उनके पीछे निश्चित उद्देश्य या लक्ष्यों का अभाव था। अतः इस अवधि में जो

कुछ विकास हुआ वह आकस्मिक था। अतः उस पर कोई भी टिप्पणी करना उचित नहीं है।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना
[FOURTH FIVE YEAR PLAN]

पृष्ठभूमि—चतुर्थ योजना के पीछे हल्की सफलताओं और आशा से अधिक असफलताओं का लम्बा इतिहास था। लगभग १८ वर्ष के आर्थिक नियोजन ने देश को एक चौराहे पर लाकर खड़ा कर दिया था और यह निश्चय करना आवश्यक हो गया कि भविष्य की योजनाओं का क्या आधार होना चाहिए ? चतुर्थ योजना की पृष्ठभूमि के रूप में उन परिस्थितियों और अनुभवों का विवेचन कर लेना आवश्यक है जिनका प्रभाव चतुर्थ योजना की नीतियों पर पड़ा।

(१) **गति की शिथिलता**—भारतीय नियोजन से पहला पाठ यह सीखा जा सकता था कि देश में योजनाओं का संचालन बहुत शिथिल था। जिस गति से योजनाओं का क्रम चलाया जा रहा था उससे न **तो सब व्यक्तियों को रोजगार दिया जा सकता था**, न सामाजिक सेवाओं के आधार का विस्तार किया जा सकता था और न ही जनता के जीवन स्तर में सुधार सम्भव था। वास्तव में आर्थिक विकास जिस गति से हो रहा था, उस गति को बनाये रखना ही कठिन था।

(२) **विदेशों पर निर्भरता**—आर्थिक नियोजन एक ऐसी प्रक्रिया होती है जिससे वर्तमान पीढ़ी को भविष्य की पीढ़ी के लिए त्याग करना पड़ता है। यदि कोई देश निरन्तर विदेशी सहायता पर निर्भर होता चला जाय तो वह आर्थिक तथा राजनीतिक कठिनाई मे पड़ सकता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो योजना के पहले अठारह वर्षों में देश को निरन्तर अधिक अनाज विदेशों से मंगवाने के लिए बाध्य होना पड़ा और **विदेशी सहायता पर उसकी निर्भरता बढ़ती गयी**। इससे देश के आत्म गौरव और प्रतिष्ठा को भारी धक्का पहुँचा और अनेक देशों ने सहायता देने से हाथ खैंचना आरम्भ कर दिया।

(३) **संस्थागत ढांचे की दुर्बलता**—आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए यह आवश्यक होता है कि देश में आर्थिक, व्यापारिक तथा वित्तीय संस्थाओं का ऐसा शक्तिशाली संगठन हो जो देश से सभी क्षेत्रों के विकास में समुचित योगदान करता रहे। भारत में संस्था की दृष्टि से अनेक प्रकार की व्यापारिक, औद्योगिक तथा वित्तीय संस्थाओं की स्थापना की गयी किन्तु उनका प्रशासन इतना कमजोर था कि वह देश की आवश्यकताओं के अनुकूल सिद्ध नही हो सका। अतः आर्थिक नियोजन के सभी कार्यक्रम असफल रहे या उनमें पर्याप्त सफलता नहीं मिली।

(४) **प्रशासनिक असफलता**—आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए देश में दृढ़ एवं ईमानदार प्रशासन की आवश्यकता होती है जो देश की प्रत्येक योजना को सफल बनाने के लिए अधिक से अधिक प्रयत्न कर सके। इसके लिए प्रशासकों का स्वयं भी योजनाओं में विश्वास होना आवश्यक है। भारत में प्रशासन की परम्परा

अंग्रेजों से विरासत में मिली है। उसकी नौकरशाही मनोवृत्ति को क्रान्तिकारी या समाजवादी नीतियों में कभी विश्वास नहीं रहा। अतः प्रशासन ने कभी भी मन और कर्म से नियोजन को सफल बनाने का प्रयत्न नहीं किया। अच्छे से अच्छे निर्णय और नीतियाँ नौकरशाही मनोवृत्ति की अतृप्त भूख की शिकार होती रहीं और सरकार और जनता किंकर्तव्यविमूढ होकर असहाय की भाँति देखती रही।

वास्तव में भारतीय आर्थिक नियोजन को जिस असफलता का मुँह देखना पड़ा वह मूल रूप में नौकरशाही प्रशासन की घटिया मनोवृत्ति और सक्रिय असहयोग के कारण हुआ। इसी कारण देश में मूल्य नियन्त्रण व्यवस्था असफल हो गयी, राशन व्यवस्था में भ्रष्टाचार और चोर बाजारी फैल गयी और उद्योग तथा निर्यातों के लिए कुछ इने-गिने व्यक्तियों को लाइसेंस दिये गये। प्रशासकों के भ्रष्ट एवं पक्षपात-पूर्ण आचरण के विरुद्ध इस भय से कोई कार्यवाही नहीं की गयी कि वह भविष्य में और अधिक असहयोग न करने लगें। इस प्रकार आर्थिक नियोजन का आशावाद नौकरशाही के असहयोग और आतंक से निराशावाद में बदल गया।

(५) आर्थिक विषमता—आर्थिक नियोजन का आरम्भ इसलिए किया गया था कि देश के करोड़ों भूखे-नगे इन्सानों को पहले से अधिक सुविधाएँ मिलेंगी और उन्हें रोटी, कपड़ा तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं के लिए दीनतापूर्वक हाथ नहीं फैलाना पड़ेगा, समाज में गरीबी, अमीरी के अन्तर कम होंगे तथा राष्ट्रीय आय और सम्पत्ति कुछ व्यक्तियों के अधिकार में नहीं जायेंगे। दुर्भाग्य से इस महान उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकी। गरीब पहले से अधिक गरीब होता गया, अमीर पहले से अधिक अमीर होते चले गये और आर्थिक सत्ता और साधन धीरे-धीरे कुछ व्यक्तियों के हाथ में संकेन्द्रित होते चले गये। इस प्रकार देश में समाजवाद की स्थापना के स्थान पर पूँजीवाद का प्रभाव बढ़ता चला गया। नियोजन के पवित्र उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो सकी और ऐसा प्रतीत होने लगा कि भविष्य में भी इनकी पूर्ति होने की सम्भावना नहीं है।

इस प्रकार चतुर्थ योजना उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बनायी गयी है जिन्हें पिछली तीन योजनाओं में पूरा नहीं किया जा सका। इस योजना में पिछली योजनाओं की गलतियों को न दोहराने का निश्चय किया गया है और कुछ व्रत लिए गये हैं जो देश की प्रतिष्ठा के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

(क) उद्देश्य—चतुर्थ योजना के उद्देश्य प्रायः वही हैं जो पहली तीन योजनाओं में निश्चित किये गये थे किन्तु इस योजना में उनकी पूर्ति के लिए कुछ निदेशक सिद्धान्त भी दिये गये हैं। इसका स्पष्टीकरण निम्नलिखित तथ्यों से हो सकता है :

(१) सामाजिक न्याय और समानता—चतुर्थ योजना में भी सामाजिक न्याय प्रदान करने तथा आर्थिक समता लाने का ध्येय रखा गया है किन्तु इसमें यह

६

कहा गया है कि समानता और न्याय के लिए आर्थिक साधनों पर सरकार का पहले से अधिक नियन्त्रण करना आवश्यक होगा। इसी दृष्टि से सरकार ने औद्योगिक लाइसेंस देने सम्बन्धी नयी नीति निर्धारित की है जिसमें नये साहसियों को प्रोत्साहन देने का निश्चय किया गया है।

आय का वितरण—चतुर्थ योजना में आय के वितरण को अधिक महत्त्व दिया गया है तथा इसकी पूर्ति के लिए कर नीति में सुधार करने का निर्देश दिया गया है।

स्थानीय नियोजन—देश में रोजगार के स्तर में सुधार करने के लिए नियोजन को विकेन्द्रित करने का सुझाव दिया गया है। इसी दृष्टिकोण से ग्रामीण उद्योगों को अधिक प्रोत्साहन देने का विचार प्रकट किया गया है।

दुर्बल उत्पादक—देश में उत्पादन बढ़ाने की दृष्टि से कमजोर उत्पादकों को आर्थिक तथा तकनीकी सहायता देने का निश्चय किया गया है। इसके लिए वित्तीय संस्थाओं तथा प्रशासनिक विभागों की प्रक्रियाओं को सरल करने का सुझाव दिया गया है।

भूमिहीन श्रमिक– भारत में एक बड़ी संख्या भूमिहीन श्रमिकों की है। चतुर्थ योजना में उन्हें स्थानीय विकास कार्यक्रमों मे नियोजित किया जायगा।

यह सब कार्य सामाजिक न्याय तथा समानता का वातावरण उत्पन्न करने में सहायक होंगे।

(२) **प्रादेशिक असन्तुलन ठीक करना**—आर्थिक नियोजन का मुख्य ध्येय प्रादेशिक असन्तुलन कम करना होना चाहिए ताकि पिछड़े हुए भाग धीरे-धीरे विकसित भागों के समान हो सकें। चतुर्थ योजना मे पिछड़े हुए भागों को तीन प्रकार से विशेष सहायता देकर उनका विकास किया जायेगा :

(i) उन्हे केन्द्र से वित्तीय सहायता दी जायेगी।

(ii) उन क्षेत्रों में केन्द्रीय परियोजनाएँ आरम्भ की जायेगी।

(iii) वित्तीय तथा अन्य संस्थाओं की नीतियों में सुधार कर उन्हें अधिक सहायता देने की व्यवस्था की जायेगी।

(३) **सामाजिक सेवाओं का विस्तार**—चतुर्थ योजना में शिक्षा, चिकित्सा, परिवार नियोजन, आदि सुविधाओं का विस्तार करने का निश्चय किया गया है। इसके लिए १४ वर्ष तक की आयु के बालकों के लिए अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की जायेगी और चिकित्सा के लिए प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों की स्थापना को प्राथमिकता देने का निश्चय किया गया है।

(४) **अधिक रोजगार की व्यवस्था**—बेरोजगारी की समस्या का समाधान करने के लिए ग्रामों में ही छोटे-छोटे कारखाने (जो खेती के लिए उपयोगी यंत्र आदि बना सकें) स्थापित करने को प्रोत्साहित किया जायेगा ताकि वस्तुओं का उत्पादन कम लागत पर हो सके और रोजगार देने की स्थानीय व्यवस्था हो सके।

(५) आर्थिक नियन्त्रण—उत्पादन में वृद्धि करने तथा आर्थिक सत्ता का संकेन्द्रण रोकने के लिए अर्थ-व्यवस्था के सभी क्षेत्रों पर सरकारी नियन्त्रण कड़े करने का निश्चय किया गया है ताकि कुछ व्यक्तियों को ही निरन्तर लाभ न मिल सके। इस सम्बन्ध में राष्ट्रीयकृत बैंक, राज्य व्यापार निगम तथा खाद्यान्न निगम को अधिक सक्रिय बनाने का निश्चय किया गया है।

आर्थिक नियन्त्रण मजबूत करने के लिए ही वित्तीय निगमों तथा अन्य संस्थानों (जो उद्योगों को आर्थिक, तकनीकी या माल की बिक्री सम्बन्धी सहायता देते हैं) के प्रशासन तथा नीतियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने का निर्णय किया गया है ताकि वह देश के आर्थिक विकास के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकें।

(६) लोक क्षेत्र का संचालन—चतुर्थ योजना काल में लोक क्षेत्र की सभी औद्योगिक इकाइयों का आपसी सम्पर्क बढ़ाने का निश्चय किया गया तथा उनकी कुशलता में वृद्धि के लिए उनके बारे में निर्णय लेने के अधिकार को विकेन्द्रित करने का निर्देश दिया गया।

इस प्रकार चौथी पंचवर्षीय योजना में उत्पादन, वितरण तथा प्रबन्ध सम्बन्धी कार्यों में सुधार के लिए स्पष्ट निर्देश दिये गये हैं।

नीति निर्देश—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के जो उद्देश्य निर्धारित किये गये हैं उनकी पूर्ति के लिए दो महत्त्वपूर्ण नीति निर्देश दिये गये हैं :

(i) स्थायित्व के साथ विकास (Growth with Stability)

(ii) विदेशी सहायता से मुक्ति (Freedom from Foreign Aid)

चतुर्थ योजना में यह स्पष्ट किया गया है कि आर्थिक विकास के कार्यक्रमों का संचालन इस ढंग से किया जाना चाहिए कि देश में मुद्रा स्फीति न हो तथा वस्तुओं के मूल्य में स्थायित्व रहे। इसी प्रकार यह निश्चय भी प्रकट किया गया है कि विदेशी सहायता से शीघ्रातिशीघ्र छुटकारा पाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए क्योंकि विदेशी सहायता से अनेक प्रकार की आर्थिक तथा राजनीतिक कठिनाइयां उत्पन्न होने लगती हैं।

विदेशी सहायता की मात्रा को न्यूनतम स्तर पर रखने के लिए चतुर्थ योजना में निर्यातों में प्रति वर्ष ७ प्रतिशत की वृद्धि करने का निश्चय किया गया है। यह कार्य विशेष कठिन नहीं है।

(ख) आकार तथा साधन—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में लोक क्षेत्र द्वारा १५,६०२ करोड़ रुपये खर्च करने की व्यवस्था की गयी है। यह रकम पहली तीनों योजनाओं के मिले जुले खर्च से भी अधिक है। इस खर्च के लिए ८,७३४ करोड़ रुपये अर्थात् लगभग ५५ प्रतिशत की व्यवस्था सामान्य आन्तरिक साधनों से की जायेगी, ३१९८ रुपये नये करों से प्राप्त किये जायेंगे तथा ५०६ करोड़ रुपये आन्तरिक ऋणों से प्राप्त किये जायेंगे। इस प्रकार आन्तरिक साधनों से कुल १२,४३८

करोड़ रुपये अर्थात् लगभग ८० प्रतिशत रकम प्राप्त करने की व्यवस्था है। शेष रकम में से २,६१४ करोड़ रुपये विदेशी सहायता और ८५० करोड़ रुपये घाटे के बजटों से प्राप्त करने का निश्चय किया गया है।

इस प्रकार चतुर्थ योजना के लिए विदेशी सहायता से कम धन राशि प्राप्त की जायगी किन्तु घाटे के बजटों से ८५० करोड़ रुपया प्राप्त किया जायगा। इससे मुद्रा स्फीति होने का भय बना रहेगा और वस्तुओं के मूल्य में स्थायित्व नही रह पायेगा।

(ग) प्राथमिकताएँ—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में सबसे अधिक राशि अर्थात् कुल योजना व्यय की २४ प्रतिशत खेती और सिंचाई आदि पर व्यय होगी। वडे उद्योग तथा खनिज क्षेत्र पर २१ प्रतिशत तथा शक्ति (विजली आदि) पर १६ प्रतिशत रकम खर्च की जायेगी। इस प्रकार उद्योग तथा शक्ति साधनों के विकास पर कुल मिलाकर लगभग ३७ प्रतिशत रकम खर्च करने का अनुमान है। परिवहन तथा संचार व्यवस्था पर २० प्रतिशत रकम खर्च होगी।

इस प्रकार योजना की प्राथमिकताओ का गहराई से अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि चतुर्थ योजना मे एक ओर तो खेती के विकास को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है, दूसरी ओर परिवहन, बिजली तथा वडे उद्योगों पर लगभग ५७ प्रतिशत रकम व्यय करने का निश्चय किया गया है। अत· खेती उद्योग, तथा साज-सज्जा के महत्त्व को पूरी तरह समझ कर उनके विकास को यथोचित महत्त्व देने का प्रयत्न किया गया है।

(घ) राष्ट्रीय आय—चतुर्थ योजना काल में प्रति वर्ष ५·५ प्रतिशत की विकास दर का अनुमान लगाया गया है अर्थात् राष्ट्रीय आय मे ५·५ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि होगी ऐसा अनुमान है। यह भी अनुमान लगाया गया है कि इस काल में जन संख्या ०·५ प्रतिशत वार्षिक बढ़ेगी, अतः राष्ट्रीय आय में शुद्ध वार्षिक वृद्धि ३ प्रतिशत होगी।

राष्ट्रीय आय मे ३ प्रतिशत शुद्ध वृद्धि प्राप्त करने के लिए देश में घरेलू बचतों की दर राष्ट्रीय आय की १३ २ प्रतिशत तक बढानी पड़ेगी। १९६८-६९ मे घरेलू बचतों की दर ८·८ प्रतिशत थी। इसी प्रकार पूँजी विनियोग की दर भी राष्ट्रीय आय की कम से कम १४·५ प्रतिशत करनी पड़ेगी।

बचत तथा विनियोग के लक्ष्यों की पूर्ति करने के लिए सरकार को वस्तु मूल्यों में स्थायित्व रखना पड़ेगा जो निश्चय ही एक कठिन काम है।

विश्लेषण—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना मे सरकार द्वारा १५,९०२ करोड़ रुपये तथा निजी क्षेत्र द्वारा ८,९८० करोड रुपये व्यय करने का निश्चय किया गया है। इस प्रकार पांच वर्ष मे कुल ३४ ८८२ करोड रुपये खर्च किये जायेगे।

यद्यपि योजना मे यह निश्चय दोहराया गया है कि मूल्य स्तर में स्थायित्व रखने का प्रयत्न किया जायेगा किन्तु फिर भी ८५० करोड़ रुपये की रकम घाटे के बजटों से

प्राप्त की जायेगी। पिछले दो तीन वर्ष में प्रस्तुत किये गये बजटों में प्राय: २५० करोड़ रुपये वार्षिक का घाटा दिखलाया गया है अत: वास्तविक घाटा ८५० करोड़ रुपये से काफी अधिक होने की आशंका है। इससे मूल्य स्तर में वृद्धि रोकना कठिन होगा। पिछले दो तीन वर्षो में मूल्य स्तर में निरन्तर वृद्धि हुई है।

चतुर्थ योजना में समाजवाद की नीति को अधिक स्पष्ट शब्दों में दोहराया गया है किन्तु सरकार की नीतियाँ अभी इतनी क्रान्तिकारी प्रतीत नहीं होती जिनसे समाजवाद लाया जा सके। कुछ आकस्मिक या छुट-पुट कदमों से न तो आर्थिक विषमता कम होगी, न आय और सम्पत्ति का न्यायपूर्ण वितरण होगा। अत: गरीब की गरीबी को कम करने का प्रयत्न अधिक गम्भीरता से किया जाना चाहिए नहीं तो चतुर्थ योजना के बाद भी लगभग वही स्थिति देखने को मिलेगी जो १९६५-६६ में या १९६८-६९ में थी। यह स्थिति निश्चय ही गौरवपूर्ण नहीं होगी।

क्या भारत में आर्थिक नियोजन को सफलता मिली है ?

भारत की पंचवर्षीय योजनाओं पर विचार करने के पश्चात् महत्त्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या भारत में नियोजन सफल हुआ है ? इसका उत्तर है **नहीं**। किन्तु ऐसा किस आधार पर कहा जा सकता है ?

आर्थिक नियोजन की सफलता का अनुमान लगाने के लिए यह देखना चाहिए कि उसके उद्देश्यों की पूर्ति हुई है या नहीं। यदि उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हुई है तो नियोजन में असफलता मिली है। यदि उद्देश्य पूरे हो गये हैं तो नियोजन भी सफल माना जाना चाहिए।

(१) **राष्ट्रीय आय**—भारतीय नियोजन की सफलता का अनुमान लगाने के लिए राष्ट्रीय आय में वृद्धि को दो दृष्टिकोण से देखा जाना चाहिए। पहला दृष्टिकोण यह कि **राष्ट्रीय आय में कुल वृद्धि कितनी हुई है**। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि **राष्ट्रीय आय में वास्तविक वृद्धि कितनी हुई है**।

कुल वृद्धि—यदि राष्ट्रीय आय में कुल वृद्धि का अनुमान लगाया जाय तो सन् १९५०-५१ में भारत की राष्ट्रीय आय लगभग ९,५३० करोड़ रुपये थी जो १९६९-७० में लगभग ३१,२०० करोड़ रुपये तक पहुँच गयी अर्थात् यह लगभग ३½ गुनी हो गयी है।

यदि प्रति व्यक्ति वृद्धि का अनुमान लगाया जाय तो पता चलेगा कि १९५०-५१ में प्रति व्यक्ति आय २६७ रुपये थी जो १९६९-७० में ५८९ रुपये हो गयी। इस प्रकार प्रति व्यक्ति आय भी लगभग २¼ गुनी हो गयी है।

वास्तविक वृद्धि—आय में कुल वृद्धि योजना की सफलता का सही माप नहीं मानी जा सकती क्योंकि योजना काल मे मुद्रा के मूल्यों में निरन्तर वृद्धि हुई है। अत: यदि आय में वास्तविक वृद्धि का माप किया (जिसमें क्रय शक्ति में वृद्धि का माप होगा) तो नियोजन की सफलता का सही अनुमान हो सकता है।

सन् १९५०-५१ में भारत की वास्तविक आय (१९४८-४९ के मूल्यों पर)

८,८५० करोड़ रुपये थी जो बढ़कर १९६८-६९ में १६,९१० करोड़ रुपये हो गयी अर्थात् वास्तविक वृद्धि केवल ९० प्रतिशत हुई (इसकी तुलना ३$\frac{3}{4}$ गुनी से कीजिये) है। इसी प्रकार प्रति व्यक्ति वास्तविक आय २४८ रुपये से बढ़कर ३२३ रुपये हुई है अर्थात् वृद्धि केवल ३० प्रतिशत है। यदि पिछले दस वर्ष की वास्तविक आय वृद्धि का अनुमान ही लगाया जाय तो इसमें वृद्धि ११ प्रतिशत से कुछ कम निकलती है।

इस प्रकार नियोजन काल में एक भारतीय की औसत आय केवल ३० प्रतिशत बढ़ी है जो १·५ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का संकेत करती है। यह वृद्धि अत्यन्त साधारण है। अतः इसके आधार पर नियोजन को सफल मान लेना उचित नहीं है।

(२) प्राथमिक क्षेत्रों का विकास— नियोजन के बीस वर्षों में भारत में कृषि, उद्योग, परिवहन के साधन तथा बिजली आदि का महत्त्वपूर्ण विकास हुआ है किन्तु कृषि के क्षेत्र मे अभी भी आत्मनिर्भरता नहीं मिली है। प्रति वर्ष करोड़ों रुपये का अनाज, कपास तथा तेल बाहर से आयात करना पड़ रहा है। भारतीय कृषि आज भी मानसून का जुआ है जैसी बीस वर्ष पहले थी।

उद्योग बिजली, परिवहन के क्षेत्रों में आशातीत विकास हुआ है। १९५०-५१ में भारत मे एक बढ़िया किस्म की सुई का भी निर्माण नही होता था किन्तु अब हमारे यहाँ बढ़िया रेल के इंजन, डिब्बे, हवाई जहाज, पानी के जहाज, बड़ी-बड़ी मशीनें आदि प्रचुर मात्रा में बनने लगी है। भारत के ग्राम-ग्राम में बिजली पहुँच गयी है और सड़कें पहुँच रही है। यह सही है कि इन क्षेत्रों में भी विकास की गति बहुत शिथिल रही है किन्तु फिर भी यह कहना पड़ेगा कि भारत संसार के औद्योगिक मानचित्र पर आ गया है। यह आर्थिक नियोजन की महत्त्वपूर्ण देन कही जा सकती है।

(३) आर्थिक विषमता में कमी—भारत में आर्थिक नियोजन का एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य आय तथा सम्पत्ति के साधनों का न्यायपूर्ण वितरण करना रहा है ताकि देश में आर्थिक विषमता कम हो सके। अब तक जितनी समितियों तथा आयोगों ने रिपोर्ट दी है उनसे पता चलता है कि भारत में आर्थिक नियोजन का अधिक लाभ धनी वर्ग को मिला है, और गरीब पहले से अधिक गरीब होता चला जा रहा है। इस प्रकार देश में **'आर्थिक सत्ता के संकेद्रण में वृद्धि हुई है।'** अतः आर्थिक नियोजन के इस लक्ष्य में सफलता नहीं मिल सकी है।

(४) बेरोजगारी हटाना— समाजवाद की सबसे महत्त्वपूर्ण खूबी यह होती है कि उसमें प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार मिल जाता है। भारत में आर्थिक नियोजन में भी प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार देने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था किन्तु दुर्भाग्य से बेरोजगारी हटने की बजाय निरन्तर बढ़ती गयी। अनुमान लगाया गया है कि १९७१ में लगभग १·६ करोड़ व्यक्ति बेरोजगार हैं। यह स्थिति निश्चय ही बहुत गम्भीर एवं दुखद है। इसके आधार पर भारत में नियोजन को सफल कदापि नहीं माना जा सकता।

इन तथ्यों से स्पष्ट है कि भारतीय आर्थिक नियोजन को केवल औद्योगिक तथा परिवहन के क्षेत्र में ही सफलता मिली है बाकी क्षेत्रों में वह असफल ही रहा है।

असफलता के कारण[1]

भारतीय आर्थिक नियोजन की असफलता में अनेक तत्त्वों का हाथ रहा है। पिछले एक अध्याय में सामान्य रूप मे उन तत्त्वों के बारे में लिखा जा चुका है। यहाँ उनकी विशेष बातों पर प्रकाश डाला जा रहा है।

(१) **अस्पष्ट नीति**—भारत में समाजवादी समाज की स्थापना के लिए वर्षों से चर्चा होती रही है किन्तु समाजवाद के सही स्वरूप के बारे में शासक दल के सदस्यों में आपस में मतभेद रहा है। इस मतभेद के कारण ही १९६९ में राष्ट्रीय कॉंग्रेस दो भागों मे बंट गयी है। आपसी मतभेदो का आर्थिक नियोजन पर यह प्रभाव पड़ा कि योजना की प्राथमिकताएँ सदा बदलती रही हैं। पहली योजना में कृषि को अधिक महत्त्व देकर मान लिया गया कि कृषि क्षेत्र का पर्याप्त विकास हो गया है। इस गलत धारणा का फल तीसरी योजना में भुगतना पड़ा जबकि सूखा पड़ने से खेती में बहुत कम उत्पादन हुआ और विदेशो से अधिक अन्न तथा अन्य वस्तुएँ आयात करनी पड़ी।

सरकार की अस्पष्ट आर्थिक नीति का दौर सम्भवतः अब भी समाप्त नही हुआ है क्योंकि कुछ राज्यों मे अभी तक भी चतुर्थ योजना के कार्यक्रमों को अंतिम रूप नहीं दिया जा सका है। ऐसी स्थिति मे नियोजन की सफलता की क्या आशा हो सकती है ?

(२) **क्रान्तिकारी नेतृत्व का अभाव**—भारत मे आर्थिक नियोजन की असफलता का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि देश का नेतृत्व पर्याप्त क्रान्तिकारी नहीं रहा है। भारत के शासक उचित अनुचित किसी भी तरीके से कुर्सी के चिपके रहना चाहते है और अपनी कुर्सी के लिए वह देश के बड़े से बड़े हित की भी परवाह नही करते। आये दिन दल बदलने की घटनाएँ होती है क्योंकि कुछ व्यक्तियों को कुर्सी का लालच देकर कभी इधर मिला लिया जाता है कभी उधर शामिल कर लिया जाता है, ऐसे पद लोलुप व्यक्तियों से देश के विकास के लिए क्या आशा की जा सकती है।

राष्ट्रीय चरित्र के इस भयानक पतन का फल देश की जनता को भुगतना पड़ा है और विकास के कार्यक्रम समय पर पूरे नही हो सके है। यही योजना की असफलता का कारण है।

---

१ इस शीर्षक के नीचे दी गयी बातों को "भारतीय आर्थिक नियोजन की कठिनाइयाँ" भी कहा जा सकता है।

(३) शिथिल प्रशासन—पिछले अध्याय में लिखा जा चुका है कि आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए मजबूत और ईमानदार प्रशासन होना आवश्यक है। भारतीय प्रशासन की मनोवृत्ति सत्ताशाही और सामन्तवादी रही है। प्रशासक मन-माने ढंग से काम करते हैं। वह सरकारी योजना अथवा जनहित कि तनिक भी चिता नहीं करते। इसीलिए घूस और भ्रष्टाचार बढ़ गया है। दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति यह है कि घूस और भ्रष्टाचार के दोषी व्यक्ति प्रायः साफ बच जाते हैं क्योंकि उन्हें शक्तिशाली व्यक्तियों का प्रश्रय मिल जाता है। यह परिस्थितियाँ निरन्तर बढ़ती चली जा रही है। इसी कारण समाज में असंतोष बढ़ गया है और न्याय के प्रति विश्वास हटता चला जा रहा है। इस प्रकार के भ्रष्ट एवं स्वार्थी प्रशासन से आर्थिक नियोजन की सफलता की कामना करना व्यर्थ है।

(४) साधनों का दुरुपयोग—भारतीय नियोजन में प्रायः यह देखा गया है कि कोई भी कार्यक्रम निश्चित या निर्धारित समय पर पूरा नहीं हो पाता। किसी कार्यक्रम पर जितनी धन राशि खर्च करने का निश्चय किया जाता है उससे प्रायः बहुत अधिक रकम उस कार्यक्रम पर खर्च होती है। अनेक क्षेत्रों में ठेकेदार से उच्च-तम अधिकारी तक गड़बड़ी करने मे सहयोग देते है। इस प्रकार राष्ट्रीय पूँजी का एक बड़ा भाग जो देश के विकास में खर्च होना चाहिए, बड़े-बड़े अधिकारियों की जेब में चला जाता है। वास्तव में **आर्थिक सत्ता के संकेन्द्रण का एक मुख्य कारण यही है।**

आर्थिक साधनों के दुरुपयोग के कारण अनेक योजनाएँ अधूरी रह जाती हैं, उनके लिए विदेशी ऋण लेने पड़ते है जिनके व्याज का भार देश की अर्थ-व्यवस्था पर निरन्तर बढ़ता जा रहा है।

इस प्रकार जो कुछ सीमित साधन भारत में उपलब्ध हैं उनका भी सही ढंग से उपयोग न होने के कारण नियोजन को असफलता का मुंह देखना पड़ा है।

(५) जन सहयोग—किसी भी देश में आर्थिक नियोजन तब तक सफल नही हो सकता जब तक नियोजन में जनता की आस्था न हो और उसे सफल बनाने में उसका पूरा योगदान न हो। भारतीय जनता को योजनाओं के महत्त्व से पूरी तरह परिचित करने का कभी विशेष प्रयत्न नही किया गया। अतः प्रत्येक व्यक्ति यह मानता है कि नियोजन के लिए काम करना उसका कर्त्तव्य नहीं सरकार का काम है।

योजना बनाते समय भी सरकार प्रायः उन व्यक्तियों की सलाह लेती है जो सरकार की 'हाँ में हाँ' मिलाने वाले होते है। इसका परिणाम यह होता है कि योजनाओं की वास्तविक कमियाँ कभी भी प्रकाश में नहीं आतीं। आतः गलत ढंग से बनायी गयी और भ्रष्ट तथा स्वार्थी व्यक्तियों द्वारा संचालित की गयी कोई भी योजना कैसे सफल हो सकती है ? यह एक सीधा प्रश्न और साफ उत्तर है।

उपसंहार—भारतीय आर्थिक नियोजन की असफलता में **प्रशासन का ढीला-**

पन और भ्रष्टाचरण तथा **शासकों की सामन्तशाही मनोवृत्ति** का मुख्य योग रहा है। इनमें परिवर्तन किये बिना भविष्य की योजनाओं की सफलता भी संदिग्ध ही बनी रहेगी।

अभ्यास प्रश्न

१. स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले भारत में आर्थिक नियोजन के जो प्रयत्न किये गये उनका विश्लेषण कीजिए।

२. भारत में आर्थिक नियोजन की प्राथमिकताओं का विश्लेषण कीजिए।

३. भारत में आर्थिक नियोजन को तीन वर्ष के लिए क्यों स्थगित किया गया? कारणों पर प्रकाश डालिए।

४. भारत की पहली तीन योजनाओं पर टिप्पणी लिखिए। क्या उनमें पर्याप्त सफलता मिली? कारण सहित लिखिए।

५. चतुर्थ योजना की पृष्ठ-भूमि का विस्तृत विश्लेषण कीजिए। क्या चतुर्थ योजना में कुछ नयी दिशाओं की ओर संकेत किया गया है?

६. भारत की चतुर्थ पंचवर्षीय योजना पर एक टिप्पणी लिखिए।

७. भारत की पंचवर्षीय योजनाओं की कठिनाइयों तथा सफलताओं का विवेचन कीजिए।

८. भारत की पंच वर्षीय योजनाओं की सफलता में कौन से तत्त्व बाधक रहे हैं?

७

भारतीय योजना आयोग

(INDIAN PLANNING COMMISSION)

भारत मे आर्थिक नियोजन किस प्रकार आरम्भ हुआ और उनका विकास किस प्रकार हुआ, इसका वर्णन पिछले अध्याय मे किया जा चुका है। नवम्बर, १९४७ मे अखिल भारतीय कॉंग्रेस महासमिति ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमे "नियोजित केन्द्रीय निदेशन" (Planned Central Direction) की आवश्यकता पर जोर दिया और १९४८ मे आर्थिक कार्यक्रम समिति (Economic Programme Committee) ने यह सुझाव दिया कि देश मे राज्य सरकारों को नियोजन सम्बन्धी सलाह देने के के लिए एक **केन्द्रीय योजना आयोग** की स्थापना की जानी चाहिए।

जनवरी, १९५० मे कॉंग्रेस दल की कार्यकारिणी ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमे भारत सरकार से यह सिफारिश की गयी थी कि एक वैधानिक योजना आयोग की स्थापना की जानी चाहिए।

आयोग की स्थापना—जनवरी १९५० मे राष्ट्रपति ने संसद मे जो भाषण दिया उसमे योजना आयोग की स्थापना का निश्चय प्रगट किया गया। राष्ट्रपति ने कहा कि योजना आयोग स्थापित किया जा रहा है '**ताकि अपने साधनों का राष्ट्र के विकास के लिए श्रेष्ठतम प्रयोग किया जा सके।**"

इस घोषणा के पश्चात् १५ मार्च, १९५० को भारत सरकार द्वारा एक प्रस्ताव पास किया गया जिसमे आर्थिक नियोजन का महत्त्व स्पष्ट किया गया और यह मत प्रगट किया गया कि किसी स्वतन्त्र संगठन के बिना योजनाओं को सफल बनाना सम्भव नही है।

योजना आयोग के कार्य
(Functions of the Planning Commission)

भारत सरकार के प्रस्ताव मे संविधान के निदेशक सिद्धान्तो का हवाला देते हुए कहा गया था कि "सरकार जनता के जीवन स्तर मे सुधार करने के लिए कृत

संकल्प है" अतः एक योजना आयोग की स्थापना की जा रही है जिसके निम्नलिखित कार्य होंगे :

(१) **साधनों की जानकारी तथा अभाव की पूर्ति**—आयोग का पहला कार्य देश के भौतिक, पूँजीगत तथा मानवी साधनों का (जिसमें तकनीकी विशेषज्ञ भी सम्मिलित हैं) सही अनुमान लगाना है। इस अनुमान के आधार पर जो साधन देश की आवश्यकता के लिए कम हों उनकी पूर्ति के लिए भरसक प्रयत्न करना होगा।

(२) **साधनों का सन्तुलित एवं प्रभावशाली उपयोग**—देश में मौजूद साधनों की सही जानकारी कर लेने के पश्चात् एक ऐसी योजना बनाना जो इन साधनों के अधिकतम प्रभावशाली एवं सन्तुलित प्रयोग के लिए आवश्यक हो।

(३) **प्राथमिकताएँ और चरण निर्धारित करना**—साधनों का श्रेष्ठतम प्रयोग करने के लिए प्राथमिकताएँ निर्धारित करना और इन प्राथमिकताओं के आधार पर आर्थिक विकास करने के लिए यह निश्चित करना कि कब-कब किस-किस चरण (stage) पर कितने-कितने साधनों का प्रयोग किया जायगा।

(४) **बाधक तत्वों की जानकारी**—यह जानकारी प्राप्त करना कि आर्थिक विकास में कौन से तत्व बाधक हो सकते हैं और वर्तमान सामाजिक तथा राजनीतिक वातावरण में आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए कौन से काम पूरे कर लेना आवश्यक है।

(५) **नियोजन के लिए संगठन की स्थापना**—इन सब कार्यों की जानकारी और पूर्ति के लिए उचित संगठन का निर्णय करना और उसकी स्थापना करना।

(६) **मूल्यांकन**—समय-समय पर नियोजन के प्रत्येक चरण की प्रगति का मूल्यांकन करना तथा उसके आधार पर नियोजन की नीतियों में आवश्यक परिवर्तन और सुधार करना।

(७) **संगठन में सुधार**—सरकार की बदलती हुई नीतियों के अनुसार तथा आर्थिक विकास के कार्यक्रमों के अनुसार अपने संगठन में परिवर्तन या सुधार के लिए सुझाव देना।

एक सलाहकार संस्था

योजना आयोग की स्थापना के समय ही यह स्पष्ट कर दिया गया था कि यह एक सलाह देने वाली संस्था है। आयोग द्वारा कोई सलाह देने से पहले राज्य तथा केन्द्रीय सरकार से विचार-विमर्श कर लेना चाहिए ताकि बाद में मतभेद उत्पन्न होने का भय न रहे।

योजना आयोग की सलाह के आधार पर केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें निर्णय लेती हैं। निर्णय लेने में वह आयोग के मत को अधिकतम महत्त्व देती है परन्तु आयोग के विचार से मत भिन्नता होने पर वह स्वतन्त्र निर्णय ले सकती हैं। निर्णय लेने के पश्चात् उसका पालन करने का दायित्व सरकार का ही है, आयोग का उसमें कोई हाथ नहीं होता।

संक्षेप में :

(i) योजना आयोग एक सलाह देने वाली सस्था मात्र है।

(ii) अपनी निश्चित सलाह देने के लिए यह केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के सम्पर्क मे रहता है।

(iii) सरकार के लिए आयोग की सलाह मान लेना अनिवार्य नही है किन्तु आयोग की सलाह को अधिकतम महत्त्व दिया जाता है।

(iv) आयोग की सलाह के बाद सरकार जो निर्णय लेती है उसका पालन करने का दायित्व सरकार पर ही होता है।

आयोग की रचना

(Composition of the Commission)

आरम्भ मे योजना आयोग की अध्यक्षता भारत के तत्कालीन प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू ने ग्रहण की। श्री गुलजारी लाल नदा को उपाध्यक्ष नियुक्त किया गया। अन्य सदस्यो मे श्री वी० टी० कृष्णमाचारी, श्री चिन्तामणि द्वारकानाथ देशमुख, श्री जी० एल० मेहता तथा श्री आर० के० पाटिल थे। श्री नदा तथा पाटिल को राजनीतिक, श्रम तथा जन जीवन का पर्याप्त अनुभव था। श्री वी० टी० कृष्णमाचारी तथा श्री देशमुख को प्रशासनिक अनुभव था, तथा श्री जी० एल० मेहता को व्यावसायिक प्रवन्ध के विशेष ज्ञान के अतिरिक्त प्रशासनिक अनुभव भी था। इस प्रकार पहला योजना आयोग मुख्यत: प्रशासनिक अनुभव वाले व्यक्तियों का सगठन था। उसमे श्री नेहरू के अतिरिक्त किसी मन्त्री को सदस्य नही बनाया गया।

मन्त्रियो को सदस्यता—आयोग की नियुक्ति के तीन मास के भीतर ही श्री चिन्तामणि देशमुख को भारत सरकार मे वित्त मन्त्री नियुक्त कर दिया गया। श्री देशमुख के वित्त मन्त्री होने पर भी उनको योजना आयोग का सदस्य बनाये रखा गया। वास्तव मे, **उस समय से यह परम्परा पड़ गयी कि वित्त मन्त्री योजना आयोग का पदेन सदस्य होता है।**

सन् १९५१ मे श्री गुलजारीलाल नन्दा को भारत सरकार मे मन्त्री नियुक्त किया गया और उन्हे भी आयोग का सदस्य वना रहने दिया गया। उस समय से **एक नयी परम्परा यह स्थापित हो गयी कि भारत सरकार का योजना मन्त्री भी योजना आयोग में पदेन सदस्य होगा।**

वर्तमान स्थिति

(i) **अध्यक्ष**—यह परम्परा वन गयी है कि भारत का प्रधान मन्त्री योजना आयोग का अध्यक्ष होगा। सन् १९५० से २७ मई, १९६४ तक श्री जवाहर लाल नेहरू योजना आयोग के अध्यक्ष रहे। उनकी मृत्यु के पश्चात् श्री लालवहादुर शास्त्री और उनकी मृत्यु के पश्चात् श्रीमती इन्दिरा गाधी ने योजना आयोग की अध्यक्षता का भार सम्भाला।

(ii) **मन्त्री सदस्य**—प्रधान मन्त्री के अतिरिक्त वित्त मन्त्री तथा योजना

मन्त्री आयोग के पदेन सदस्य होते हैं। इन व्यक्तियों के अतिरिक्त भी कुछ मन्त्रियों को आयोग का सदस्य नियुक्त किया जा सकता है। इन मन्त्रियों की आयोग में नियुक्ति प्रायः प्रधान मन्त्री की इच्छा पर निर्भर करती है। यह निश्चित नहीं है कि कितने मन्त्रियों को आयोग का सदस्य नियुक्त किया जा सकता है ? समय-समय पर इनकी संख्या में परिवर्तन होता रहा है।

(iii) उपमन्त्री—कभी-कभी योजना मन्त्रालय में कुछ उपमन्त्री होते हैं जो आर्थिक नियोजन सम्बन्धी नीतियों के पालन करने में योग देते हैं। इन मन्त्रियों को योजनाओं के संचालन में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। इस अनुभव का लाभ उठाने के लिए इन व्यक्तियों को योजना आयोग की सभाओं में भाग लेने के लिए बुला लिया जाता है किन्तु इन्हें आयोग का सदस्य नियुक्त नहीं किया जाता।

(iv) पूर्णकालिक सदस्य—प्रधान मन्त्री तथा अन्य मन्त्रीगण योजना आयोग के अंशकालिक (part-time) सदस्य ही होते हैं। उन्हें आयोग की सदस्यता का कोई वेतन नहीं मिलता। किन्तु कुछ व्यक्तियों को योजना आयोग का पूर्णकालिक सदस्य बनाया जाता है। इनकी भी संख्या निर्धारित नहीं है किन्तु वह प्रायः ३ से ७ के बीच में रही है।

आयोग में प्रायः निम्नलिखित वर्गों के व्यक्तियों को सदस्य नियुक्त किया जाता रहा है :

(क) प्रशासन का अनुभव रखने वाले व्यक्ति
(ख) वैज्ञानिक
(ग) अर्थशास्त्री
(घ) इंजीनियर
(ङ) समाजशास्त्री तथा प्रबन्ध विशेषज्ञ
(च) राजनीतिज्ञ

पूर्णकालिक सदस्य (full-time members) आयोग की सेवा में नियोजित अधिकारी माने जाते हैं। इन्हें योजना आयोग से वेतन तथा निश्चित दरों पर भत्ते तथा अन्य सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं।

क्या वर्तमान रचना उपयोगी है ?

कुछ व्यक्तियों की यह मान्यता रही है कि योजना आयोग एक सर्वथा स्वतन्त्र संस्था होनी चाहिए जिसमें मन्त्रियों को सदस्य नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि मन्त्रियों के सदस्य बने रहने से आयोग की नीतियों तथा क्रियाओं पर नौकरशाही प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ेगा जिससे योजनाओं का सही तथा उपयुक्त स्वरूप नहीं बन सकेगा।

यह धारणा बहुत सही प्रतीत नहीं होती क्योंकि जिन मन्त्रियों को योजना आयोग का सदस्य रखा जाता है वह प्रायः बहुत महत्त्वपूर्ण व्यक्ति होते हैं जिनके व्यक्तित्व से सरकार की नीतियाँ निर्धारित होती हैं। इस प्रकार के व्यक्तियों को

आयोग की सदस्यता देने से योजना सम्बन्धी नीतियाँ तथा प्रक्रियाएँ सरकारी नीतियों के अनुकूल हो जाती है जिससे योजना आयोग तथा सरकार–दोनों का काम सरल हो जाता है। वास्तव में योजनाओं के संचालन का भार सरकार पर होता है और उनकी सफलता या असफलता के लिए सरकार ही उत्तरदायी होती है। अतः योजनाओं के निर्माण स्तर पर मन्त्रियों का परामर्श तथा निर्देशन बहुत उपयोगी होता है। तथा इस दृष्टि से आयोग की सदस्यता का वर्तमान ढाँचा सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है।

नियुक्ति की प्रणाली

योजना आयोग के सदस्यों की नियुक्ति प्रधान मन्त्री तथा उपाध्यक्ष के आपसी विचार-विमर्श द्वारा की जाती है। प्रधान मन्त्री (जो आयोग का अध्यक्ष होता है) आयोग के उपाध्यक्ष से सलाह ले लेते है कि अमुक व्यक्ति को सदस्य नियुक्त करना है। तदनुसार उस व्यक्ति की नियुक्ति कर दी जाती है। जब वह व्यक्ति आयोग में काम सम्हाल लेता है तब भारत सरकार के गजट में एक विज्ञप्ति निकाल दी जाती है कि अमुक व्यक्ति ने योजना आयोग की सदस्यता का भार ग्रहण कर लिया है। वह विज्ञप्ति पूर्णकालिक तथा अंशकालिक (मन्त्री आदि) दोनो प्रकार के सदस्यों के लिए निकाली जाती है।

इस प्रकार योजना आयोग के सदस्यों की नियुक्ति प्रधान मन्त्री द्वारा ही की जाती है। इसके लिए मन्त्रिमण्डल की सलाह लेने की आवश्यकता नही होती। जब किसी सदस्य की नियुक्ति की जाती है तो प्रधान मन्त्री द्वारा इसकी सूचना राष्ट्रपति को अवश्य दे दी जाती है।

सदस्यों की आयु

योजना आयोग के सदस्यो की नियुक्ति प्रशासकीय स्तर पर की जाती है, उन्हें किसी चयन समिति के सामने प्रार्थना पत्र देकर चयन नहीं करवाना पड़ता। आयोग के सदस्यों का दर्जा मन्त्रियों के समान होता है अतः उनके लिए आयु की सीमा निर्धारित नहीं है।

अभी तक आयोग के सदस्यों की आयु ४० से ६९ वर्ष के भीतर रही है। इनमे मन्त्रियो की आयु प्रायः अधिक रही है क्योंकि बहुत वरिष्ठ मन्त्रियों को ही आयोग की सदस्यता प्रदान की जाती है।

नियुक्ति की शर्तें

जब मार्च, १९५० में योजना आयोग की नियुक्ति की गयी तब अलग-अलग वर्गों के सदस्यों के लिए नियुक्ति की अलग-अलग शर्तें निश्चित की गयीं। उस समय यह निश्चित किया गया कि आयोग के उपाध्यक्ष (Deputy Chairman) को वही वेतन, भत्ता तथा अन्य सुविधाए दी जायेंगी जो केबिनेट स्तर के एक मन्त्री को दी जाती हैं।

अन्य पूर्णकालिक सदस्यों को उतना ही वेतन, भत्ता तथा अन्य सुविधाएँ देने का निर्णय किया गया जो उन व्यक्तियों को आयोग के सदस्य बनने से पहले मिलती

थी। यह संयोग की बात थी कि आयोग के चारों पूर्णकालिक सदस्य अपनी नयी नियुक्ति से पहले किसी न किसी सरकारी पद पर काम कर रहे थे।

सन् १९५३ में यह निश्चित किया गया कि आयोग के पूर्णकालिक सदस्यों को भारत सरकार के मन्त्रियों के समान वेतन दिया जायेगा। तब से पूर्णकालिक सदस्यों को मन्त्रियों के समान वेतन, भत्ता तथा अन्य सुविधाएँ मिलती है। इस सम्बन्ध मे एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जब सरकारी सेवा से मुक्त अधिकारियो को योजना आयोग का सदस्य बनाया जाता है तब उन्हे अपनी पेन्शन लेने का अधिकार बना रहता है और उन्हें पेन्शन के अतिरिक्त उतना वेतन मिलता रहता है जो अन्य सदस्यों को मिलता है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पूर्णकालिक सदस्यो का दर्जा राज्य मन्त्रियों (Ministers of State) के बराबर होता है, केबिनेट मन्त्रियों के बराबर नही। सदस्यो को अवकाश आदि उसी हिसाब मे मिलते है जिस हिसाब से सरकार के अस्थायी अधिकारियों को मिलते है।

संक्षेप में—

(i) आयोग के उपाध्यक्ष का दर्जा केबिनेट मन्त्री के समान होता है और उसको वेतन, भत्ता तथा अन्य सुविधाएँ उसी हिसाब से मिलती है।

(ii) अन्य पूर्णकालिक सदस्यों का दर्जा केन्द्रीय सरकार के राज्य मन्त्रियों के समान होता है और उनका वेतन, भत्ता आदि इनके समान होता है।

(iii) सरकार से पेन्शन प्राप्त करने वाले सदस्यो को पेन्शन मिलती रहती है और वेतन, भत्ता आदि उसके अतिरिक्त मिलते है।

(iv) पूर्णकालिक सदस्यो को अवकाश उतने ही दिनो का मिलता है जितना सरकार के अस्थायी अधिकारियो को मिलता है।

कार्य-काल

योजना आयोग के पूर्णकालिक सदस्यो की नियुक्ति किसी निश्चित अवधि के लिए नहीं की जाती। उनके सेवा मुक्त होने के लिए भी कोई आयु या अवधि निश्चित नहीं है। इसलिए एक बार नियुक्त होने पर, आयोग के सदस्य उस समय तक बने रहते है जब तक उन्हें असुविधा न हो। अनेक बार सदस्यो ने किसी अन्य पद का भार (विदेशों मे राजदूत, मन्त्री, किसी अन्य आयोग के अध्यक्ष या सदस्य आदि) सम्भालने पर योजना आयोग से त्यागपत्र दिया है।

कभी-कभी सरकार पूरे आयोग के ढाँचे को बदलना चाहती है तो वह सदस्यों को (या किसी एक या दो को) सकेत दे देती है और वह सदस्य आयोग से त्यागपत्र दे देते हैं। पिछले योजना आयोग के उपाध्यक्ष प्रोफेसर डी० आर० गाडगिल तथा उनके साथियों ने सरकार के सकेत पर ही त्यागपत्र दे दिया था ताकि सरकार आयोग का नये सिरे से पुनर्गठन कर सके। इस प्रकार आयोग की सदस्यता प्रधान मन्त्री की इच्छानुसार ही बनी रह सकती है।

अंशकालिक सदस्य अर्थात् मन्त्री अपने पद से हट जाने पर योजना आयोग की सदस्यता से त्यागपत्र दे देते है। ऐसा करना एक स्वस्थ परम्परा मात्र है।

आयोग की कार्यप्रणाली

आर्थिक नियोजन के सारे काम को सदस्यों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक सदस्य अपने क्षेत्र से सम्बन्धित समस्याओं के बारे में उत्तरदायी होता है। प्रत्येक क्षेत्र (कृषि, उद्योग, प्राकृतिक साधन, प्रशासन एवं परिवहन, शिक्षा, सामाजिक नियोजन एवं अन्तरराष्ट्रीय व्यापार, वित्त आदि) से सम्बन्धित सदस्य अपने-अपने विभागों तथा अनुभागों की देख-रेख करता है।

सामाजिक दायित्व—काम का यह विभाजन या वितरण सुविधा की दृष्टि से किया गया है किन्तु सभी महत्त्वपूर्ण कार्यों के लिए आयोग के सदस्यों का सामूहिक उत्तरदायित्व होता है। समय-समय पर सदस्यों की सभाएँ बुलाकर विभिन्न समस्याओं के बारे में निर्णय लिए जाते है।

मुख्य दायित्व—पूर्णकालिक सदस्यों पर–सब कार्य बंटा र हने पर भी आयोग के कार्य संचालन का मुख्य दायित्व पूर्णकालिक सदस्यों पर होता है। यह लोग विभिन्न प्रकार का कार्य करने तथा उस पर निर्णय लेने की दृष्टि से बार-बार आपस में विचार-विमर्श करते रहते हैं। इस व्यवस्था को सरल बनाने के लिए इन सब सदस्यों के कार्यालय बिल्कुल पास-पास स्थित हैं:

जो मन्त्री आयोजना आयोग के सदस्य हैं विशेष अवसरों पर ही सभा में भाग लेते है जबकि किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर विचार करना होता है या नीति सम्बन्धी कोई निर्णय लेना होता है। उपाध्यक्ष द्वारा प्रायः पूर्णकालिक सदस्यों से सप्ताह में एक या दो बार विचार-विमर्श कर लिया जाता है। विचार-विमर्श करते समय अलग-अलग विभागों के अध्यक्ष भी आमन्त्रित किये जाते है।

आयोग के कार्य अथवा प्रशासन सम्बन्धी सभी महत्त्वपूर्ण कागज पत्र सभी सदस्यों में प्रसारित किये जाते है।

काम की प्रक्रिया—योजना आयोग के विभागध्यक्ष तथा अनुभाग अधिकारी अपने क्षेत्र के सदस्य के मार्गदर्शन में काम करते हैं और अपनी कार्य सम्बन्धी समस्याओं तथा घटनाओं की जानकारी सम्बन्धित सदस्य को देते रहते हैं। प्रत्येक विभाग तथा अनुभाग के कर्मचारी तथा अधिकारी अपने-अपने विभागों से सम्बन्धित सदस्य के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

आयोग की नियमित या विशेष बैठकों में जिन समस्याओं पर विचार होना होता है उनके सम्बन्धित सदस्य को पूरी स्थितियों से अवगत करा दिया जाता है।

विशेष कार्य—यदि पंचवर्षीय योजना में निर्धारित बातों के ऊपर कोई काम करना है, किसी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक समस्या के विषय में निर्णय लेना है, वरिष्ठ अधिकारियों की नियुक्ति करनी है तथा जिन विषयों को राष्ट्रीय विकास

परिषद् के सामने विचार के लिए रखना है उन सब को उपाध्यक्ष के नोटिस में लाना आवश्यक है।

योजना आयोग का सदस्य मण्डल उन सब विषयों पर विचार करता है जिनका सम्बन्ध योजनाओं के निर्माण से होता है या योजनाओं में कुछ परिवर्तन करने सम्बन्धी प्रस्ताव पर विचार करना होता है। यदि भारत सरकार को आर्थिक नियोजन सम्बन्धी नीतियों में सुधार सम्बन्धी सुझाव देना हो या आयोग के संगठन सम्बन्धी कोई परिवर्तन सुझाना हो तो इस प्रकार के प्रस्ताव पर भी आयोग का पूरा सदस्य मण्डल विचार करता है। इस प्रकार नीति निर्धारण या नीति में परिवर्तन सम्बन्धी सभी बातों पर आयोग के सभी सदस्यों की सहमति होना आवश्यक है।

केन्द्रीय सरकार से सम्बन्ध
[RELATION WITH CENTRAL GOVERNMENT]

पिछले कुछ वर्षों में राज्यों तथा केन्द्र में वित्तीय मामलों को लेकर अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं। योजना आयोग को केन्द्र तथा राज्यों की योजनाओं की पूरी तरह जानकारी होती है अतः अनेक मामलों में वह केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों को परामर्श देने का कार्य करता है। बहुधा केन्द्रीय या राज्य सरकारें योजना आयोग से विभिन्न समस्याओं के विषय में सलाह माँगती है। योजना आयोग अपने विशेष ज्ञान तथा साधनों के आधार पर यह सलाह देता रहता है। वह प्रायः सभी समस्याओं पर केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों में सहयोग स्थापित करने के प्रयत्न करता है।

(१) **प्रधान मन्त्री तथा अन्य सदस्य**—योजना आयोग तथा केन्द्रीय सरकार में सहयोग की सबसे महत्त्वपूर्ण कड़ी प्रधान मन्त्री हैं जो आयोग के अध्यक्ष होते हैं। यह कड़ी अन्य मन्त्रियों को आयोग का सदस्य बनाने से और अधिक दृढ़ हो गयी है। इन व्यक्तियों को योजना आयोग का सदस्य बनाने से आयोग के सभी निर्णय अधिक व्यावहारिक तथा स्वीकार्य हो गये हैं क्योंकि आयोग के सभी महत्त्वपूर्ण निर्णय मन्त्री सदस्यों से विचार विमर्श के पश्चात् ही किये जाते हैं अतः जब भी कोई सुझाव सरकार के सामने प्रस्तुत किया जाता है, वह प्रायः स्वीकार हो जाता है।

(२) **सरकारी समितियों में आयोग के अधिकारी**—योजना आयोग तथा केन्द्रीय सरकार मे आपसी सम्पर्क स्थापित करने में एक अन्य बात सहायक होती है। भारत सरकार द्वारा नियुक्त अनेक समितियों म योजना आयोग के अधिकारियों की नियुक्ति की जाती है और योजना आयोग की अनेक समितियों में भारत सरकार के विभिन्न मन्त्रालयों के अधिकारी नियुक्त किये जाते हैं। इस प्रकार सरकार द्वारा लिए गये अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णयों में योजना आयोग का सहयोग होता है तथा योजना आयोग द्वारा लिए गये अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णयों में सरकारी अधिकारियों का सहयोग होता है। इस प्रकार विशेषज्ञों के आदान प्रदान से सरकार तथा योजना आयोग के निर्णयों में विवाद की सम्भावना बहुत कम हो जाती है।

(३) **सांख्यिकीय तथ्य**—पंचवर्षीय योजनाओं के प्रारूप तैयार करने तथा

अनेक क्षेत्रों के विकास सम्बन्धी निर्णय लेने मे साँख्यिकीय तथ्यों की नियमित रूप मे आवश्यकता पड़ती है। योजना आयोग यह तथ्य केन्द्रीय साँख्यिकीय संगठन (Central Statistical Organisation) से प्राप्त करता है। यह संगठन भारत सरकार द्वारा १९५० मे ही बनाया गया था। भारत सरकार के साँख्यिकीय सलाहकार योजना आयोग के पदेन सदस्य होते है। इस प्रकार योजना आयोग और साँख्यिकीय संगठन मे नियमित सहयोग रहता है।

इतना ही नही, योजना आयोग का साँख्यिकीय तथा सर्वेक्षण विभाग मूल रूप मे साँख्यिकीय संगठन का ही एक भाग है जिसके मुख्य अधिकारी भी साँख्यिकीय संगठन के ही मुख्य अधिकारी है। कुछ वर्ष से केन्द्रीय साँख्यिकीय संगठन का कार्यालय भी योजना भवन मे ही स्थापित कर दिया गया है अतः यह सहयोग और अधिक सरल हो गया है।

(४) आयोग के अधिकारी—योजना आयोग के अधिकांश अधिकारी भारत सरकार अथवा राज्य सरकरों के विभिन्न विभागो से ही नियुक्त किये जाते है। इससे योजना आयोग तथा केन्द्र एवं राज्य सरकारों में आपसी सहयोग स्थापित होने में बहुत सरलता रहती है क्योकि इनके अनेक अधिकारी व्यक्तिगत स्तर पर एक दूसरे से परिचित हो जाते है तथा एक दूसरे की नीतियों को आपसी विचार-विमर्श द्वारा समझने लगते है।

(५) प्रशिक्षण व्यवस्था—केन्द्रीय तथा राज्य अधिकारियों को आर्थिक नियोजन की समस्याओ तथा प्रक्रियाओ से अधिक परिचित कराने के लिए योजना आयोग द्वारा समय-समय पर प्रशिक्षण कार्यक्रमों का आयोजन किया जाता है। इन कार्यक्रमो मे सरकारी अधिकारियों को प्रशिक्षण दिया जाता है। कभी-कभी सरकार द्वारा आयोजित प्रशिक्षण कार्यक्रमों मे भी योजना आयोग द्वारा सहयोग दिया जाता है। इस प्रकार योजना आयोग के अधिकारियो को सरकारी अधिकारियो के सम्पर्क में आने का अवसर मिलता है और उन्हें एक दूसरे की समस्याओं को समझने का अवसर मिलता है।

राज्य, केन्द्र तथा योजना आयोग
[STATES, CENTRE AND PLANNING COMMISSION]

राज्य सरकारों, केन्द्र सरकार तथा योजना आयोग में आपसी तालमेल स्थापित करने के लिए भी कुछ व्यवस्थाएँ की गयी है जो निम्नलिखित है :

(१) राष्ट्रीय विकास परिषद्
(National Development Council)

भारत में संघीय शासन है जिसमें केन्द्रीय सरकार है, राज्य सरकारें है तथा केन्द्र शासित प्रदेश है। ऐसी व्यवस्था में आर्थिक नियोजन इस ढंग से करना पड़ता है कि सारे देश के लिए जो योजना बने उसमें केन्द्र तथा राज्यों की पूरी-पूरी सहमति हो। योजना आयोग की स्थापना भारत सरकार द्वारा की गयी थी और वह अपने कार्यों के लिए भारत सरकार के प्रति ही उत्तरदायी है। अतः एक ऐसी व्यवस्था करना

आवश्यक था जिससे राज्यों तथा केन्द्र में उचित तालमेल हो और योजना सही अर्थों में राष्ट्रीय योजना बन सके। इस समस्या का समाधान करने के लिए राष्ट्रीय विकास परिषद् की स्थापना की गयी है।

स्थापना—भारतीय योजना आयोग ने प्रथम योजना तैयार करते समय ही यह अनुभव किया था कि जब देश में राज्य सरकारों को अपने कार्यक्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता है तब उसमें एक ऐसा संगठन अवश्य होना चाहिए जिसके तत्वावधान में प्रधान मन्त्री तथा राज्यों के मुख्य मन्त्री आपस में बैठकर योजना की समस्याओं के बारे में विचार-विमर्श कर सकें।

अतः योजना आयोग ने प्रथम योजना के मसौदे में ही राष्ट्रीय विकास परिषद् की स्थापना का सुझाव दिया था। तदनुसार अगस्त १६५२ में भारत सरकार द्वारा इस परिषद् की स्थापना की गयी।

कार्य (Functions)—राष्ट्रीय विकास परिषद् एक सलाह देने तथा समीक्षा करने वाला संगठन है जिसका कार्य योजना बनाने में सहयोग देना तथा भारत के विभिन्न भागों का सन्तुलित आर्थिक विकास प्रोत्साहित करना है।

संक्षेप में इसके कार्य निम्नलिखित हैं :

(i) **समीक्षा**—समय-समय पर राष्ट्रीय योजना की समीक्षा करना।

(ii) **नीति निर्धारण**—राष्ट्रीय विकास को प्रभावित करने वाली सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं पर विचार करना, तथा

(iii) **लक्ष्य प्राप्ति के लिए सुझाव**—राष्ट्रीय योजना में निर्धारित उद्देश्यों तथा लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सुझाव देना। इन सुझावों में निम्नलिखित समस्याओं सम्बन्धी विचार बहुत महत्वपूर्ण हैं :

(क) जनता का सक्रिय सहयोग किस प्रकार प्राप्त किया जाय ?

(ख) प्रशासनिक सेवाओं को किस प्रकार अधिक कुशल बनाया जाय ?

(ग) कम विकसित भागों तथा समाज के पिछड़े हुए वर्गों का अधिकतम विकास करना, तथा

(घ) देश के विकास के लिए आर्थिक साधनों की व्यवस्था करना।

वास्तव में इन सब समस्याओं के समाधान से ही देश का आर्थिक विकास तेजी से हो सकता है। यह समस्याएँ जटिल भी हैं अतः इन पर विचार के लिए अधिक योग्य तथा अनुभवी व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। इसी दृष्टि से परिषद् की सदस्यता का निर्धारण किया गया है।

परिषद् की सदस्यता

राष्ट्रीय विकास परिषद् के निम्नलिखित व्यक्ति सदस्य हैं :

(i) भारत के प्रधान मन्त्री।

(ii) सभी राज्यों के मुख्य मन्त्री।

(iii) योजना आयोग के सदस्य।

(iv) राज्यों में जो मन्त्री योजना तथा वित्त का कार्य भार सम्हालते हैं उन्हें

परिषद् की बैठकों मे भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया जाता है। कभी-कभी भारत सरकार के उन मन्त्रियों को भी बैठक मे भाग लेने के लिए आमन्त्रित कर लिया जाता है जिनके विभाग से सम्बन्धित समस्याओं का परिषद् की बैठक में विचार होता है।

इस प्रकार राष्ट्रीय विकास परिषद् एक अत्यन्त उच्चस्तरीय संगठन है जिसमें देश के कर्णधार आपसी विचार विमर्श द्वारा देश के विकास के लिए नीति निर्धारित करते है तथा उस नीति की सफलता के लिए मार्ग दर्शन करते है।

राष्ट्रीय विकास परिषद् ने योजना के अतिरिक्त समय-समय पर आर्थिक विकास सम्बन्धी अन्य विशेष समस्याओं पर विचार किया है। यह समस्याएँ (i) **भूमि सुधार**, (ii) **मूल्य नीति**, (iii) **खाद्यान्न नीति**, (iv) **रोजगार नीति**, (v) **सामुदायिक विकास परियोजनाएँ** तथा **राष्ट्रीय विकास सेवा**, (vi) **लोक क्षेत्र**, तथा (vii) **मानवी शक्ति** से सम्बन्धित है। परिषद् ने समय-समय पर कर नीति के बारे में महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये है। इन सबके परिणामस्वरूप देश के आर्थिक विकास के लिए एक सन्तुलित नीति अपनाने मे सहायता मिली है और राज्यों की आर्थिक नीतियो मे कुछ सहयोग स्थापित हो सका है।

(२) कार्यक्रम सलाहकार
(Programme Advisors)

प्रथम योजना के समय ही योजना आयोग ने यह अनुभव किया कि राज्यों मे विकास योजनाओं की सफलता का अनुमान लगाने के लिए कोई साधन उपलब्ध नही है। योजनाओं का सचालन अनेक बातों पर निर्भर करता है—ठीक समय पर ठीक मात्रा में धन उपलब्ध है या नही, प्रशासनिक संगठन की कुशलता कैसी है, योजना सम्बन्धी नीतियाँ तथा रीतियाँ पर्याप्त प्रभावशाली है या नही तथा उनके संचालन में क्या कठिनाइयाँ है? इन सब बातों की सही जानकारी पत्र-व्यवहार से नही हो सकती। अत यह अनुभव किया गया कि सरकार के पास ऐसा कोई साधन होना चाहिए जिससे विभिन्न प्रदेशों की आर्थिक स्थिति के बारे में सही-सही सूचना मिलती रहे।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए १९५२ में तीन सलाहकारों की नियुक्ति की गयी। यह सलाहकार जिन्हें कार्यक्रम प्रशासन सलाहकार कहा जाता है बहुत वरिष्ठ एवं अनुभवी व्यक्ति होते है जिन्हें आर्थिक प्रशासन का काफी ज्ञान होता है। इनकी संख्या अनेक बार चार या पाँच भी हुई है।

यह सलाहकार नियमित रूप मे राज्यों का दौरा करते है, राज्यों के वरिष्ठ अधिकारियों से मिलते है तथा उनसे आर्थिक नियोजन तथा विकास सम्बन्धी समस्याओ पर विचार-विमर्श करते है। अपने विचार-विमर्श के समय वह प्रशासन, वित्त तथा नियोजन में जन सहयोग की समस्याओं पर विशेष ध्यान देते हैं। राज्यों के प्रशासनिक अधिकारियों से बातचीत के पश्चात् यह सलाहकार योजना आयोग को

अपनी रिपोर्ट देते हैं जिसमें विभिन्न क्षेत्रों की समस्याएँ तथा उनके समाधान के लिए सुझाव दिये जाते हैं।

प्रत्येक कार्यक्रम सलाहकार के लिए एक क्षेत्र निर्धारित किया जाता है जिसकी समस्याओं का अध्ययन कर वह रिपोर्ट देता है। इन रिपोर्टों के आधार पर ही भारत सरकार तथा योजना आयोग द्वारा आर्थिक नियोजन सम्बन्धी नीतियाँ निश्चित की जाती हैं और उनमें सुधार किये जाते हैं।

(३) **योजनाओं पर विचार-विमर्श**—जिस समय कोई पचवर्षीय योजना बनानी होती है, उससे काफी समय पूर्व ही योजना आयोग विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों (कृषि, उद्योग, परिवहन आदि) के लिए कार्यकारी दल नियुक्त कर देता है। यह दल अपने-अपने क्षेत्र की समस्याओं पर गहराई से विचार कर अपनी रिपोर्ट देते हैं। राज्य सरकारों तथा केन्द्रीय सरकार के विभिन्न मन्त्रालयों से भी अपने-अपने क्षेत्र से सम्बन्धित आर्थिक विकास के प्रस्तावों की माँग की जाती है। इन प्रस्तावों पर आयोग के सदस्यों तथा सरकारी प्रतिनिधियों में आपस में विचार होता है। इस सारे विचार-विमर्श से कुछ निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न किया जाता है और योजना का मसौदा तैयार किया जाता है।

योजना के मसौदे को जनता में प्रसारित किया जाता है और उस पर जनता तथा विशेषज्ञों का मत लिया जाता है। इस मत को ध्यान में रखकर योजना का अन्तिम स्वरूप तैयार कर प्रकाशित कर दिया जाता है। इस प्रकार योजना को अन्तिम रूप प्रदान करने से पहले अनेक स्तरों पर सम्बन्धित व्यक्तियों से विचार-विमर्श किया जाता है।

संसद और योजना आयोग
[PARLIAMENT AND PLANNING COMMISSION]

योजना आयोग जो भी योजना बनाता है उसे अन्तिम स्वीकृति संसद द्वारा दी जाती है और संसद की स्वीकृति के पश्चात् ही योजना को वैधानिक स्वरूप प्राप्त होता है। इसी प्रकार योजना की प्रगति के बारे मे भी समय-समय पर संसद में विवाद होता रहता है जिससे योजना की उपलब्धियों तथा कमियों का ज्ञान होता है। इस प्रकार संसद और योजना आयोग को निरन्तर सम्पर्क में रहना पड़ता है जिसका अनुमान निम्नलिखित तथ्यों से लग सकता है :

(१) **निर्माण**—योजना के निर्माण से पूर्व अनेक बार संसद की कुछ समितियाँ नियुक्त की जाती हैं जो अलग-अलग विषयों पर अपने सुझाव देती हैं। योजना को अन्तिम रूप देते समय इन सुझावों का ध्यान रखा जाता है।

संसद की समितियों के अतिरिक्त प्रायः सभी विरोधी दलों के संसद सदस्यों को योजना सम्बन्धी सुझाव देने के लिए आमन्त्रित किया जाता है। योजना को अन्तिम रूप देते समय इनके सुझावों का भी ध्यान रखा जाता है।

(२) **समीक्षा**—योजना के प्रकाशित होने के पश्चात् जब इस पर कार्य आरम्भ हो जाता है तो समय-समय पर संसद में योजना की प्रगति की समीक्षा होती है और संचालन की कमियों तथा श्रेष्ठताओं पर विचार किया जाता है। इस विचार-विमर्श से योजना के प्रशासन में सुधार करने में सहायता मिलती है।

प्राय: नयी योजना बनाते समय भी पिछली योजना की उपलब्धियों के बारे मे विस्तृत विचार होता है और पुरानी गलतियों से नये सुधार करना सरल हो जाता है।

(३) **अनौपचारिक सलाहकार समिति**—योजना आयोग की समस्याओं तथा योजना सम्बन्धी मामलों पर विचार करने के लिए संसद की एक अनौपचारिक समिति भी है। इसकी बैठक होने से पहले इसके सदस्यों को योजना सम्बन्धी नोट तथा टिप्पणियाँ भेज दी जाती है ताकि बैठक में सही मुद्दों पर लाभदायक विचार-विमर्श हो सके। इस विचार-विमर्श से भी योजना सम्बन्धी नीतियों तथा प्रक्रियाओं में सुधार का अवसर मिलता है।

(४) **प्रश्नों के उत्तर**- संसद में सदस्यों द्वारा योजनाओं के विषय में जो प्रश्न पूछे जाते है, प्रश्नोत्तर काल में योजना मन्त्री को उनका उत्तर देना होता है। ऐसे सब प्रश्नों के उत्तर योजना आयोग द्वारा तैयार किये जाते है क्योंकि आयोग के पास सभी विषयों सम्बन्धी विस्तृत ब्यौरा होता है।

इस प्रकार संसद और योजना आयोग में योजना सम्बन्धी अनेक स्तरों पर सहयोग बना रहता है।

योजना आयोग के प्रमुख विभाग
[IMPORTANT DIVISIONS OF PLANNING COMMISSION]

भारतीय योजना आयोग के आन्तरिक संगठन के बारे में निरन्तर विचार होता रहा है और उसके विभागों तथा अनुभागों में निरन्तर परिवर्तन होता रहा है। योजना आयोग के एक प्रकाशन के अनुसार आयोग में दो समन्वयन विभाग (Co-ordinating Divisions), छह सामान्य विभाग, दस विषय विभाग तथा दो विभाग विशेष विकास कार्यक्रमों या संगठनात्मक कार्य के लिए है। इनका ब्यौरा निम्नलिखित है:

समन्वयन विभाग

(१) कार्यक्रम प्रशासन विभाग (The Programme Administration Division), तथा

(२) योजना समन्वयन अनुभाग (The Plan Co-ordination Section)।

सामान्य विभाग

(१) **आर्थिक विभाग** (Economic Division)—इसमे वित्तीय साधन, आर्थिक नीति एवं विकास, अन्तरराष्ट्रीय व्यापार एवं विकास, मूल्य नीति तथा विभिन्न उद्योगो सम्बन्धी अध्ययन के अनुभाग सम्मिलित है।

(२) **परिप्रेक्ष्य नियोजन विभाग** (Perspective Planning Division)।

(३) श्रम तथा रोजगार विभाग (Labour and Employment (Division) ।

(४) साँख्यिकी एवं सर्वेक्षण विभाग (Statistics and Surveys Division) ।

(५) साधन तथा वैज्ञानिक शोध विभाग (Resources and Scientific Research Division) जिसमें दो अनुभाग हैं, पहला प्राकृतिक साधन अनुभाग तथा दूसरा वैज्ञानिक शोध अनुभाग ।

(६) प्रबन्ध तथा प्रशासन विभाग (Management and Administration Section) ।

विषय विभाग

(१) कृषि विभाग (Agriculture Division) जिसमें सहकारिता और सामुदायिक विकास सम्मिलित हैं ।

(२) सिंचाई तथा बिजली विभाग (Irrigation and Power Division) ।

(३) भूमि सुधार विभाग (Land Reforms Division).

(४) उद्योग तथा खनिज विभाग—(Industry and Minerals Division) जिसमें उद्योग, खनिज तथा लोक उद्योगों के अनुभाग सम्मिलित हैं ।

(५) ग्राम तथा लघु उद्योग विभाग (Village and Small Industries Division) ।

(६) परिवहन तथा संचार विभाग (Transport and Communication Divission) ।

(७) शिक्षा विभाग (Education Division) ।

(८) स्वास्थ्य विभाग (Health Division) ।

(९) आवास विभाग (Housing Division) जिसमे नागरिक विकास भी सम्मिलित है ।

(१०) समाज कल्याण विभाग (Social Welfare Division) जो पिछड़े हुए वर्गो के कल्याण से भी सम्बन्धित है ।

विशेष कार्यक्रमों से सम्बन्धित विभाग

(१) ग्रामीण योजना विभाग (Rural Works Division)

(२) जन सहयोग विभाग (Public Co-operation Division)

सहयोगी एजेन्सियाँ—इन विभागों के अतिरिक्त योजना आयोग में तीन अन्य संगठन हैं जो योजना आयोग के अन्तर्गत काम करते हैं किन्तु वह आयोग के भाग न होकर सहयोगी सस्थाएँ हैं । इनके नाम हैं :

(i) कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन (The Programme Evaluation Organisation)

(ii) शोध कार्यक्रम समिति (The Research Programmes Committee)

(iii) योजना परियोजना समिति (The Committee on Plan Projects)

शाखाएँ—योजना आयोग में निम्नलिखित कार्यों की देखभाल के लिए शाखाएँ है :

(i) प्रशासन (Administration),

(ii) सामान्य समन्वय (General Co-ordination),

(iii) सूचना (Information),

(iv) प्रचार और प्रकाशन (Publicity and Publications),

(v) संगठन तथा प्रणालियाँ (Organization and Methods),

(vi) चार्ट और चित्र (Charts and Maps),

(vii) पुस्तकालय (Library)।

इससे पूर्व दिए गये विभागों के कार्यों का संक्षिप्त परिचय आगे दिया जा रहा है।

(क) समन्वयन विभाग

इस विभाग की दो विशेषताएँ है .

(i) **कार्यक्रम प्रशासन विभाग**— इस विभाग की स्थापना १९५५ मे की गयी थी। इसके मुख्य कार्य निम्नलिखित है :

(अ) केन्द्रीय तथा राज्यों की योजनाओ के आकार निश्चित करने में सहायता करना।

(आ) राज्यों की योजनाओं का आर्थिक, तकनीकी तथा वित्तीय दृष्टिकोणों से अध्ययन करने में कार्यक्रम सलाहकारों की सहायता करना।

(इ) राज्यों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों के प्रतिनिधियों का योजना आयोग के सदस्यों से विचार-विमर्श आयोजित करना।

(ई) कार्यक्रम सलाहकारों को सचिवीय सुविधाएँ प्रदान करना तथा उनके द्वारा प्रस्तुत रिपोर्टों का विश्लेपण करना।

इस प्रकार कार्यक्रम प्रशासन विभाग मुख्य रूप में केन्द्र, राज्य तथा केन्द्र शासित प्रदेशों के योजना कार्यक्रमों को अन्तिम रूप देने मे सहायता करता है।

यह विभाग एक प्रमुख (chief) के निदेशन में काम करता है जो प्राय: एक अर्थशास्त्री होता है।

(ii) **योजना समन्वयन अनुभाग**—इस विभाग के मुख्य कार्य निम्नलिखित है :

(अ) योजना के आरम्भ से अन्त तक की क्रियाओं का समन्वयन कर योजना का अन्तिम स्वरूप तैयार करना।

(आ) **रिपोर्ट**—योजना की मासिक रिपोर्ट तया समीक्षाएँ तैयार करने में सहायता देना।

यह अनुभाग एक निदेशक (Director) के अन्तर्गत कार्य करता है जो प्राय: एक अर्थशास्त्री होता है और जिसे आर्थिक प्रशासन का अनुभव होता है।

(ख) सामान्य विभाग
(General Divisions)

(i) आर्थिक विभाग—सामान्य विभागों में पहला आर्थिक विभाग है। इस विभाग के तीन अनुभाग हैं: पहला अनुभाग वित्तीय साधनों की समस्याओं पर विचार करता है और इस काम के लिए भारत सरकार के वित्त मन्त्रालय से सम्पर्क रखता है।

दूसरा अनुभाग आर्थिक नीति एवं विकास से सम्बन्धित है। इसका मुख्य कार्य मूल्य तथा मौद्रिक नीति, विकास के लिए संस्थागत परिवर्तन, राष्ट्रीय आय तथा लेखों का विश्लेषण और योजना के तकनीकों पर विचार करना तथा उनमें सुधार के लिए सुझाव देना है।

तीसरा अनुभाग विदेशी विनिमय तथा व्यापार आयात-निर्यात की समस्याओं, विदेशी विनिमय की उपलब्धि तथा विदेशी सहायता आदि की देख-रेख करता है।

यह तीनों अनुभाग एक-एक अर्थशास्त्री की प्रमुखता में कार्य करते हैं। इन तीनों के कार्य में समन्वय स्थापित करने का काम एक आर्थिक सलाहकार (Economic Advisor) का है जो इन तीनों का अध्यक्ष होता है।

(ii) परिप्रेक्ष्य नियोजन विभाग—आर्थिक नियोजन का कार्य मुख्यत: दीर्घकालीन होता है। परिप्रेक्ष्य नियोजन विभाग विकास की दीर्घकालीन समस्याओं पर विचार करता है और इन समस्याओं को ध्यान में रखकर योजना के दीर्घकालीन लक्ष्यों का निर्धारण करता है।

इन लक्ष्यों का निर्धारण करने में प्राय: निम्नलिखित समस्याओं का अध्ययन करना आवश्यक होता है:

(अ) बढ़ता हुआ जीवन स्तर और उपभोग का क्रम।

(आ) कृषि तथा सम्बन्धित क्रियाओं का दीर्घकालीन विकास।

(इ) निर्मित माल, औद्योगिक कच्चा माल, बिजली तथा परिवहन की सुविधाओं की दीर्घकालीन माँग।

(ई) अवसर की समानता के लिए शिक्षा तथा चिकित्सा की सुविधाओं की व्यवस्था।

(उ) भुगतान सन्तुलन, मूल्य निर्धारण, कर व्यवस्था तथा विनियोग के लिए साधन संग्रह।

(ऊ) दीर्घकाल में श्रम शक्ति की आवश्यकता तथा उसके प्रशिक्षण की व्यवस्था।

यह विभाग योजना के दीर्घकालीन लक्ष्यों का निर्धारण करता है और उन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए सभी आवश्यक व्यवस्थाओं सम्बन्धी सुझाव देता है। इस विभाग के कार्य के महत्त्व की दृष्टि से सभी अध्ययन दलों में इसके प्रतिनिधि रखे जाते हैं।

यह विभाग प्रायः एक विशेषज्ञ के निदेशन में काम करता है।

(iii) **श्रम तथा रोजगार विभाग**—यह विभाग मुख्य रूप में रोजगार की विभिन्न समस्याओं का अध्ययन करता है। रोजगार की वर्तमान स्थिति, विभिन्न क्षेत्रों में बेरोजगारों की स्थिति तथा बेरोजगारी की समस्या को हल करने की रीतियों सम्बन्धी अध्ययन इस विभाग द्वारा किये जाते हैं। इसके प्रमुख भी एक साँख्यिकीय विशेषज्ञ है।

(iv) **समंक तथा सर्वेक्षण विभाग**—इसकी स्थापना १९५५ में की गयी। यह विभाग सब कार्य तो योजना आयोग के लिए करता है किन्तु यह केन्द्रीय सॉख्यिकीय संगठन (Central Statistical Organisation) का ही एक अंग है। यह विभाग नियोजन से सम्बन्धित आँकड़े इकट्ठे करता है और समय-समय पर उन्हें प्रकाशित करता रहता है।

(v) **प्राकृतिक साधन अनुभाग**—यह अनुभाग देश के वन, जल, शक्ति आदि सम्बन्धी साधनो के बारे में अध्ययन करता है। इसके प्रमुख एक भूगोल विशेषज्ञ है तथा अलग-अलग क्षेत्रों (भूमि, वन, जल आदि) के अध्ययन के लिए अलग-अलग विशेषज्ञों की सेवाएँ इस अनुभाग को उपलब्ध है।

(vi) **वैज्ञानिक शोध अनुभाग**—यह अनुभाग देश की शोध सस्थाओं के सम्पर्क में रहता है। इन संस्थाओं द्वारा किये गये शोध कार्य का किन-किन क्षेत्रों में क्या उपयोग हो रहा है इसकी जानकारी रखता है। यह इस बात की व्यवस्था भी करता है कि सभी शोध संस्थाओं की क्रियाओं की इसे नियमित जानकारी मिलती रहे।

वैज्ञानिक शोध अनुभाग विभिन्न शोध संस्थानों के कार्य में समन्वय स्थापित करता है और उनमें सहायता करने का प्रयत्न करता है।

(vii) **प्रबन्ध तथा प्रशासनिक अनुभाग**—इस अनुभाग के मुख्य कार्य निम्नलिखित है :

(क) लोक क्षेत्र के उपक्रमों के प्रशासन का अध्ययन।

(ख) राज्यों तथा जिला स्तर पर नियोजन सम्बन्धी संगठन।

(ग) प्रशासनिक सुधार सम्बन्धी सुझाव एवं कार्य।

यह अनुभाग एक उप सचिव के निदेशन में कार्य करता है।

(ग) विषय विभाग
(Subject Divisions)

(i) **कृषि विभाग**—इसकी स्थापना १९५० मे की गयी थी। यह कृषि उत्पादन, लघु सिंचाई, पशु पालन, दुग्ध व्यवसाय, मछली पालन, वन संरक्षण, सहकारिता तथा सामुदायिक विकास की समस्याओं का अध्ययन करता है। इसके प्रमुख एक संयुक्त सचिव है।

(ii) **सिंचाई तथा बिजली विभाग**—इस विभाग की स्थापना १९६२ में

की गयी। यह सिंचाई तथा बिजली की आवश्यकताओं की जानकारी कर उनकी पूर्ति के लिए आयोजन करता है।

इसमें सिंचाई अनुभाग सिंचाई, बाढ़ नियन्त्रण तथा दल-दल आदि की समस्याओं की देख-रेख करता है और बिजली अनुभाग कोयला, जल, तेल तथा अन्य साधनों से उत्पन्न की जाने वाली बिजली तथा उसके वितरण की व्यवस्था करता है। यह विभाग भारत सरकार के सिचाई तथा बिजली मन्त्रालय से सम्पर्क बनाये रखता है।

(iii) **भूमि सुधार विभाग**—इस विभाग को सितम्बर १९५३ में स्थापित किया गया। यह भूमि की समस्याओं (स्वामित्व तथा प्रबन्ध आदि) के बारे में राज्य सरकारों को सूचित करता है और उन्हें भूमि सुधार लागू करने में सहायता करता है। यह विभाग भी एक संयुक्त सचिव के नीचे कार्य करता है।

(iv) **उद्योग एवं खनिज विभाग**—यह विभाग पंचवर्षीय योजनाओं में उद्योग तथा खनिज विकास के कार्यक्रम निर्धारित करने में सहायता करता है। यह उद्योग तथा खनिज पदार्थों की माँग के अनुमान लगाता है और उस माँग की पूर्ति के लिए पूँजी तथा तकनीकी सुविधा की व्यवस्था करने में सहायता करता है। यह विभाग सरकार की औद्योगिक नीति की समीक्षा और सुधार में भी मदद देता है।

यह विभाग एक सलाहकार के निदेशन में काम करता है जिसके नीचे उद्योग तथा खनिज विभागों के अलग-अलग प्रमुख हैं।

(v) **ग्रामीण तथा लघु उद्योग विभाग**—यह विभाग लघु तथा कुटीर उद्योगों की समस्याओं का अध्ययन करता है तथा पंचवर्षीय योजनाओं में इन उद्योगों के विकास सम्बन्धी कार्यक्रमों को सम्मिलित करने में सहायता करता है। भारत में लघु उद्योगों के विकास के लिए जो मण्डल स्थापित किये गये हैं, यह विभाग उनकी नीतियों में समन्वय स्थापित करने में भी सहायता करता है।

(vi) **परिवहन तथा संचार विभाग**—यह विभाग रेल, सड़क तथा संचार व्यवस्थाओं की माँग तथा उनके विकास का अध्ययन करता है तथा योजनाओं में इन सुविधाओं सम्बन्धी कार्यक्रम सम्मिलित करने का सुझाव देता है।

(vii) **शिक्षा विभाग**—यह विभाग शिक्षा सुविधाओं के विकास की योजना बनाता है और उन्हें अलग-अलग चरणों में कार्यान्वित करने का सुझाव देता है। यह शिक्षा पर किये जाने वाले व्यय तथा शिक्षा नीतियों में परिवर्तन सम्बन्धी मार्ग दर्शन भी करता है।

(viii) **स्वास्थ्य विभाग**—यह विभाग चिकित्सा सम्बन्धी शिक्षा, मृत्यु समंक तथा महामारियों को रोकने की योजनाओं सम्बन्धी कार्य करता है और उनके पालन की व्यवस्था करता है।

(ix) **आवास विभाग**—यह विभाग नगर नियोजन, आवास तथा प्रादेशिक नियोजन की देख-रेख करता है। यह विभिन्न वर्गों के व्यक्तियो जैसे औद्योगिक श्रमिक, बागान में कार्यशील श्रमिक तथा विभिन्न वर्गों की आय वाले व्यक्तियों के लिए आवास की सुविधाओं मे वृद्धि के लिए योजना बनाता है। इन योजनाओं में सस्ते मकानों के नमूने तैयार करना भी शामिल है।

यह विभाग निर्माण लागत तथा मकान बनाने के साज व सामान के बारे में शोध भी करता है।

(x) **समाज कल्याण विभाग**—इस विभाग का काम समाज के पिछड़े हुए वर्गों के विकास के लिए स्कीम बनाना तथा इन योजनाओ को पूरा करने के लिए रकम निर्धारित करना है। यह विभाग इन योजनाओं के सफल संचालन की देख-रेख भी करता है।

(घ) विशिष्ट विकास कार्यक्रमों से सम्बन्धित विभाग
(Divisions Related with Distinct Developments Programmess)

(i) **ग्राम्य कार्य विभाग**—यह विभाग ग्रामों मे सड़कें, तालाब, बांध, भूमि कटाव रोकने आदि के कार्यक्रम निश्चित् करता है तथा उनके सचालन की उचित व्यवस्था करता है। अप्रैल १९६१ मे ग्राम्य विकास के सम्बन्ध मे सुझाव देने के लिए एक समिति बनायी गयी थी जो इस विभाग को उचित सलाह देती रहती है।

(ii) **जन सहयोग विभाग**—योजनाओं मे अधिक से अधिक जन सहयोग प्राप्त करने के लिए १९५१ मे भारत सेवक समाज की स्थापना की गयी थी। जन सहयोग विभाग भारत सेवक समाज से सम्पर्क रखता है। इस विभाग ने लोक कार्य क्षेत्र कार्यक्रम भी आरम्भ किया है जिसका लक्ष्य प्रशिक्षित व्यक्तियों का एक समूह बनाना है जो योजना के कार्यक्रमों को जनता तक पहुँचा सके। इस विभाग द्वारा स्वयं सेवी संगठनो को शोध तथा प्रशिक्षण के लिए आर्थिक सहायता दी गयी है।

कॉलिजो तथा विश्वविद्यालयों मे **प्लानिंग फोरम** (Planning Forums) इसी विभाग के सुझाव पर स्थापित किये गये हैं। इनका उद्देश्य भी शिक्षित वर्ग मे योजनाओं के प्रति जागृति उत्पन्न करना है।

(ङ) सम्बद्ध संगठन
(Associated Agencies)

(i) **कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन** (Programme Evaluation Organisation)—इस सगठन की स्थापना १९५२ मे की गयी। इसके मुख्य कार्य निम्न-लिखित है :

(अ) सामुदायिक विकास योजनाओ के उद्देश्यो की सफलता के विषय मे सभी सम्बन्धित व्यक्तियों को जानकारी देना।

(आ) विस्तार की जो रीतियाँ प्रभावशाली रही है और जो प्रभावशाली नही रही है उनकी जानकारी देना।

(इ) यह स्पष्ट करना कि ग्रामीणों द्वारा कुछ प्रणालियों को क्यों स्वीकार किया जा रहा है तथा अन्य को क्यों अस्वीकार किया जा रहा है।

(ई) भारत की संस्कृति और अर्थ तन्त्र पर सामुदायिक विकास योजना कार्यक्रम के प्रभाव का संकेत देना।

इस प्रकार कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन भारत में सामुदायिक विकास कार्यक्रमों की सफलता तथा असफलता और उसके कारणों पर प्रकाश डालता है तथा उन्हें सफल बनाने के लिए निदेश देता है।

(ii) **शोध कार्यक्रम समिति** (Research Programmes Committee)—यह समिति देश की विभिन्न सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करने के लिए विद्वानों को अनुदान देती है। कृषि, उद्योग, भूमि सुधार, श्रम समस्याएँ तथा अनेकानेक समस्याओं पर विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा अध्ययन किये गये हैं जिनकी रिपोर्टें शोध कार्यक्रम समिति द्वारा प्रकाशित की गयी हैं। इस प्रकार की शोध से आर्थिक समस्याओं का सही स्वरूप सामने आता है और भविष्य के आर्थिक नियोजन में सहायक होता है।

इसके अतिरिक्त बम्बई विश्वविद्यालय, पूना विश्वविद्यालय, आर्थिक विकास संस्थान दिल्ली, भारतीय सांख्यिकीय संस्थान तथा राष्ट्रीय व्यावहारिक आर्थिक शोध परिषद् को आर्थिक नियोजन सम्बन्धी अनुसन्धान केन्द्र मान लिया गया है और इस कार्य के लिए इन्हें नियमित अनुदान दिये जाते हैं।

एक बृहत् संस्था

भारतीय योजना आयोग एक बृहदाकार संस्था है। इसमें लगभग ३,००० व्यक्ति काम करते हैं जबकि १९५१-५२ में इसके कर्मचारियों की संख्या २४४ थी। योजना आयोग पर भारत सरकार का वार्षिक खर्च १९५०-५१ में लगभग ८.६ लाख रुपए था जो बढ़ कर १९७१-७२ में लगभग १.६ करोड़ रुपये हो जाने की आशा है।

इन अंकों से योजना आयोग के निरन्तर बढ़ते हुए विस्तार का पता चलता है। उसका बढ़ता हुआ आकार और खर्च इस बात का द्योतक है कि उसके कार्य क्षेत्र में नियमित वृद्धि हुई है। एक विकासशील देश में आर्थिक नियोजन का कार्य सरल नहीं है। अनेक क्षेत्रों की माँगें बढ़ रही हैं जिनमें समन्वय करना आवश्यक है। अनेक क्षेत्रों की समस्याएँ बढ़ रही हैं और नयी समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं जिनका समाधान करना आवश्यक है।

योजना आयोग सब क्षेत्रों की माँगों तथा समस्याओं का अध्ययन करता है, उन पर विचार-विमर्श करने के लिए विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों, संस्थाओं तथा अधिकारियों को आमन्त्रित करता है और इस प्रकार सरकार के अन्तिम निर्णय में अधिक से अधिक व्यक्तियों को सहयोगी और भागीदार बनाता है। प्रजातन्त्र में "बहुजन हिताय बहुजन सुखाय" की सिद्धि के लिए अधिक से अधिक व्यक्तियों को राष्ट्रीय

विकास में भागीदार बनाना आवश्यक है। भारतीय योजना आयोग इस दिशा में पूरी तरह सक्रिय प्रतीत होता है।

अभ्यास प्रश्न

१. भारतीय योजना आयोग की स्थापना क्यों की गयी ? उसके कार्यों का विवेचन कीजिए।

२. योजना आयोग की रचना का विवेचन कीजिए। **(संकेत: सदस्यता तथा उनके कार्य बतला दीजिए)**

३ भारतीय योजना आयोग का केन्द्रीय सरकार से क्या सम्बन्ध है ? इस सम्बन्ध पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए।

४. भारतीय योजना आयोग तथा राज्य सरकारों एवं संसद के सम्बन्धों की विवेचना कीजिए।

५. राष्ट्रीय विकास परिषद् क्या है ? उसके क्या कार्य है ? भारतीय आर्थिक नियोजन प्रणाली में उसका क्या स्थान है।

६. योजना आयोग के प्रमुख विभागों मे से किन्ही तीन का मूल्यांकन कीजिए।

७. भारतीय योजना आयोग का देश के आर्थिक विकास में क्या स्थान है ? उचित मूल्यांकन कीजिए।

८ भारत में आर्थिक नियोजन की प्रक्रिया

(PROCESS OF PLANNING IN INDIA)

योजना — पंचवर्षीय ही क्यों ?

कुछ समय पूर्व तक भारत की आर्थिक नियोजन सम्बन्धी क्रियाएँ मध्य-कालीन योजनाओं पर आधारित रही है। प्रारम्भ से ही भारत में आर्थिक नियोजन के लिए पाँच वर्ष का समय चुना गया। इसका मुख्य कारण यह था कि भारत में संसद तथा राज्यों की विधान सभाओं के चुनाव पाँच-पाँच वर्ष में होते है। प्रथम साधारण चुनाव १९५२ मे हुए और पहली पंचवर्षीय योजना उससे पहले वर्ष अर्थात् १९५१ में तैयार की गयी। इस प्रकार प्रत्येक योजना चुनाव के पहले वर्ष तैयार होती रही है।

यह क्रम वहुत सही प्रतीत नहीं होता। उचित यह है कि नयी सरकार अपने कार्यकाल के पांच वर्ष के लिए योजना बनाये और उसे अपने कार्यकाल में पूरा कर ले। १९६५-६६ के पश्चात् तीन वर्ष तक नियोजन-अवकाश का समय रहा और और चतुर्थ योजना अप्रैल १९६९ से लागू हुई। इसी बीच लोक सभा के चुनाव (१९७१ में) हो गये। अनेक विधान सभाओं में भी मध्याविधि चुनाव होने से योजना और नयी सरकार के पारस्परिक सम्बन्ध का सिलसिला टूट गया है। इस प्रकार योजनाओं के पंचवर्षीय होने का मुख्य आधार ही समाप्त हो गया है।

योजनाओं के आधार

भारत की पंचवर्षीय योजनाओं की प्रक्रिया या तकनीकों का अध्ययन करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि भारत में आर्थिक नियोजन का सारा ढाँचा चार मुख्य वातों का ध्यान रखकर किया जाता है। वह मुख्य आधार निम्न-लिखित है :

(१) **केन्द्र तथा राज्य**—भारत में संघीय शासन प्रणाली है जिसमें कृषि, सिंचाई, बिजली, शिक्षा, स्वास्थ्य, तथा अन्य सामाजिक सेवाएँ, लघु उद्योग, सड़क परिवहन तथा छोटे बंदरगाहों का विकास राज्यों का उत्तरदायित्व है। इसके साथ

ही उद्योग, रेलें, राष्ट्रीय सड़कें, बड़े बंदरगाह, जहाजरानी, नागरिक उड्डयन, संचार, वित्तीय संस्थाएँ और मौद्रिक तथा कर नीतियों का संचालन केन्द्रीय सरकार के दायित्व क्षेत्र में है। इस प्रकार सरकार को योजना बनाते समय केन्द्र तथा राज्यों की आर्थिक विकास नीतियों में समन्वय स्थापित करना पड़ता है ताकि राज्यों का कोई महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम योजना में शामिल होने से रह न जाय।

(२) **प्रजातन्त्र**—दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भारत एक प्रजातन्त्रीय देश है जिसमें जनमत का अत्यधिक महत्त्व है। अतः योजना इस प्रकार की बननी चाहिए जिसमें जनता की आशाओं और आकांक्षाओं का अधिकतम ध्यान रखा गया हो।

(३) **मिश्रित अर्थ-व्यवस्था**—भारत मे प्रजातन्त्रीय शासन के साथ-साथ समाजवादी व्यवस्था लाने का भी निश्चय किया गया है। अतः देश में लोक क्षेत्र तेजी से बढ़ रहा है। दूसरी ओर, आर्थिक तन्त्र का अधिकांश भाग जैसे कृषि, व्यापार, लघु उद्योग, भवन निर्माण तथा अधिकाश बड़े उद्योग निजी साहस के हाथ में है। इस प्रकार जनता की आर्थिक स्वतन्त्रता बनाये रखना भी आवश्यक है और आर्थिक संकेन्द्रण को कम करना भी महत्त्वपूर्ण है ताकि गरीबी अमीरी का भेद कम हो सके। इन दोनों विपरीत परिस्थितियों (या व्यवस्थाओं) मे उचित सन्तुलन बनाये रखना कुछ कठिन है किन्तु भारतीय नियोजन की जिम्मेदारी उठाने वालों को यह काम करना पड़ता है।

(४) **शक्तिशाली सामाजिक रुझान**—भारतीय विधान में सब व्यक्तियों के के लिए समान अवसर देने और समाज के सभी वर्गो के कल्याण का व्रत लिया गया है। अतः भारतीय योजनाओं मे सामाजिक हितों का विशेष ध्यान रखा जाना आवश्यक है। इस दृष्टि से अनेक बार कई ऐसी योजनाएँ बनायी जाती है जो आर्थिक दृष्टि से विशेष लाभदायक नहीं होती किन्तु सामाजिक दृष्टि से उनका बहुत अधिक महत्त्व होता है।

दीर्घकाल का महत्त्व

यद्यपि भारत की योजना पंचवर्षीय होती है किन्तु अनेक योजनाएँ या स्कीमें ऐसी होती है जिन्हें पाँच वर्ष में पूरा नही किया जा सकता। उदाहरणतः एक इस्पात का कारखाना पाँच वर्ष में नहीं लगाया जा सकता, एक बहुमुखी सिंचाई योजना पाँच वर्ष में पूरी नहीं की जा सकती। इसीलिए अब दीर्घकालीन आयोजन को महत्त्व दिया जा रहा है। उद्योग, बड़ी सिंचाई योजनाएँ तथा मानवी शक्ति के प्रशिक्षण के कार्यक्रम ऐसे है जिनके लिए दीर्घकालीन योजनाएँ बनानी पड़ती है। इसीलिए चतुर्थ योजना में अनेक अनुमान १९८०-८१ तक के लगाये गये हैं।

नियोजन की सामान्य प्रक्रिया

पंचवर्षीय योजना को तैयार करने में एक साथ तीन बातों का सही ज्ञान करना आवश्यक होता है :

(i) **भूतकालीन प्रवृत्तियाँ और सफलताएँ**—पिछले वर्षों में योजना के संचालन और पालन में क्या कठिनाइयाँ रही हैं तथा किन दिशाओं में कितनी सफलता मिली है।

(ii) **वर्तमान की मुख्य समस्याओं का अनुमान।**

(iii) **भविष्य की प्रगति के लिए उपाय तथा रीतियाँ।**

पंचवर्षीय भविष्य के विकास के लिए एक स्कीम होती है किन्तु भविष्य में किन क्षेत्रों में कितना विकास करना आवश्यक है यह पिछले विकास तथा वर्तमान स्थिति पर निर्भर करता है। इन सबकी जानकारी के लिए अनेक संस्थाओं तथा संगठनों का सहयोग प्राप्त करना पड़ता है।

तीन मुख्य स्रोत

भूतकालीन प्रवृत्तियों तथा वर्तमान समस्याओं की जानकारी के तीन मुख्य स्रोत हैं :

(i) योजना आयोग (Planning Commission)

(ii) केन्द्रीय साँख्यिकीय संगठन (Central Statistical Organisation)

(iii) रिजर्व बैंक आफ इण्डिया

इन तीनों संगठनों द्वारा समय-समय पर अनेक समस्याओं से सम्बन्धित रिपोर्टें तथा आँकड़े प्रकाशित किये जाते हैं जो भविष्य में नियोजन के लिए आधार का काम कर सकते हैं।

२. साधनों का विकास

पंचवर्षीय योजनाओं के लिए विश्वसनीय आधार की व्यवस्था करने के लिए विभिन्न योजनाओं में निम्नलिखित कदम उठाये गये हैं :

(i) **राष्ट्रीय लेखा प्रणाली का विकास**—केन्द्रीय साँख्यिकीय संगठन १६४८-४९ से भारत की राष्ट्रीय आय के अनुमान लगा कर प्रकाशित करता है। कुल पूँजी निर्माण सम्बन्धी अनुमान भी लगाये जाते हैं। कुछ राज्यों में आर्थिक एवं साँख्यिकीय निदेशालय राज्यों की वार्षिक आय के आँकड़े भी प्रकाशित करने लगे हैं।

रिजर्व बैंक तथा केन्द्रीय साँख्यिकीय संगठन द्वारा बचत तथा विनियोग सम्बन्धी अनुमान भी लगाये जाते हैं।

(ii) **कृषि, उद्योग तथा अन्य अंकों में सुधार**—अब देश की विभिन्न संस्थाएँ तथा संगठन खेती, उद्योग, मूल्य स्तर तथा वित्त सम्बन्धी आधुनिकतम अंक संग्रह कर प्रकाशित करने लगे हैं जिनका आर्थिक नियोजन के लिए बहुत अधिक महत्त्व है।

(iii) **निजी क्षेत्र सम्बन्धी अंक**—पहली दो योजनाओं की एक बहुत बड़ी कठिनाई यह थी कि निजी क्षेत्र की वास्तविक स्थिति सम्बन्धी आँकड़े उपलब्ध नहीं थे। अब रिजर्व बैंक द्वारा निजी कम्पनियों के स्थिति विवरण का विश्लेषण किया जाता है तथा कम्पनी कानून प्रशासन विभाग द्वारा आँकड़े संग्रह किये जाते हैं। इन साधनों से निजी क्षेत्र की स्थिति का पर्याप्त ज्ञान होने लगा है।

(iv) **शोध एवं मूल्यांकन**—पहली योजना काल में ही योजना आयोग के अन्तर्गत एक शोध कार्यक्रम समिति की स्थापना की गयी थी। इस समिति के प्रयत्नों से देश के विभिन्न भागों सम्बन्धी अनेक सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं का अध्ययन किया गया है, इन समस्याओं का अध्ययन विश्वविद्यालयों तथा शोध संस्थानों में किया गया है और इनसे देश की अनेक समस्याओं के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो सका है।

(v) **साधनों का सर्वेक्षण**—आर्थिक नियोजन का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष "साधनों की जानकारी" करना है। इसके लिए अनेक सस्थाओं की स्थापना या विकास किया गया है जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :

(क) केन्द्रीय जल तथा शक्ति आयोग (Central Water and Power Commission) जो देश के जल साधनों का सही अनुमान लगाता है।

(ख) भारतीय भू-वैज्ञानिक सर्वेक्षण (Geological Survey of India)

(ग) खनिज संस्थान (Bureau of Mines)

भारतीय भू-वैज्ञानिक सर्वेक्षण देश की भूमि तथा चट्टानों आदि के बारे में जानकारी करता है और खनिज संस्थान नयी खानों की खोज और पुरानी खानों के विकास के सुझाव देता है।

(घ) तेल तथा प्राकृतिक गैस आयोग (Oil and Natural Gas Commission)—यह भारत के विभिन्न भागों मे पैट्रोल तथा प्राकृतिक गैस की खोज का कार्य करता है।

यह सब संस्थाएँ अपने-अपने क्षेत्र में अनुसन्धान करती हैं और समय-समय पर अनुसन्धान सम्बन्धी रिपोर्टें प्रकाशित करती है।

३. आर्थिक विकास की क्षमता का अनुमान

पंचवर्षीय योजना के बनाने का काम दो या तीन वर्ष में होता है। योजना बनाने मे तीन बातों पर ध्यान दिया जाता है : (i) जन संख्या में सम्भावित वृद्धि, (ii) आर्थिक विकास की वांछित दर, (iii) विकास की प्राथमिकताओं तथा दिशाओं सम्बन्धी सामान्य विचार। दूसरी और तीसरी योजनाओं में विकास ५ प्रतिशत वार्षिक दर निर्धारित की गयी थी।

जन संख्या, विकास की दर तथा प्राथमिकताएँ निर्धारित करने के बाद पूँजी तथा विनियोग की आवश्यकताओं का निर्धारण किया जाता है। यह काम विभागीय तथा प्रादेशिक अध्ययन के आधार पर होता है। यह देखा जाता है कि विकास के लिए कितने वित्तीय साधनों की आवश्यकता है, कितने वित्तीय साधन उपलब्ध हैं तथा विदेशी विनिमय की कितनी आवश्यकता होगी ?

अनुमान कौन लगाता है ? निजी क्षेत्र के लिए अनुमान रिजर्व बैंक द्वारा लगाये जाते हैं और लोक क्षेत्र के लिए अनुमान योजना आयोग तथा वित्त मन्त्रालय

द्वारा लगाये जाते हैं। योजना आयोग राज्यों को भी उन मान्यताओं से परिचित करवा देता है जिनको आधार मान कर उन्हें अपने वित्त साधनों का अनुमान लगाना चाहिए।

यह अनुमान भी लगाया जाता है कि केन्द्र तथा राज्यों द्वारा अतिरिक्त करों से कितनी रकम वसूल होगी तथा कितनी रकम घाटे के बजट से प्राप्त की जा सकेगी। इन सब बातों को ध्यान में रखकर विभिन्न योजनाओं में सुधार और परिवर्तन किये जाते हैं।

योजना को अन्तिम रूप देने से पहले यह अनुमान लगाया जाता है कि किन क्षेत्रों में विनियोग या लक्ष्यों की कमी या वृद्धि से विकास की दर उच्चतम हो सकती है। उसके अनुसार ही पूँजी विनियोग तथा लक्ष्यों में परिवर्तन कर दिया जाता है।

४. आर्थिक तथा सामाजिक उद्देश्यों का विचार

एक विकासशील अर्थ-व्यवस्था में नियोजन का मुख्य उद्देश्य अधिक से अधिक तेजी से आर्थिक विकास करना होता है। परन्तु इसके लिए साधनों का बंटवारा करना पड़ता है कि उपभोग के लिए कितनी रकम निर्धारित होगी तथा कितनी रकम का विनियोग किया जायगा। विकास का ढाँचा कैसा होगा, सामाजिक ढाँचे में क्या परिवर्तन किया जायगा तथा साधन संग्रह की योजना क्या होगी?

सामाजिक या आर्थिक परिवर्तन पहले—सामाजिक और आर्थिक उद्देश्यों तथा लक्ष्यों पर विचार करने के साथ-साथ यह भी विचार करना होगा कि आर्थिक विकास को तेज करने के लिए सामाजिक क्रान्ति पहले आनी चाहिए या सामाजिक क्रान्ति की चिन्ता किये बिना आर्थिक प्रगति का क्रम तेजी से चलाते रहना चाहिए।

भारत में दो आधार रहे हैं—भारत में योजना का आधार यह रहा है कि आर्थिक क्रान्ति लाने के लिए सामाजिक क्रान्ति की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। अतः दो कार्यों को प्राथमिकता दी जाती रही है:

(i) **कृषि का गहन विकास**: ताकि खाद्यान्न तथा उद्योगों के लिए कच्चा माल पर्याप्त मात्रा में मिल सके।

(ii) **भारी तथा आधारभूत उद्योगों का विकास**: ताकि उद्योगों में आत्म-निर्भरता की स्थिति उत्पन्न की जा सके। इसके लिए परिवहन तथा बिजली का उचित स्तर पर विकास आवश्यक है तथा तकनीकी शिक्षा और वैज्ञानिक शोध की अत्यधिक आवश्यकता है।

सीमित साधन—इन प्राथमिकताओं को उचित महत्त्व नहीं दिया जा सका है क्योंकि साधनों की कमी रही है और बंटवारा करने पर इनको पर्याप्त प्राप्ति नहीं हो सकी है। इसलिए रोजगार, वितरण तथा कल्याण के सामाजिक उद्देश्यों को पूरा नहीं किया जा सका है।

५. लक्ष्यों का निर्धारण

प्रत्येक पंचवर्षीय योजना में पिछली योजना को आधार मानकर लक्ष्य

निर्धारित किये जाते है। यह देखा जाता है कि पिछली योजना में विभिन्न क्षेत्रों के क्या लक्ष्य थे तथा उनकी किस हद तक पूर्ति हुई। यह भी निर्णय किया जाता है कि भविष्य में किन किन क्षेत्रों के कितने-कितने लक्ष्य रखने से आर्थिक विकास अधिकतम होगा।

दुर्बलताएँ—लक्ष्यो के निर्धारण का जो वर्तमान क्रम है उसमें प्राय: तीन कमियाँ पायी जाती है

(i) **असन्तुलन**—प्राय: योजना के अंतिम वर्ष के लक्ष्यों पर अधिक ध्यान दिया जाता है, बीच के वर्षों सम्बन्धी लक्ष्य लापरवाही से निर्धारित किये जाते हैं। उचित यह है कि सभी वर्षों के लक्ष्यों का उचित रीति से निर्धारण होना चाहिए। इसके बिना योजना के लक्ष्यों की उचित रूप मे पूर्ति होना सम्भव नही है।

(ii) **तकनीक की अवहेलना**—जिन परियोजनाओ पर बहुत अधिक रकम खर्च होती है और जिनका प्रसव काल (वह अवधि जिसके बाद उनसे फल मिलने लगे) बहुत लम्बा होता है उनकी प्रारम्भिक स्थिति में ही गहराई से तकनीकी अध्ययन करना आवश्यक है। इन क्षेत्रों (उद्योग, बिजली, परिवहन, सिंचाई आदि) की आवश्यकताओ का तकनीकी अध्ययन बहुत बारीकी से किया जाना आवश्यक है अन्यथा बाद मे आर्थिक, वित्तीय तथा अन्य कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

(iii) **लचक का अभाव**—कभी-कभी कोई स्कीम आरम्भ कर दी जाती है किन्तु उसके सम्बन्ध मे किये गये अनुमान गलत निकलते है। अत: उस योजना में कुछ तकनीकी, आर्थिक या वित्तीय परिवर्तन करने आवश्यक हो जाते हैं। इस प्रकार अनक बार बहुत सी स्कीमो मे लचक नही होती, उनका काम बन्द हो जाता है और योजना मे पर्याप्त सफलता नही मिलती।

निर्धारण—कृषि, उद्योग, बिजली, सिंचाई या परिवहन के लक्ष्य निर्धारित करने मे आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। समाजवादी व्यवस्था, आय मे वृद्धि, रोजगार की सुविधाएँ आदि सभी बातों को आधार मान कर विभिन्न क्षेत्रों की आवश्यकताओं का अनुमान लगाया जाता है। ऐसा करने मे अलग-अलग प्रदेशों का ध्यान भी रखा जाता है ताकि विकास की प्रक्रिया मे प्रादेशिक सन्तुलन भी बना रहे।

इस प्रकार लक्ष्यों के निर्धारण मे सरकारी नीति, जनता की आवश्यकताएँ तथा प्रादेशिक सन्तुलन का ध्यान रखना आवश्यक है। इनमें से किसी तत्त्व की अवहेलना करने पर योजना जनता की योजना नही रह जाती, नौकरशाही की योजना रह जाती है।

(६) वित्तीय साधन संग्रह

जब योजना के सभी लक्ष्यों का निर्धारण कर लिया जाता है तो उन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए साधन जुटाने की समस्या उत्पन्न हो जाती है। प्रत्येक योजना काल के बारे मे गहराई से अध्ययन किया जाता है कि पाँच वर्ष मे आन्तरिक साधनों तथा

विदेशी सहायता से कितनी रकम जुटाई जा सकती है। इसके साथ ही योजना के लक्ष्यों को आधार मान कर यह देखा जाता है कि कितनी रकम की वास्तव में आवश्यकता है। इन दोनों (उपलब्ध साधनों तथा आवश्यकता) में तालमेल बैठाने की चेष्टा की जाती है।

कुछ कार्यक्रम जो बहुत अनिवार्य नहीं होते उन्हें स्थगित कर दिया जाता है किन्तु अनिवार्य कार्यक्रमों के लिए नये साधनों की खोज की जाती है तथा पुराने साधनों को सबल बनाने के उपाय निकाले जाते हैं।

वित्तीय साधनों की आवश्यकता और उपलब्धि की जानकारी निम्नलिखित दृष्टिकोणों से की जाती है :

(i) **आन्तरिक साधन**— कितने जुटाये जा सकते हैं और विदेशी सहायता कितनी प्राप्त की जा सकती है ?

(ii) **लोक क्षेत्र**—की आवश्यकता कितनी है तथा **निजी क्षेत्र** की आवश्यकता क्या है और इन क्षेत्रों में कितनी-कितनी रकम आन्तरिक और विदेशी साधनों से प्राप्त की जा सकती है ?

(iii) **केन्द्र**—की आवश्यकता कितनी है और **राज्यों** की आवश्यकता क्या है तथा दोनों द्वारा कर और ऋणों से कितनी रकम जुटाई जा सकती है ?

इन सबका निर्धारण करते समय यह ध्यान रखना पड़ता है कि देश में प्रजातन्त्रवादी व्यवस्था है, आर्थिक विषमता को कम करने की नीति अपनायी गयी है, तथा देश स्वतन्त्र अन्तरराष्ट्रीय नीति अपनाये रखना चाहता है। इन तीनों बातों का समन्वय करना बहुत कठिन है किन्तु ऐसा करने का यथासम्भव प्रयत्न किया जाता है।

नियोजन के चरण

(Stages of Planning)

भारत की पंचवर्षीय योजनाएँ अनेक चरणों में पूरी की जाती हैं जिनका ब्यौरा नीचे दिया जा रहा है :

(१) **सामान्य नीति**—योजना के पहले चरण में योजना की सामान्य नीति निर्धारित की जाती है, यह कार्य योजना आरम्भ होने के तीन वर्ष पहले हाथ में लिया जाता है। इसके लिए अर्थतन्त्र की सही स्थिति देखी जाती है तथा सामाजिक, आर्थिक और संस्थागत कमजोरियों का अनुमान लगाया जाता है, योजना नीति में इन दुर्बलताओं के अतिरिक्त प्रादेशिक असन्तुलनों का ध्यान रखा जाता है। इन सब बातों के आधार पर नीति सम्बन्धी सुझाव राष्ट्रीय विकास परिषद् के सामने रखे जाते हैं। राष्ट्रीय विकास परिषद् द्वारा विकास की दर तथा अन्य उद्देश्यों का निर्धारण किया जाता है।

(२) **योजना के तत्त्वों का निर्धारण**—योजना की नीति (उद्देश्य आदि) निर्धारित होने के पश्चात् योजना आयोग द्वारा योजना कार्यक्रमों का निर्धारण करना

होता है। इसके लिए अलग-अलग क्षेत्रों का गहन अध्ययन करने के लिए अनेक अध्ययन दल नियुक्त किये जाते हैं। यह अध्ययन दल अपये-अपने क्षेत्र (कृषि, लघु उद्योग, वृहद् उद्योग, परिवहन, बिजली तथा सिंचाई आदि) के लिए पाँच वर्षों में विकास के कार्यक्रम निर्धारित करते है और अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर देते हैं।

केन्द्र में जिस प्रकार के अध्ययन दल नियुक्त किये जाते हैं, वैसे ही दल राज्यों के स्तर पर भी नियुक्त किये जाते हैं। इन दलों की रिपोर्टें राज्य सरकारों को मिल जाती हैं, जिन्हें संयुक्त रूप में व्यवस्थित कर योजना आयोग को भेज दिया जाता है।

इस प्रकार योजना आयोग के पास केन्द्र तथा राज्यों से सम्बन्धित सुझाव आ जाते है जिनमे अलग-अलग क्षेत्रों के कार्यक्रमों सम्बन्धी विस्तृत व्यौरा होता है।

(३) **योजना का मसौदा**—आर्थिक नियोजन का तीसरा चरण है योजना का मसौदा तैयार करता। इस चरण में अध्ययन दलों तथा राज्य सरकारों से आये हुए प्रस्तावों को मिलाकर एक मसौदा तैयार कर लिया जाता है। मसौदा तैयार करने से पहले राज्य सरकारों के प्रतिनिधियों तथा अध्ययन दलों के संयोजकों से पूरी तरह विचार-विमर्श कर लिया जाता है। इस विचार-विमर्श के परिणामस्वरूप केवल अत्यन्त अनिवार्य कार्यक्रम ही योजना में रह जाते हैं जिन्हें प्राथमिकता देकर उस योजना मे शामिल करना आवश्यक है।

इस सारे विचार-विमर्श के पश्चात् योजना का ड्राफ्ट या मसौदा तैयार कर लिया जाता है।

(४) **राष्ट्रीय विकास परिषद् द्वारा विचार**—प्रत्येक योजना का मसौदा राष्ट्रीय विकास परिषद् के सामने बिचार के लिए प्रस्तुत किया जाता है। परिषद् इस पर अपने विस्तृत विचार प्रकट करती है। इन विचारों का मसौदे में समावेश कर दिया जाता है और मसौदे की अंतिम रूपरेखा तैयार कर ली जाती है। यह रूपरेखा जनता के विचार जानने के लिए प्रकाशित कर दी जाती है।

(५) **अन्तिम स्वरूप**—योजना के मसौदे पर जनता के विभिन्न वर्ग अपना-अपना मत प्रकट करते हैं। कभी-कभी प्रधान मन्त्री विरोधी दल के सदस्यों को बुला कर उनके विचार भी जानने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार समाज के सभी वर्गों तथा विशेषज्ञों का मत जानने के बाद योजना में उचित परिवर्तन या सुधार कर दिया जाता है। यही योजना का अन्तिम स्वरूप है जिसे प्रकाशित कर दिया जाता है।

इन सब बातों से स्पष्ट है कि अन्तिम रूप ग्रहण करने से पहले प्रत्येक योजना के सभी पक्षों पर काफी विस्तार से विचार-विमर्श होता है और इस विचार-विमर्श के बाद उसका जो स्वरूप बनता है वह अधिकतर व्यक्तियों की सहमति प्रकट करता है।

राज्यों की योजना तथा स्थानीय योजनाएँ

प्रत्येक पंचवर्षीय योजना में लगभग आधी रकम राज्यों की योजनाओं का

योग होती है। राज्यों की योजनाओं में विकास के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग जैसे कृषि, लघु उद्योग, सिंचाई तथा बिजली, सड़कें तथा सड़क परिवहन, तथा शिक्षा और सामाजिक सेवाएँ सम्मिलित हैं। इन क्षेत्रों में राज्यों की योजनाओं की सफलता पर ही केन्द्रीय सरकार की पूरी योजना की सफलता निर्भर करती है।

स्थानीय योजनाएँ जिलों, विकास खण्डों तथा ग्रामों के लिए बनायी जाती हैं। इन योजनाओं में निम्नलिखित कार्यक्रम सम्मिलित किये जाते हैं :

(i) कृषि, लघु सिंचाई, भूमि की रक्षा, वन, पशु पालन तथा दुग्ध व्यवसाय का विकास।

(ii) सहकारी संस्थाओं का विकास।

(iii) ग्रामीण उद्योगों का विकास।

(iv) प्रारम्भिक शिक्षा जिसमें विद्यालयों के भवन आदि बनवाना सम्मिलित है।

(v) ग्रामीण जल प्रदाय योजना तथा ग्रामों को रेल्वे स्टेशनों से मिलाने वाली सड़कों का विकास।

(vi) ग्रामों की जन शक्ति का अधिकतम प्रयोग करने के लिए कार्यक्रम।

इस प्रकार ग्रामों से जिले और जिलों से राज्य की योजनाएँ बनती हैं और राज्यों की योजना तथा केन्द्रीय कार्यक्रम मिलाकर पूरे देश के लिए योजना तैयार होती है।

वार्षिक योजना तथा बजट

पंचवर्षीय योजना के पूरे कार्यक्रमों को वार्षिक कार्यक्रमों में बाँटा जाता है। प्रति वर्ष सितम्बर मास के आस-पास योजना आयोग द्वारा राज्यों को अगले साल के लिए कुछ संकेत भेज दिये जाते हैं कि किन कार्यक्रमों पर विशेष रूप में ध्यान देना है तथा अगले साल केन्द्र से कितनी आर्थिक सहायता मिलने की सम्भावना है। इन संकेतों के आधार पर ही राज्य सरकारें अपनी एक वर्षीय योजना तैयार करती हैं तथा उन्हें बजट के साथ ही प्रकाशित कर दिया जाता है। यह वार्षिक योजना, राज्य के एक वर्ष के विकास कार्यक्रमों का ब्यौरा होता है जिसे पूरा करने के लिए सभी विभाग अपने-अपने स्तर पर प्रयत्न करते हैं।

योजना को कार्यान्वित करना
[IMPLEMENTATION OF THE PLAN]

इससे पूर्व यह स्पष्ट किया जा चुका है कि योजना आयोग एक सलाहकार संस्था है। यह अपनी सलाह देने से पहले सभी सम्बन्धित वर्गों से विचार-विमर्श कर लेता है। सलाह देने के पश्चात् योजना आयोग द्वारा सारा दायित्व अन्य वर्गों को बाँट दिया जाता है। योजना को कार्यान्वित करने का दायित्व योजना आयोग का नहीं है।

राज्य—राज्य सरकारें योजना आयोग को योजना बनाने मे सहायता करती हैं किन्तु योजना को अन्तिम रूप दे दिये जाने के बाद उसको कार्यान्वित करने का भार राज्य सरकार पर आ जाता है। यदि योजना सफल होती है तो उसका श्रेय राज्य सरकारों को मिलता है और यदि योजना असफल होती है तो भी उसका दायित्व राज्य सरकारों पर होता है।

केन्द्र—योजना के सचालन का भार केन्द्रीय सरकार पर भी होता है। केन्द्रीय सरकार द्वारा योजना मे जो कार्यक्रम सम्मिलित करवाये जाते है या संविधान अथवा औद्योगिक नीति प्रस्ताव के अनुसार जो दायित्व केन्द्रीय सरकार का होता है उसे पूरा करने का भार केन्द्र का ही रहता है।

इस प्रकार राज्यों के विकास कार्यक्रम राज्यों द्वारा पूरे किये जाते है और केन्द्र के लिए निर्धारित कार्यक्रमों को पूरा करने का दायित्व केन्द्रीय सरकार का होता है। योजनाओं को कार्यान्वित करने मे योजना आयोग का कोई दायित्व नही है।

सदस्यता का महत्त्व—योजना आयोग की अध्यक्षता प्रारम्भ से अब तक प्रधान मन्त्री द्वारा की जाती रही है। वित्त मन्त्री, योजना मन्त्री तथा कई अन्य मन्त्री योजना आयोग के सदस्य होते है। अतः योजना सम्बन्धी नीतियाँ निर्धारित करने और योजना का स्वरूप निश्चित करने मे केन्द्रीय मन्त्रालय का महत्त्वपूर्ण हाथ होता है।

इसी प्रकार राज्यो के लिए जो योजना बनायी जाती है उसमे राज्यों के मन्त्रिमण्डलों का मुख्य हाथ रहता है।

योजना की नीति तथा अन्तिम स्वरूप को राष्ट्रीय विकास परिषद् की सहमति मिलना आवश्यक होता है। अतः देश की पूरी योजना का निर्माण केन्द्रीय मन्त्रि-मण्डल तथा राज्यो के मुख्य मन्त्रियो, वित्त एवं योजना मन्त्रियों की सहमति से होता है। अत इन व्यक्तियों को योजना के कार्यान्वित करने का दायित्व सौपना सर्वथा युक्ति संगत एवं उचित है।

अतः केन्द्र तथा राज्यो के आर्थिक नियोजन सम्बन्धी दायित्व निश्चित कर दिये जाते है और उन्हें पूरा करने का दायित्व केन्द्र या राज्य सरकारों पर ही होता है।

योजनाओं को कार्यान्वित करने में कठिनाइयाँ

पंचवर्षीय योजनाओ को बनाने से पहले अनेक वर्गो के विशेषज्ञों से विचार-विमर्श किया जाता है, राज्य सरकारों तथा केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधियों से सलाह ली जाती है किन्तु फिर भी इनको कार्यान्वित करने मे निम्नलिखित कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है.

(१) **उद्योग, बिजली तथा परिवहन में समन्वय**—इन तीनों का विकास एक दूसरे पर निर्भर करता है। उद्योगों का बिजली के बिना विकास कठिन है तथा परि-वहन की सुविधाओं के बिना माल मंगवाने और भेजने मे कठिनाई आती है। इसी

प्रकार विजली की खपत उद्योगों द्वारा ही अधिक होती है तथा विजली से परिवहन का विकास सरल और सस्ता हो जाता है। इन तीनों सुविधाओं में तालमेल बैठाने में प्रशासन, पूँजी तथा तकनीकी सुविधाओं की कठिनाई आती है।

(२) **उद्योगों का आकार तथा स्थान निर्धारण**—अनेक बार आर्थिक कारणों की बजाय राजनीतिक कारणों से यह निश्चित करना पड़ता है कि किस उद्योग का आकार कितना बड़ा होना चाहिए तथा उसे कौन से स्थान पर स्थापित किया जाना चाहिए ?

(३) **लोक क्षेत्र के उद्योगों का कार्यक्रम निश्चित करना**—सरकारी प्रशासन तन्त्र में व्याप्त लाल फीताशाही और ढिलाई के कारण यह निश्चित करना कठिन होता है कि लोक क्षेत्र के कौन-कौन से उद्योगों की कब-कब स्थापना की जाय। इस सम्बन्ध में निश्चित कार्यक्रमों को पूरा करना बहुत कठिन है।

(४) **निजी क्षेत्र में विकास के लक्ष्य**—पूरे देश की योजना बनाने में यह भी निश्चित करना होता है कि निजी क्षेत्र को किन-किन क्षेत्रों में विकास के अवसर दिये जायेंगे, उनमें कितनी पूँजी लगायी जायगी तथा कितना उत्पादन होगा, यह निश्चित करना तथा उस उत्पादन के लक्ष्य की पूर्ति करना सरकार के हाथ में नहीं होता। अनेक बार उसकी व्यवस्था करना ही कठिन होता है।

(५) **निर्यातों के लक्ष्य की पूर्ति**—योजना में निर्यातों के जो लक्ष्य निर्धारित किये जाते हैं उनकी पूर्ति अच्छे मानसून, औद्योगिक शांति तथा मूल्य स्तर पर बहुत कुछ निर्भर करती है। अनेक बार इन लक्ष्यों की पूर्ति करना कठिन होता है क्योंकि कभी मानसून असफल हो जाता है, कभी मजदूरों द्वारा हड़ताल के कारण उत्पादन में कमी आ जाती है तथा कभी मूल्यों में वृद्धि के कारण माल का उत्पादन कम होता है।

(६) **मजदूरी को प्रभावित करने वाले तत्त्व**—भारत में अभी भी न्यूनतम मजदूरी तथा आवश्यकतानुसार मजदूरी में संघर्ष चल रहा है। अनेक क्षेत्रों में न्यूनतम मजदूरी लागू करना ही कठिन है। अत: औद्योगिक शान्ति बनाये रखना सम्भव नहीं है।

(७) **कृषि और सिंचाई सुवधिाओं का उपयोग**—अनेक बार कृषि कार्यक्रम इसलिए असफल हो जाते हैं कि सिंचाई की सुविधाएँ या तो समय पर मिल नहीं पातीं या उनका ठीक ढङ्ग से उपयोग नहीं हो पाता। कभी-कभी पर्याप्त खाद और अच्छे बीज की कमी के कारण सिंचाई की सुविधाएँ बेकार जाती हैं।

(८) **भूमि सुधार और कृषि साख में समन्वय**—भारत में कृषि विकास के सारे कार्यक्रमों (उत्पादन, उपभोग, बिक्री, आदि) में प्राय: उचित समन्वय करने में कठिनाई होती है क्योंकि सब कार्यक्रमों का प्रशासन अलग-अलग संस्थाओं या संगठनों के हाथ में रहता है और प्रशासन व्यवस्था बहुत शिथिल एवं अकुशल है।

(९) **शिक्षा तथा सामाजिक सेवाएँ**—यह सत्य है कि आर्थिक क्रान्ति

सामाजिक क्रान्ति की प्रतीक्षा नहीं कर सकती किन्तु सामाजिक सेवाओं के कार्यक्रमों का संचालन प्रायः शिथिल रहता है। जब भी किसी क्षेत्र में रकम की कमी का अनुभव होता है, शिक्षा या स्वास्थ्य के मद में कटौती कर ली जाती है। यह नीति उचित नहीं कही जा सकती।

मूल समस्याएँ—समन्वय तथा प्रशासन

इन सब बातों पर विचार करने से स्पष्ट है कि भारतीय योजनाओं की मूल समस्या सचालन या क्रियान्वित करने की समस्या है। यदि कृषि के विभिन्न अंगों, उद्योग, परिवहन, बिजली, आयात-निर्यात, विदेशी सहायता आदि की समस्याओं का समन्वय कर दिया जाय तो योजनाओं की सफलता के अवसर बहुत अच्छे हो जायेंगे।

समन्वय से भी अधिक विकट समस्या आर्थिक प्रशासन की है। भारतीय प्रशासन सामान्यतः ढीला है, उसमें लाल फीताशाही है, भ्रष्टाचार और पक्षपात का जोर है तथा नौकरशाही प्रवृत्ति का अत्यधिक प्रभाव है। उसमें बहुत कुछ परिवर्तन किये बिना योजनाओं को सफल बनाना प्रायः असम्भव रहेगा।

योजनाओं का मूल्यांकन
[EVALUATION OF PLANNING]

अर्थ—मनुष्य जो भी काम करता है उसका कुछ उद्देश्य या लक्ष्य होता है। उस काम की समाप्ति पर वह अवश्य जानना चाहता है कि उसको अपने काम में सफलता मिली या नहीं क्योंकि सफलता से मनुष्य का आगे काम के लिए उत्साह बढ़ता है और वह नये जोश से नयी योजनाएँ बनाता है। यदि उसे अपने उद्देश्य या लक्ष्य मे असफलता मिलती है तो वह असफलता का कारण जानने की चेष्टा करता है और भविष्य मे अधिक अच्छे ढंग से काम करने का प्रयत्न करता है।

इस प्रकार किसी काम में कितनी सफलता या असफलता मिली, इस बात की जानकारी करने की क्रिया को ही मूल्यांकन कहते है।

मूल्यांकन का महत्त्व

किसी कार्य के मूल्यांकन का महत्त्व निम्नलिखित कारणों से हो सकता है :

(१) **समस्याओं की जानकारी**—मूल्यांकन से पता चलता है कि अमुक कार्य में कहाँ-कहाँ कितनी-कितनी सफलता और असफलता मिली ? यह भी पता लग जाता है कि विभिन्न योजनाओं को पूरा करने में किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अनुभवी व्यक्ति इन कठिनाइयों का समाधान खोजने की चेष्टा करता है ताकि भविष्य में ऐसी कठिनाइयों का दोबारा सामना न करना पड़े।

(२) **समन्वय की कमी**—योजनाओं की असफलता या कम सफलता का एक कारण यह होता है कि विभिन्न क्षेत्रों में समन्वय का अभाव है। मूल्यांकन से यह पता चल जाता है कि समन्वय का अभाव कहाँ है। इस जानकारी के आधार पर, जिन क्षेत्रों में तालमेल की कमी है उनमें ठीक तालमेल की व्यवस्था की जा सकती है।

(३) **विभिन्न क्षेत्रों की तुलना**—वर्तमान युग स्पर्द्धा का युग है। इसमें जितने क्षेत्रों में जितने काम होते हैं सबकी तुलना करना बहुत आवश्यक है। किन क्षेत्रों में अधिक पूँजी लगाने से अधिक विकास हुआ ? किन क्षेत्रों में अधिक पूँजी लगाने का प्रभाव संतोषजनक नहीं था, यह जानकारी मूल्यांकन से ही मिल सकती है। इस प्रकार मूल्यांकन से ही पूँजी की लागत तथा फल का अनुमान किया जा सकता है और उन क्षेत्रों में पूँजी लगाने का निर्णय लिया जा सकता है जो अधिक फल देने वाले हों या जिनमें विकास की दर अधिक हो।

(४) **विभिन्न देशों की तुलना**—मूल्यांकन से केवल विभिन्न क्षेत्रों मे विकास की ही तुलना नहीं होती, उससे अनेक देशों में, विभिन्न क्षेत्रों मे विकास की तुलना की जा सकती है, जिन देशों मे विकास की गति तीव्र हो उनका अध्ययन विशेष रूप में किया जा सकता है और आर्थिक नीतियों में सुधार किया जा सकता है।

(५) **साधनों का उपयोग**—मूल्यांकन से यह पता लग जाता है कि आर्थिक साधनों का उपयोग श्रेष्ठतम हो रहा है या नहीं। यदि किसी काम का मूल्यांकन नहीं किया जाय तो यह सम्भव है कि देश के कुछ आर्थिक या अन्य साधनों का उपयोग बिलकुल नहीं हो रहा हो या कुछ साधनों का दुरुपयोग हो रहा हो। मूल्यांकन किये बिना इस दुरुपयोग को रोकना सम्भव नही होगा।

(६) **भविष्य**—मूल्याकन भविष्य के लिए पाठ होता है। मूल्यांकन से आर्थिक नीतियों की कमी ज्ञात हो जाती है, संचालन को शिथिलता का पता लग जाता है, प्रशासन या निदेशन की अव्यवस्था की जानकारी हो जाती है और योजना के सभी दुर्बल स्थलों का आभास हो जाता है। इन सब अनुभवों की नींव पर समृद्धि का भवन खड़ा किया जा सकता है।

अतः भविष्य के श्रेष्ठ निर्माण के लिए मूल्यांकन अनिवार्य है।

भारत में नियोजन का मूल्यांकन

भारतीय योजना आयोग को एक काम सौंपा गया कि वह "समय-समय पर योजना के प्रत्येक चरण के कार्यान्वित होने की प्रगति का मूल्यांकन करे तथा इस मूल्यांकन के आधार पर नीति या रीतियों में आवश्यक परिवर्तन की सिफारिश करे।"

इस प्रकार केवल योजना तैयार करना ही योजना आयोग का काम नहीं है, उसका काम योजना की सफलता का मूल्यांकन करना भी है। इसके अतिरिक्त, मूल्यांकन के आधार पर योजना की नीतियों या संचालन प्रणालियों में सुधार के लिए सुझाव देना भी उसका कर्तव्य है।

मूल्यांकन करने के लिए सुझाव—भारत में आर्थिक नियोजन का मूल्यांकन करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं, जिनका समाधान करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते है :

(i) **माप का आधार**—सही मूल्यांकन के लिए निश्चित आधार होने चाहिएं

जिनसे तुलना करके योजना की सफलता का मूल्यांकन किया जा सके। भारत में विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित ऐसी तालिकाओं या समंकों का अभाव है जिनसे अलग-अलग क्षेत्रों की वास्तविक सफलता का उचित मूल्याकन किया जा सके। इस प्रकार के माप के आधारों की स्थापना की जानी चाहिए।

(ii) **प्रगति सम्बन्धी तथ्य**—योजना के विभिन्न क्षेत्रों का संचालन करने का जिनका दायित्व है उनके द्वारा अलग-अलग क्षेत्रों मे होने वाली प्रगति के आँकड़े नियमित रूप मे योजना आयोग को भेजने की व्यवस्था की जानी चाहिए। इन आँकड़ों को आधार मानकर आर्थिक विकास की प्रगति का सही अनुमान लगाया जा सकता है।

(iii) **सूचना का स्वचालित साधन**—योजना के विभिन्न क्षेत्रों की प्रगति सम्बन्धी तथ्य तथा आँकड़े संग्रह करने की ऐसी प्रणाली स्थापित की जानी चाहिए जिसमे किसी को तथ्य भेजने के लिए बार-बार माँग नहीं करनी पड़े। इस व्यवस्था से योजना के कार्य मे लचक उत्पन्न होगी और जहाँ भी बाधा उत्पन्न होगी उसे तुरन्त ठीक किया जा सकेगा।

मूल्यांकन किस के द्वारा किया जाय ?

आर्थिक नियोजन का मूल्याकन तीन स्तरों पर किया जा सकता है :

(क) कार्यान्वित करने वाले अधिकारियों द्वारा मूल्याकन किया जाय।

(ख) केन्द्र या राज्य सरकार के अलग-अलग विभाग या मन्त्रालय अपने क्षेत्र से सम्बन्धित कार्यक्रमों का मूल्याकन करें।

(ग) योजना आयोग द्वारा मूल्याकन किया जाय।

यदि योजना के प्रत्येक कार्यक्रम का मूल्यांकन उसे कार्यान्वित करने वाले अधिकारी ही करे तो श्रेष्ठ होगा क्योंकि वह अपनी भूलों या कमियों में स्वयं सुधार कर सकते है। इस कार्य मे कमी यह है कि उपरोक्त अधिकारी अपनी प्रतिष्ठा के लिए सफलता को बढा-चढा कर दिखला सकते हैं और असफलताओं को बहुत साधारण महत्त्व दे सकते है।

भारत में योजना आयोग उस समय प्रत्येक मन्त्रालय अथवा विभाग की सफलताओं का मूल्याकन करता है जिस समय आगामी वर्ष के लिए (वार्षिक) योजना पर विचार किया जाता है। जब वार्षिक योजना को बजट में शामिल कर लिया जाता है तो योजना आयोग पिछले वर्ष की प्रगति के ब्यौरे की माँग करता है। इन सब ब्यौरों को इकट्ठा कर वार्षिक प्रगति की रिपोर्ट बनाली जाती है और उसे प्रकाशित कर दिया जाता है। साधारणत: प्रत्येक पिछले वर्ष की रिपोर्ट वर्ष की समाप्ति के चार मास के भीतर प्रकाशित हो जानी चाहिए परन्तु ऐसा प्राय: नही होता है।

निजी क्षेत्र—मूल्याकन की सबसे बडी कठिनाई निजी क्षेत्र के आर्थिक विकास के बारे मे आती है। कम्पनियों के स्थिति विवरण प्राय: समय पर तैयार नही

होते। इसके लिए उचित यह है कि निजी क्षेत्र की अधिक महत्त्वपूर्ण औद्योगिक इकाईयों के विषय में सूचना प्राप्त करने की विशेष व्यवस्था की जाय। औद्योगिक क्षमता के प्रयोग तथा आयात स्थानापन्नन के बारे में नियमित तथ्य प्राप्त करने की चेष्ठा की जानी चाहिए।

अध्ययन—विशिष्ट समस्याओं के विषय में रिजर्व बैंक, कार्यक्रम मूल्यांकन संगटन तथा अन्य शोध संस्थान समय-समय पर जो रिपोर्ट प्रकाशित करते हैं वह महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश डालती है। राज्य सरकारों के आर्थिक एवं साँख्यिकीय निदेशालय भी योजनाओं सम्बन्धी वार्षिक तथा पंचवर्षीय रिपोर्ट प्रकाशित करते हैं।

योजना आयोग भी योजना की प्रगति सम्बन्धी रिपोर्ट प्रकाशित करने लगा है किन्तु यह रिपोर्ट प्रायः बहुत देर में प्रकाशित होती हैं अतः उनका सीमित महत्त्व रह जाता है। योजना आयोग तथा राज्य सरकारों को योजनाओं की मूल्यांकन रिपोर्ट नियमित रूप में उचित समय पर प्रकाशित करनी चाहिए। इससे योजनाओं के महत्त्व का सही मूल्यांकन हो सकेगा, अन्यथा नहीं।

अभ्यास प्रश्न

१. भारत में आर्थिक नियोजन के क्या आधार है ? क्या इनके कारण योजनाओं में कुछ कठिनाइयाँ उत्पन्न होती है ?

२. भारत में योजनाएँ बनाते समय किन बातों का विशेष ध्यान रखा जाता है ?

३. भारत में आर्थिक नियोजन की क्या प्रक्रिया है ? योजना को अन्तिम रूप देने से पहले किन-किन स्थितियों से गुजरना पड़ता है ?

४. भारतीय योजनाओं में लक्ष्यों का निर्धारण कैसे किया जाता है ? लक्ष्य निर्धारित करने में किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

५. भारतीय नियोजन के विभिन्न चरणों की व्याख्या कीजिए।

६. भारतीय योजनाओं को कैसे कार्यान्वित किया जाता है ? इस प्रक्रिया में कौन सी विशेष कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

७. भारत में आर्थिक नियोजन की मुख्य समस्याओं का विवेचन कीजिए।

८. आर्थिक नियोजन के मूल्यांकन के महत्त्व पर प्रकाश डालिए तथा भारतीय नियोजन के मूल्यांकन में सुधार के उपाय बतलाइए।

९. भारत में आर्थिक नियोजन का मूल्यांकन किन-किन संगठनों द्वारा किया जाता है। वह कहाँ तक पर्याप्त है ?

९ राज्य का आर्थिक व्यवस्था में योगदान

(STATE IN RELATION TO NATIONAL ECONOMY)

वर्तमान युग में संसार मे तीन प्रकार की सरकार है : (१) **प्रजातन्त्रवादी**, (२) **तानाशाही**, तथा (३) **सैनिक शासन**

इनमे **सैनिक शासन** का आर्थिक विकास से प्राय: कोई सम्बन्ध नहीं रहता। सैनिक अधिकारी केवल अपना शासन बनाये रखने की चिंता रखते है, वह सामाजिक उत्थान या आर्थिक विकास के लिए विशेष प्रयत्न नही करते। सैनिक शासन अनेक वार सही या गलत कारणों से पड़ौसी देशों से युद्ध में उलझ जाते है जिसका परिणाम प्राय: अच्छा नही निकलता।

प्रजातन्त्रवादी—सरकार जनता की चुनी हुई सरकार होती है। इसका कर्त्तव्य जनता के आर्थिक कल्यण के लिए अधिक प्रयत्न करना होता है। यह सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी होती है। अत: यह निरन्तर ऐसी योजनाएँ और कार्यक्रम बनाती रहती है जो जनता के आर्थिक और सामाजिक लाभ के लिए होते है। इसीलिए इस प्रकार की सरकार का आर्थिक विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान होना आवश्यक है।

तानाशाही—शासन प्राय: एक दल का शासन होता है। इस प्रकार का शासन प्राय: पूँजीवाद के खिलाफ होता है और यह सदा ऐसे प्रयत्न करता रहता है जिससे सिद्ध हो जाय कि समाजवाद पूँजीवाद से श्रेष्ठ है। इस प्रकार के शासन मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नही होती परन्तु आर्थिक विकास बहुत तेजी से होता है और सरकार ही आर्थिक विकास के लिए पूरी जिम्मेवारी उठाती है।

विभिन्न व्यवस्थाओं में सरकार का योग

इन तीनों व्यवस्थाओं का जिक्र करने के बाद यह उचित होगा कि इनमें सरकारी योगदान का उल्लेख विस्तार से किया जाय।

प्रजातन्त्रवादी व्यवस्था पूँजीवादी भी हो सकती है और समाजवादी भी। पूँजीवादी प्रजातन्त्र के उदाहरण है जापान, पश्चिमी जर्मनी, फ्रांस, संयुक्त राज्य

अमरीका आदि। भारत समाजवादी प्रजातन्त्र का उदाहरण है इसे मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का भी नाम दिया जाता है।

तानाशाही (सैनिक शासन को छोड़ कर) शासन समाजवादी या साम्यवादी ही होते हैं। सोवियत रूस, पूर्वी यूरोप के देश तथा चीन उसके उदाहरण हैं।

इन स्थितियों को देखते हुए सरकारी योगदान का अध्ययन तीनों आर्थिक व्यवस्थाओं में करना अधिक उचित होगा क्योंकि राजनीतिक व्यवस्थाएँ (प्रजातन्त्र आदि) किसी न किसी आर्थिक प्रणाली को ही आधार मान लेती हैं।

पूँजीवादी व्यवस्था
[CAPITALISM]

पूँजीवाद के मूल तत्त्व—पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में सरकार का योगदान क्या हो सकता है, इसका विश्लेषण करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि पूँजीवादी व्यवस्था में मूल तत्त्व या विशेषताएँ क्या हैं। यह विशेषताएँ निम्न-लिखित हैं :

(१) मुक्त अर्थ-व्यवस्था—पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादन, उपभोग, विनिमय तथा वितरण की सब क्रियाए स्वतन्त्र होती हैं। इसका अर्थ यह है कि :

(i) **व्यवसाय की आजादी**—प्रत्येक व्यक्ति किसी भी प्रकार का उद्योग या व्यवसाय आरम्भ करने के लिए स्वतन्त्र होता है। उसके लिए लाइसेंस लेने की आवश्यकता नहीं है।

(ii) **वस्तुओं की खुली बिक्री**—प्रत्येक वस्तु के मूल्य बाजार में माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होते है। सरकार न तो वस्तुओं के मूल्य निर्धारित करती है, न वस्तुओं को राशन द्वारा बाँधने का प्रयत्न किया जाता है। इन प्रकार प्रत्येक वस्तु बाजार में खुले रूप में मिलती है और उसका इच्छा तथा आवश्यकतानुसार उपभोग करने की प्रत्येक नागरिक को स्वतन्त्रता होती है।

(iii) **व्यापार की छूट**—वस्तुओं के आयात और निर्यात तथा खरीद और बिक्री की भी छूट होती है। व्यापार पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता।

(iv) **मजदूरी आदि की दरें**—मुक्त अर्थ-व्यवस्था में मजदूरी, मकान किराया, व्याज आदि की दरें सरकार द्वारा निश्चित नहीं की जाती। अच्छा काम करने वाले व्यक्तियों को अच्छा वेतन या मजदूरी दी जाती है और व्याज, किराया आदि अपने आप माँग और पूर्ति द्वारा निश्चित होता है।

इस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था लाइसेंस, परमिट से मुक्त होती है।

(२) मुक्त स्पर्द्धा तथा एकाधिकार—पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में उत्पादकों तथा विक्रेताओं में मुक्त स्पर्द्धा होती है अतः उपभोक्ताओं को अच्छे से अच्छा माल कम से कम कीमत पर मिलता रहता है। इस व्यवस्था में प्रायः **श्रेष्ठतम उत्पादक या विक्रेता ही बाजार में ठहर सकता है** (Survival of the Fittest)।

मुक्त स्पर्द्धा होते-होते पूँजीपतियों मे से कुछ को हानि होने लगती है। इसके परिणामस्वरूप उनमें उत्पादन तथा बिक्री सम्बन्धी समझौता हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप एकाधिकार की स्थापना होती है और पूँजीपतियों को मनमानी करने का अवसर मिल जाता है।

(३) **निजी सम्पत्ति**—पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति निजी सम्पत्ति बना सकता है और उस पर अधिकार रख सकता है। इसके परिणामस्वरूप जो व्यक्ति शक्तिशाली होते है वह भूमि और उद्योगों की बड़ी-बड़ी जागीरें बना लेते है। समाज मे एक साधन सम्पन्न वर्ग बन जाता है जो ऐश्वर्यपूर्ण जोवन व्यतीत करने का अभ्यस्त हो जाता है। समाज का बहुत बड़ा भाग गरीब और साधनहीन बना रहता है। इस प्रकार सम्पत्ति रखने की आजादी से गरीबी और अमीरी का भेद उत्पन्न होता है और बढता जाता है।

(४) **साहस का महत्त्व**—पूँजीवादी व्यवस्था में, जो व्यक्ति अधिक योग्यता और साहस रखने वाले है, उनकी क्रियात्मक शक्ति को अधिक काम करने की प्रेरणा मिलती है क्योंकि वह साहस करके नये उद्योग स्थापित कर लेते है और लाभ कमा लेते है। साहसहीन, ढीले तथा अयोग्य व्यक्ति पिछड़ जाते है।

(५) **उत्तराधिकार**—पूँजीवादी व्यवस्था का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि इस व्यवस्था में सम्पत्ति या साधन उत्तराधिकार में प्राप्त किये जा सकते हैं और उन पर कानूनी अधिकार बनाये रखा जा सकता है। इससे भी समाज में विषमता या असमानता बढ़ती है।

(६) **मजदूरों के संगठन**—पूँजीवादी व्यवस्था में **वर्ग संघर्ष** एक आवश्यक तत्त्व बन जाता है क्योंकि गरीबी और अमीरी के भेद बढ़ जाते है। मजदूरों को उचित मजदूरी नही मिलती जबकि पूँजीपतियों के लाभ में निरन्तर वृद्धि होती चली जाती है। इससे मजदूर अपने संगठन बना लेते है और पूँजीपतियों के खिलाफ संघर्ष आरम्भ हो जाता है। यह संघर्ष प्रायः नियमित रूप में चलता रहता है।

पूँजीवादी अर्थतन्त्र में सरकार का दायित्व

(i) **साज सज्जा की व्यवस्था**—पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में साहसी प्रवृत्तियों को खुली छूट मिलती है। सरकार को केवल यह देखना होता है कि उत्पादन के मार्ग में **पानी बिजली** या **परिवहन सम्बन्धी** कठिनाइयाँ तो नहीं है। यदि इस प्रकार की कठिनाइयाँ होती है तो सरकार इन्हें दूर करने का प्रयत्न करती है।

(ii) **संस्थाओं का विकास**—सरकार का दूसरा कर्तव्य यह है कि यदि **वित्तीय संस्थाएँ** (बैंक, वित्त निगम) आदि कम है या कम विकसित हैं तो उनकी स्थापना तथा विकास में सहायता करे। इन संस्थाओं से खेती, व्यवसाय तथा उद्योग के लिए पर्याप्त रकम मिल जाती है जिससे उत्पादन तथा वितरण करना बहुत सरल हो जाता है।

(iii) **विदेशी व्यापार**—पूँजीवादी व्यवस्था में सरकार को यह भी देखना चाहिए कि विदेशों से जो लेन-देन होता है या आयात-निर्यात निजी स्तर पर किया जाता है उसमें कोई कठिनाइयाँ तो नहीं है। इसमें भुगतान, माल भेजने या विदेशी विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयाँ हों तो उन्हें दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

(iv) **एकाधिकार पर रोक**—पूँजीवादी व्यवस्था में व्यावसायिक स्पर्द्धा बनाये रखना बहुत आवश्यक है। यदि पूँजीपति वर्ग मिलकर किसी एक या कई क्षेत्रों में एकाधिकार स्थापित करने का प्रयत्न करें तो सरकार द्वारा इस प्रवृत्ति को रोका जाना चाहिए। यदि एकाधिकार स्थापित हो जाय तो नये साहस को प्रोत्साहन नहीं मिल सकेगा और विकास रुक जायेगा।

संक्षेप में, पूँजीवादी व्यवस्था में सरकार को :

(i) सड़क, रेल, बिजली पानी आदि सम्बन्धी साज-सज्जा का उचित विकास करना चाहिए।

(ii) वित्तीय तथा अन्य संस्थाओं के विकास में सहयोग देना चाहिए।

(iii) विदेशी व्यापार में सहायता देनी चाहिए।

(iv) एकाधिकार की प्रवृत्ति पर रोक लगानी चाहिए।

इस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था में सरकार का स्वयं का कोई सक्रिय योग नहीं होता, वह केवल बाधाओं तथा दुविधाओं को दूर करने में सहायक होती है।

समाजवाद
[SOCIALISM]

वर्तमान युग समाजवाद का युग है। प्रत्येक व्यक्ति तथा सरकार समाजवाद की बातें करती है, समाजवादी बनने का व्रत लेती है तथा समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने का उद्घोष करती है। इस स्थिति में समाजवाद एक फैशन सा बन गया है। अनेक बार जब करोड़पति या लखपति व्यक्ति अथवा हजारों रुपया मासिक वेतन पाने वाले अधिकारी समाजवाद की बातें करते है तो समाजवाद के सिद्धान्तों में अविश्वास होने लगता है। इसी प्रकार जब इम्पाला कार में यात्रा करने वाले, अपने बच्चों के ब्याह में लाखों रुपया खर्च करने वाले तथा ऐश्वर्य के विलास में डूबे रहने वाले मन्त्री समाजवाद लाने का वचन देते हैं तो समाजवाद के प्रति आस्था डगमगाने लगती है। भारत तथा अनेक विकासशील देशों में समाजवाद का यही विकृत रूप देखने को मिलता है जहाँ कथनी और करनी में जमीन आसमान का अन्तर है।

यह सब दोष समाजवाद का पालन न करने वाले व्यक्तियों के हैं, समाजवाद के नहीं।

समाजवाद के मुख्य तत्त्व—समाजवाद के मुख्य तत्त्व निम्नलिखित हैं :

(१) **सरकारी स्वामित्व**—समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन में सहायता करने वाले जितने साधन (भूमि, वन, खनिज आदि) हैं उन पर सरकार का अधिकार होता

है। उत्पादन, विनिमय तथा वितरण आदि सभी क्रियाओं पर भी सरकारी अधिकार होता है। इस प्रकार लाभ देने वाले सब क्षेत्र समाज (अर्थात् सरकार) के स्वामित्व में आ जाते हैं।

(२) **मजदूरी की दर**—मजदूरों या अन्य काम करने वाले व्यक्तियों की मजदूरी या वेतन सरकार निर्धारित करती है और सब व्यक्तियों को निर्धारित दर पर ही वेतन दिया जा सकता है। समाजवादी व्यवस्था में **न्यूनतम तथा अधिकतम वेतन में बहुत अन्तर नहीं होता।**

(३) **व्यक्तिगत सम्पत्ति पर रोक**—समाजवाद में किसी व्यक्ति के पास व्यक्तिगत सम्पत्ति (भूमि, मकान, फैक्टरी आदि) नहीं रह सकती। इसी कारण गरीबी और अमीरी में बहुत अधिक भेद नहीं रह सकता। वास्तव में, इस व्यवस्था में गरीबी और अमीरी होती ही नहीं, सब व्यक्तियों के प्राय: एक समान जीवन स्तर होते हैं।

(४) **उपभोग पर सीमा**—समाजवादी व्यवस्था में सभी सामान सरकारी फैक्टरियां बनाती हैं। अत: जनता के अधिक काम में आने वाली वस्तुएँ बनाने को ही प्राथमिकता दी जाती है। विलासिता तथा ऐश्वर्यशाली वस्तुओं का बहुत कम उत्पादन किया जाता है और जितना उत्पादन होता है वह निर्यात के लिए होता है। अत: समाजवादी व्यवस्था में उन्हीं वस्तुओं का उपभोग किया जाता है जिन्हें सरकार उचित समझती है।

(५) **मूल्य निर्धारण**—समाजवादी व्यवस्था में वस्तुओं के मूल्य भी सरकार ही निर्धारित करती है और देश भर में एक वस्तु का मूल्य समान रहता है, उसमें अन्तर नहीं हो सकता।

(६) **शोषण नहीं होता**—समाजवादी व्यवस्था शोषण के खिलाफ होती है जिसमें सरकार द्वारा मूल्य, मजदूरी या वेतन तथा अन्य नीतियाँ निर्धारित की जाती है। इनका निर्धारण करते समय यह ध्यान रखा जाता है कि किसी का शोषण नहीं किया जा सके।

सरकार का योगदान

समाजवादी व्यवस्था में सरकार का योग निम्न प्रकार हो सकता है :

(१) **सरकारी स्वामित्व**—सरकार सारी भूमि, सभी उद्योग तथा व्यवसाय अपने हाथ में ले सकती है और इन्हें सरकारी प्रशासन द्वारा चला सकती है। इससे आर्थिक शोषण नहीं हो सकेगा और गरीब अमीर की समस्या उत्पन्न नहीं होगी। सरकार स्वयं ही मजदूरों तथा कर्मचारियों के हितों का ध्यान रखेगी अत: मजदूरों द्वारा संघर्ष करने की स्थिति भी नहीं आयेगी।

यदि उद्योग या व्यापार आदि पहले से निजी पूँजीपतियों के हाथ में हैं तो उनका राष्ट्रीयकरण करना होगा।

(२) **साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग**—सरकार के हाथ में सभी उत्पादक क्षेत्र होंगे तो स्वाभाविक रूप में सरकार यह निश्चित करेगी कि कौन से माल का कितना उत्पादन किया जाय। यह निश्चित करते समय सरकार यह ध्यान रख सकती है कि प्राकृतिक तथा अन्य साधनों का इस ढङ्ग से उपयोग हो कि समाज के अधिकांश या सभी व्यक्तियों की अनिवार्य आवश्यकताएँ अवश्य पूरी हो जायँ। इस प्रकार देश के साधनों का राष्ट्रीय हित में श्रेष्ठतम उपयोग हो सकता है।

(३) **प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार**—समाजवादी व्यवस्था में सरकार का सबसे महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य यह होता है कि प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार दिया जाय। इसके लिए जनशक्ति का प्रारम्भिक अवस्था से ही नियोजन किया जा सकता है कि कितने डाक्टर, इंजीनियर, अध्यापक, रसायन विशेषज्ञों की आवश्यकता होगी। उसके हिसाब से ही प्रवेश दे कर उतने ही विशेषज्ञ तैयार किये जाने चाहिएं, अधिक नहीं। सामान्य श्रम-शक्ति को (जिसमें विशेष क्षेत्र की योग्यता नहीं है) सरकारी प्रतिष्ठानों में सामान्य वर्ग का काम दिया जा सकता है।

(४) **विषमता में कमी** जिन देशों में समाजवादी व्यवस्था बाद में स्थापित की जाती है उनमें कर प्रणाली ऐसी बनायी जा सकती है कि अधिक सम्पत्ति वालों की सम्पत्ति धीरे-धीरे क्षय होती चली जाय। सम्पत्ति की उच्चतम सीमाएँ भी निर्धारित की जा सकती हैं। आय (वेतन सहित) की भी उच्चतम सीमा निश्चित की जा सकती है या कर प्रणाली में परिवर्तन द्वारा बहुत ऊँची आय को कम किया जा सकता है।

(५) **उचित वेतन तथा मजदूरी**—समाजवादी व्यवस्था में सरकार द्वारा वेतन तथा मजदूरी की दरें निश्चित की जा सकती हैं कि वह न्यायसंगत हों तथा जिनसे जन साधारण को उचित जीवन स्तर बिताने का अवसर मिल सके।

(६) **अधिकतम कार्य तथा उत्पादन**—समाजवादी व्यवस्था में सरकार को यह दिखलाना होता है कि वह पूँजीवादी व्यवस्था से श्रेष्ठ है। अतः प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक क्षेत्र को अधिक से अधिक कुशल बनाना आवश्यक है। इसके लिए ऐसा वातावरण तैयार करना पड़ेगा जिसमें कोई व्यक्ति काम की चोरी न कर सके और अयोग्यता, अकुशलता तथा ढिलाई को कोई संरक्षण प्राप्त न हो सके।

उपर्युक्त सब रीतियों द्वारा उत्पादन अधिक हो सकता है, लागत कम से कम हो सकती है और प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार तथा उचित वेतन दिया जा सकता है।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था
[MIXED ECONOMY]

समाजवादी और पूँजीवादी व्यवस्था के बीच का मार्ग है मिश्रित अर्थ-व्यवस्था जिसमें समाजवाद के नियन्त्रण नहीं हैं और पूँजीवाद की स्वतन्त्रता नहीं है। इसमें कुछ उद्योग सरकार चलाती है और कुछ उद्योग पूँजीपतियों के हाथ में

छोड़ दिये जाते हैं। इस प्रकार मिश्रित अर्थ-व्यवस्था पूँजीवाद और समाजवाद का अथवा निजी क्षेत्र और लोक क्षेत्र के सह-अस्तित्व का उदाहरण है।

मुख्य तत्व : मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

(१) **निजी क्षेत्र और लोक क्षेत्र**— मिश्रित अर्थ-व्यवस्था' में प्रायः सरकार उद्योगों को दो श्रेणियों में बाँट देती है। एक श्रेणी में वह उद्योग आते हैं जिनका विकास केवस सरकार द्वारा किया जाता है। यह उद्योग प्रायः आधारभूत उद्योग होते है जिनमें अत्यधिक पूँजी लगानी आवश्यक होती है। कुछ उद्योग केवल निजी क्षेत्र के लिए छोड़ दिये जाते है। इस प्रकार मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में सरकार और निजी पूँजीपति— दोनों को निर्धारित क्षेत्रों में उद्योग स्थापित करने का अधिकार होता है।

कभी-कभी कुछ उद्योग संयुक्त क्षेत्र में होते है अर्थात् उनमें सरकार तथा निजी उद्योगपति—दोनों मिलकर पूँजी लगाते है और उनकी प्रवन्ध व्यवस्था भी मिली जुली होती है।

(२) **नियन्त्रण**—मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में उद्योग, व्यापार या अन्य किसी व्यावसायिक क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं होती। इसमें अनेक प्रकार के नियन्त्रण लगाये जाते है जिनमें से कुछ निम्नलिखित है :

(i) **लाइसेंस**—अनेक बार नयी औद्योगिक इकाइयाँ लगाने के लिए लाइसेंस लेना पड़ता है।

(ii) **पूँजी के लिए अनुमति**—यदि उद्योगों में पूँजी लगानी है या पूँजी की मात्रा में वृद्धि करनी है तो प्रायः सरकार से अनुमति लेनी पड़ती है।

(iii) **आयात-निर्यात**—विदेशों से आयात-निर्यात व्यापार के लिए अनुमति लेनी पड़ती है तथा विदेशी मुद्रा के लेन-देन पर भी प्रतिवन्ध होता है।

(iv) **मूल्य नियन्त्रण** – अनेक बार वस्तुओं के मूल्यों पर नियन्त्रण लगाये जाते है और कभी कुछ वस्तुओं का राशनिंग भी करना पड़ता है।

(३) **सहायक संस्थाएँ** —मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में सरकारी तथा गैर सरकारी बैंकों तथा निगमो का एक जाल सा बिछा होता है जो आर्थिक विकास में सहायता देता है।

(४) **नियोजित व्यवस्था**—मिश्रित अर्थ-व्यवस्था एक नियोजित व्यवस्था होती है जिसमें मुख्य आर्थिक नीतियाँ सरकार द्वारा निर्धारित कर दी जाती है और विभिन्न क्षेत्रों के अधिकारी तथा निजी क्षेत्र के व्यवसायी उनका पालन करते हैं।

(५) **अनिवार्य सेवाएँ-सरकारी क्षेत्र में**—मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में प्रायः बिजली, पानी, सड़क तथा अन्य प्रकार के परिवहन आदि की व्यवस्था सरकार द्वारा होती है और उनका प्रवन्ध भी सरकारी क्षेत्र में होता है।

(६) **समाजवादी आर्थिक नीति**—मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में निजी क्षेत्र रहने

पर भी सरकार की आर्थिक नीति समाजवादी होती है और आर्थिक विषमता में कमी करने के प्रयत्न होते रहते हैं।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में सरकार का योगदान

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में सरकार अनेक कार्य करती है जिनसे अर्थतन्त्र को लाभ होता है और जनता का विश्वास दृढ़ होता चला जाता है। इनमें मुख्य निम्नलिखित हैं:

(१) **एकाधिकार से बचाव**—सरकार की औद्योगिक लाइसेंस नीति ऐसी होनी चाहिए कि कुछ इने-गिने व्यक्तियों के हाथ में ही आर्थिक सत्ता संकेन्द्रित नहीं हो जाय। इसके लिए प्रशासन व्यवस्था को भी नियन्त्रित करना आवश्यक है।

(२) **लोक क्षेत्र का विस्तार**—सरकार को लोक क्षेत्र में अधिक तथा नये-नये उद्योग स्थापित करने चाहिएं ताकि आर्थिक शक्ति धीरे-धीरे सरकार के हाथ में आती जाय और सरकार अपने उद्योगों में अधिक व्यक्तियों को रोजगार दे सके।

(३) **अनिवार्य अथवा आधारभूत उद्योग**—सरकार द्वारा ऐसे उद्योगों तथा व्यवसायों को प्राथमिक घोषित कर देना चाहिए जो जनता के लिए अनिवार्य वस्तुओं की पूर्ति करते हों, निर्यात होने वाला समान बनाते हों तथा देश के आर्थिक विकास में अधिक उपयोगी हों। इन प्राथमिक क्षेत्रों के लिए धन, तकनीकी सुविधाएँ तथा विज्ञापन या बिक्री आदि की सुविधाओं की बड़े पैमाने पर व्यवस्था की जानी चाहिए।

(४) **प्रशासनिक नियन्त्रण**—वस्तुओं के उत्पादन, उपभोग तथा बिक्री पर उचित नियन्त्रण लगाये जाने चाहिएं ताकि साधनों का सदुपयोग हो सके और सरकारी नीतियों का आसानी से पालन किया जा सके।

(५) **संस्थागत विकास**—सरकार द्वारा कृषि, उद्योग, व्यापार तथा अन्य क्षेत्रों के विकास के लिए अनेक प्रकार की संस्थाओं की स्थापना की जाती है या निजी क्षेत्र में उनके विकास को प्रोत्साहित किया जाता है। इन सस्थाओं द्वारा वित्त, तकनीकी जानकारी तथा अन्य सुविधाओं की पूर्ति की जाती है जो आर्थिक विकास में बहुत सहायक होती हैं।

(६) **आर्थिक नियोजन**—मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में प्रायः आर्थिक नियोजन की नीति अपनायी जाती है जिसमें विभिन्न क्षेत्रों में विकास के लिए प्राथमिकताएँ निश्चित की जाती हैं और उत्पादन तथा रोजगार के साधन बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है।

(७) **पिछड़े वर्गों को सहायता**—मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में सभी नागरिकों को समान स्तर पर लाने के लिए सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए व्यक्तियों के लिए अनेक प्रकार की सहायता की जाती है ताकि वह वर्ग समाज के अन्य वर्गों के समकक्ष आ सकें।

(८) **न्यूनतम मजदूरी**—मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में भी प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण

क्षेत्रों में न्यूनतम मजदूरी की दरें निश्चित कर दी जाती है जिससे उत्पादन के क्षेत्रों में असन्तोष उत्पन्न न हो सके।

(९) सम्पत्ति तथा आय की सीमा—मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में प्राय: व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा आय की सीमा निर्धारित कर दी जाती है ताकि समाज के विभिन्न वर्गों में आर्थिक विषमता कम हो सके और आर्थिक सत्ता अधिक से अधिक व्यक्तियों के हाथ में बँट सके।

(१०) राष्ट्रीयकरण—मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में कुछ मूलभूत उद्योगों तथा महत्वपूर्ण क्षेत्रो के व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण कर लिया जाता है ताकि सरकार अपनी आर्थिक नीतियों को अधिक शक्ति एव विश्वास के साथ कार्यान्वित कर सके।

इस प्रकार मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में सरकार एक शक्तिशाली निदेशक का काम करती है और अपनी आर्थिक नीतियों में सफलता प्राप्त करने की चेष्टा करती है।

भारतीय अर्थ-व्यवस्था और सरकार

भारतीय अर्थ-व्यवस्था एक मिश्रित अर्थ-व्यवस्था है जहाँ प्रजातन्त्रवादी शासन है और समाजवाद की आर्थिक नीति को अपनाया जा रहा है। इस व्यवस्था में सरकारी तथा निजी दोनों प्रकार के उद्योग चल रहे हैं। उद्योगों की स्थापना के लिए लाइसेन्स लेना आवश्यक है। आयात और निर्यात दोनों के लिए सरकारी अनुमति लेनी होती है। विदेशी मुद्रा में लेन-देन भी वर्जित है। सरकार आर्थिक विपमता दूर करने के लिए प्रयत्न कर रही है किन्तु उसमे अनेक बाधाएं उत्पन्न हो रही है। प्रशासनिक ढाँचा घटिया और नौकरशाही है।

भारतीय अर्थ-व्यवस्था की कुछ आधारभूत विशेपताएँ ऐसी है जिनमे सरकार का सक्रिय योगदान अत्यन्त आवश्यक है। संक्षेप में, यह विशेपताएँ निम्नलिखित है :

(१) कृषि प्रधान—भारत को शताब्दियों से ही कृपि प्रधान देश माना जाता रहा है किन्तु अब भी भारतीय कृपि देश को पर्याप्त अन्न, कपास, तिलहन आदि देने में समर्थ नहीं है। इसके लिए अधिक सिंचाई की सुविधाएँ, अधिक रासायनिक खाद, अच्छे बीज आदि की व्यवस्था सरकारी एजेन्सी द्वारा ही सम्भव है।

(२) साज सज्जा—भारत मे सड़कें, रेलें तथा परिवहन के अन्य साधन, बिजली की पूर्ति, रहने के लिए मकान आदि सुविधाएँ बहुत कम है जिनका विस्तार सरकारी सहयोग बिना होना सम्भव नहीं है।

(३) आधारभूत उद्योगों का पिछड़ापन—भारत में इस्पात, कोयला, इंजीनियरी सरीखे उद्योग अब भी बहुत पिछड़े हुए हैं। यह उद्योग ऐसे है जिनमें बहुत अधिक पूँजी लगानी पड़ती है, इनसे बहुत वर्ष बाद उत्पादन मिलता है और इनमें बहुत कुशल तकनीक की आवश्यकता होती है। यह उद्योग किसी भी देश के आर्थिक विकास के लिए बहुत आवश्यक है। इनकी विशेपताओं के कारण ही इनका विकास सरकार के सक्रिय सहयोग बिना सम्भव नहीं है।

(४) **वित्तीय ढाँचा**—भारतीय उद्योगों तथा अर्थ-व्यवस्था के अनेक क्षेत्रों का वित्तीय ढांचा बहुत कमजोर है। इसको सबल बनाने के लिए शक्तिशाली वित्तीय संस्थाओं की आवश्यकता है जिनको आर्थिक सहायता की नीति अत्यन्त उदार एवं क्रान्तिकारी हो। यह दोनों बातें सरकारी संस्थाओं मे ही हो सकती है।

(५) **सामाजिक तथा आर्थिक पिछड़ापन**—भारत में अब भी अधिकांश व्यक्ति रूढ़िग्रस्त और गरीब हैं। सामाजिक पिछड़ेपन का मुख्य कारण भी गरीबी है। इस पिछड़ेपन को दूर करने का काम सरकार की क्रान्तिकारी नीतियों बिना नही हो सकता।

(६) **आर्थिक विषमता**—भारत में गरीबी और अमीरी में बहुत अधिक अन्तर है। आज भी कुछ व्यक्तियों के पास करोड़ों रुपये की सम्पत्ति है जबकि कुछ के लिए दो समय के भोजन की व्यवस्था नहीं है। कुछ व्यक्ति हजारों रुपये मासिक कमा रहे हैं जबकि अधिकांश व्यक्तियों की मासिक आय १०० रुपये से भी कम है। इस स्थिति को ईश्वर की कृपा या किसी महान् शक्ति के आशीर्वाद से नहीं सुधारा जा सकता। इसके लिए सरकार की सही अर्थों में समाजवादी नीति होना आवश्यक है।

(७) **अशिक्षा**—आजादी के लगभग पच्चीस वर्ष बाद भी भारत की दो तिहाई से अधिक जनता निरक्षर तथा अनपढ़ है। देश के अनेक कानून और कायदे इस कारण असफल हो जाते हैं कि देश के अधिकांश व्यक्ति उनको समझते नहीं हैं। अतः अशिक्षा को दूर करने के लिए भागीरथ प्रयत्न करने आवश्यक हैं जिनके लिए साधन और धन सरकार ही जुटा सकती है।

इन सब बातों से स्पष्ट है कि भारत की अर्थ-व्यवस्था को पिछड़ेपन के गहरे दलदल में से निकाल कर उन्नति के प्रशस्त मार्ग पर लाने के लिए सरकार के विशेष प्रयत्नों के बिना काम नहीं चल सकता। पिछले २० वर्ष मे सरकार ने विभिन्न क्षेत्रों का विकास करने के लिए विशेष प्रयत्न किये हैं जिनका ब्यौरा अगले अध्यायों में किया जायेगा।

अभ्यास प्रश्न

१. पूँजीवाद के मूल तत्त्व क्या हैं? पूँजीवादी व्यवस्था में सरकार का क्या कर्त्तव्य होता है?

२. एक समाजवादी व्यवस्था की आर्थिक विशेषताएँ लिखिए। इस व्यवस्था में सरकार का क्या योगदान हो सकता है?

३. मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का क्या अर्थ है? एक मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के मुख्य तत्त्वों का ब्यौरा दीजिए।

४ एक मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में सरकार के दायित्व को स्पष्ट कीजिए।

५. भारतीय अर्थ-व्यवस्था की विशेषताएँ लिखिए। भारत के आर्थिक विकास में सरकार का योगदान क्यों आवश्यक है?

१०

राज्य और कृषि

(STATE AND AGRICULTURE)

कृषि का महत्त्व—भारतीय अर्थ-व्यवस्था में कृपि का महत्त्व निम्नलिखित बातों से जाना जा सकता है :

(१) **रोजगार**— कृषि भारत की लगभग ६० प्रतिशत जन संख्या को रोजगार प्रदान करती है।

(२) **राष्ट्रीय आय**— भारत की कुल राष्ट्रीय आय का लगभग ४४ प्रतिशत भाग कृपि से प्राप्त होता है।

(३) **कच्चा माल**— कृपि अनेक उद्योगों को कच्चा माल प्रदान करती है। सूती वस्त्र उद्योग को रुई, जूट उद्योग को पटसन, चीनी उद्योग को गन्ना तथा तेल उद्योग को तिलहन कृपि से ही मिलते है। इन उद्योगों का उत्पादन बहुत कुछ खेती की उन्नति पर निर्भर करता है।

(४) **चारा**—खेती से भारत के अनेक वर्गों के पशुओं के लिए चारा मिलता है। यह पशु दूध, घी, खालें, माँस आदि की आवश्यकता पूरी करते है। इनमें से कुछ भार ढोने के काम भी आते हैं।

(५) **ईंधन**—खेती से बहुत से किसानों को जलाने के लिए ईंधन (लकड़ी) मिलती है। कपास निकालने के बाद उसका बचा हुआ पूरा पौधा बहुत अच्छे ईंधन का काम देता है।

कृषि की विशेषताएँ—भारतीय अर्थ-व्यवस्था में कृपि का इतना महत्त्व होते हुए भी कृपि की स्थिति बहुत अच्छी नहीं रही है जैसाकि निम्नलिखित तथ्यों से पता चलता है :

(१) **कृषि योग्य भूमि**—भारत में कुल भूमि ३२.७६ करोड़ हेक्टर है। इनमें से खेती के योग्य कुल क्षेत्रफल १६.४ करोड़ हेक्टर है। इसमें से लगभग १५.८१ करोड़ हेक्टर भूमि में खेती की जाती है।

(२) **मानसून और सिंचाई**—भारत की अधिकांश खेती योग्य भूमि खेती के लिए मानसून पर निर्भर करती है। केवल ३.८ करोड़ हेक्टर भूमि में सिंचाई की सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

(३) **छोटे-छोटे खण्ड**—भारत में कृषि वाली भूमि के बहुत छोटे-छोटे टुकड़े हैं। कहीं-कहीं तो भूमि के खण्ड इतने छोटे है कि उनमें बैल घूम भी नही सकता। इतने छोटे टुकड़े खेती के लिए लाभदायक नही हो सकते।

(४) **पुराने तरीके**—भारत में खेती की रीतियाँ वर्षों तक बहुत पुरानी और घटिया रही है। किसान का अशिक्षित तथा गरीब होना इस स्थिति के लिए उत्तरदायी है।

(५) **प्रति हेक्टर कम उत्पादन**—खेती में प्रति हेक्टर उत्पादन बहुत कम है। इसका मुख्य कारण यह है कि बहुत कम क्षेत्रों में रासायनिक खाद, अधिक उत्पत्ति देने वाले बीज तथा खेती के यन्त्रीकृत तरीके काम में लिए जाते है।

(६) **भूमि का स्वामित्व**—भारत में इस बात का प्रचार बहुत किया जाता है कि किसान को भूमि का मालिक बना दिया गया है किन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि भूमि का अधिकांश भाग अब भी खेती न करने वाले वर्गों के कब्जे में है।

कृषि नीति—क्या सरकार को कृषि विकास मे हस्तक्षेप करना चाहिए ?

अन्य क्षेत्रों की तरह कृषि क्षेत्र में भी इस बात पर विवाद चलता रहता है कि सरकार को खेती के विकास मे हस्तक्षेप करना चाहिए या नहीं। कुछ व्यक्तियों का मत है कि खेती के लायक जितनी भूमि है उस पर किसानों का ही अधिकार होना चाहिए और किसानों को अपनी इच्छानुसार खेती करने की छूट होनी चाहिए। यदि उन्हें खेती करने मे कोई कठिनाई हो तो सरकार से मदद मिल जानी चाहिए। अमरीका, जापान, फ्रास, जर्मनी आदि देशों मे इस प्रकार की ही खेती की जाती है।

एक दूसरा विचार यह है कि सारी भूमि पर सरकारी अधिकार होना चाहिए। कौन सी भूमि मे क्या वस्तु उत्पन्न की जाय और उसके लिए कौन सी प्रणाली काम में ली जाय यह निश्चित करना सरकार का काम होना चाहिए। सरकार द्वारा इस नीति के अनुसार वही खेती करवायी जानी चाहिए। सोवियत रूस, चीन तथा पूर्वी यूरोप के अनेक देशों में इसी प्रकार खेती की जाती है।

विकासशील देशों के लिए नीति—आर्थिक दृष्टि से विकसित देशों में सरकार को खेती के काम में हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि इनमें खेती की रीतियाँ बहुत विकसित हो जाती हैं। किसान अपने आप खेती के नये तरीके अपना कर अधिक से अधिक उत्पादन कर लेते हैं। किन्तु आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों मे खेती की पुरानी रीतियाँ काम में ली जाती है, खेती के साधन (खाद, बीज, औजार तथा पूँजी आदि) घटिया या कम होते हैं। इसलिए इन देशों मे सरकारी सहायता के बिना खेती का विकास करना सम्भव नहीं है।

भारत में सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक है—कारण

भारत मे कृषि की विशेषताओं को देखते हुए सरकारी सहायता की बहुत अधिक आवश्यकता है। यह सच है कि भारत के किसान को इस बात का पूरा अनुभव है कि कौन सी भूमि किस फसल के लिए उपयोगी है, कौन सी फसल को कब बोया जाना चाहिए तथा उसमे कब और कितनी खाद दी जानी चाहिए किन्तु अनेक काम ऐसे हैं जिनमे किसान कुछ नहीं कर सकता या जिनमे सरकारी सहायता बहुत आवश्यक है। ऐसे कार्य निम्नलिखित हैं :

(१) **सामाजिक पूँजी**—भारत मे नहरे, बाँध, नलकूप, सड़कें आदि बनवाना, मण्डियों तथा माल बेचने की उचित व्यवस्था करना, खेती के पदार्थ सुरक्षित रखने के लिए गोदाम बनवाना आदि ऐसे कार्य हैं जिनके लिए किसान पूँजी की व्यवस्था नहीं कर सकता। इन पूँजी का प्रबन्ध सरकार ही कर सकती है। यह पूँजी सामाजिक पूँजी कहलाती है क्योंकि इसका मुख्य उद्देश्य समाज को लाभ पहुँचाना होता है। इस पूँजी से सरकार को प्रत्यक्ष लाभ प्राप्त नही होता या बहुत समय बाद होने लगता है।

(२) **कृषि अनुसंधान**—भारतीय खेती बहुत पिछड़ी हुई है। इसकी उन्नति के लिए खाद, बीज, बोने की नयी रीति आदि सम्बन्धी अनुसन्धान करने की आवश्यकता है। इस प्रकार के अनुसन्धान करने के लिए प्रयोगशालाएँ स्थापित करना आवश्यक है जिनमे पर्याप्त पूँजी लगानी पड़ेगी। इस पूँजी की व्यवस्था सरकार ही कर सकती है।

(३) **भूमि सुधार**—कृषि मे उत्पादन बढ़ाने के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण काम यह है कि भूमि का मालिक किसान को बनाया जाना चाहिए। यह काम सरकारी कानून द्वारा ही हो सकता है। इसी प्रकार भूमि का लगान निश्चित करना, लगान से छूट देना, भूमि की चकबंदी करना तथा जोत की कम से कम तथा अधिक से अधिक सीमा निर्धारित करने का काम भी सरकार ही कर सकती है। अतः सरकार का कृषि व्यवस्था मे हस्तक्षेप बहुत आवश्यक है।

(४) **अकाल के समय**—जिस समय देश के किसी भाग में अकाल पड़ जाता है या देश मे ही अनाज की कमी आ जाती है तो अन्न का आयात, मूल्य निर्धारण, राशन व्यवस्था आदि सरकार को ही करनी पड़ती है। अनेक बार अनाज के आयात के लिए दूसरे देशों की सरकार से सम्पर्क करना पड़ता है। यह कार्य निजी व्यापारियों द्वारा सम्भव नही है।

(५) **वित्त**—किसानों को समय-समय पर खेती के विकास के लिए रकमें उधार लेनी पड़ती हैं। यह रकमें समय पर वापस आने का निश्चय नहीं होता। अनेक बार इनमें देर हो जाती है। यह जोखिम सरकार ही उठा सकती है। यदि बैंक सरकारी क्षेत्र में हों तो भी यह सम्भव है। कभी-कभी सरकार ऐसे ऋणों के भुगतान की गारण्टी कर देती है।

भारत सरकार की नीति

भारत में प्राचीनकाल में कृषि की समस्याएँ बहुत जटिल नहीं थीं, प्रायः आवश्यकतानुसार सभी प्रकार का माल विभिन्न क्षेत्रों में उत्पन्न होता था और उसकी खपत नहीं हो पाती थी। कभी-कभी अभाव के समय अन्न आदि दूसरे क्षेत्रों से मँगवाना या भेजना पड़ता था। यह कार्य आकस्मिक थे और सरकार इनके नियमित संचालन के लिए कोई विशेष विभाग नहीं रखती थी बल्कि आवश्यकता पड़ने पर किन्हीं भी कर्मचारियों को यह काम सौंप दिया जाता था।

कृषि विभाग की स्थापना—सन् १८८४ में देश के विभिन्न प्रान्तों मे कृषि विभाग स्थापित कर दिये गये। इन विभागों को कृषि विकास कार्यो के अतिरिक्त भूमि सम्बन्धी रिकार्ड रखने तथा भूमि की रजिस्ट्री आदि का निरीक्षण सम्बन्धी काम भी सौंप दिया गया। इतना काम होने पर भी इन विभागों के संचालन के लिए पर्याप्त रकम स्वीकृत नहीं की गयी।

कृषि विभागों के कार्य—इनके मुख्य कार्य निम्नलिखित थे :

(१) कृषि फार्मो तथा प्रयोगशालाओं में शोध कार्य को प्रोत्साहित करना ताकि कृषि प्रणालियों में सुधार हो सके।

(२) कृत्रिम खाद के प्रयोग को प्रोत्साहित करना।

(३) सुधरी हुई किस्म के बीजों के प्रचार तथा वितरण की व्यवस्था करना।

(४) सरकारी फार्मों अथवा निजी खेतों पर कृषि प्रदर्शनकारियों का संगठन करना।

(५) कृषि की नवीन पद्धतियों तथा सुधरे हुए उपकरणों का प्रयोग प्रोत्साहित करने के लिए प्रचार की व्यवस्था करना।

प्रशिक्षण सुविधा की आवश्यकता—सन् १८९२ में डा० वोलकर ने मत प्रकट किया कि भारतीय कृषि का विकास करने के लिए उचित प्रशिक्षण सुविधाओं की आवश्यकता है। फलतः १८९२ में केन्द्रीय सरकार ने एक कृषि रसायनशास्त्री नियुक्त किया और १९०१ में एक कृषि महानिरीक्षक (Inspector General of Agriculture) नियुक्त किया गया, जिसका कार्य केन्द्र तथा प्रान्तीय सरकारों को सलाह देना था। १९१२ में यह पद समाप्त कर इसका काम संचालक कृषि अनुसन्धान-शाला पूसा को सौंप दिया गया। यही व्यक्ति १९२९ तक भारत सरकार के कृषि सलाहकार के रूप में कार्य करता रहा।

कृषि प्रशिक्षण—पूसा कृषि अनुसन्धान-शाला की स्थापना १९०३ में की गयी और इस शाला के साथ ही कृषि सम्बन्धी शिक्षा के लिए एक विद्यालय भी स्थापित किया गया। लार्ड कर्जन ने कृषि विभागों के कार्य में विशेष रुचि प्रदर्शित की और उनसे भूमि आदि सम्बन्धी कार्यो का दायित्व ले लिया गया। इसके अतिरिक्त कृषि शोध, प्रदर्शन तथा प्रशिक्षण कार्यो के लिए अधिक रकम की भी व्यवस्था की गयी।

सन् १९०८ में पूना में कृषि महाविद्यालय की स्थापना की गयी और उसके

पश्चात् क्रमशः कानपुर, नागपुर तथा कोयम्बटूर में भी ऐसे कॉलेज स्थापित कर दिये गये।

कृषि मण्डल की स्थापना—सन् १९०५ में अखिल भारतीय कृषि मण्डल (All India Board of Agriculture) की स्थापना की गयी जिसका उद्देश्य विभिन्न प्रान्तों में कृषि विभागों के कार्यों मे समन्वय स्थापित करना था। यह मण्डल प्रान्तीय विभागों की सभाएँ बुलाकर कृषि सम्बन्धी योजनाएँ निर्माण करने मे सहयोग देता था और समय-समय पर सरकार को कृषि विकास सम्बन्धी सुझाव देता था।

शाही कमीशन, १९२६—सन् १९०५ मे कृषि कार्य को बल देने के लिए भारत सरकार ने अखिल भारतीय कृषि सेवा (All-India Agricultural Service) की स्थापना की और १९१९ मे कृषि विकास का मद प्रान्तीय सरकारों को सौंप दिया किन्तु कृषि की स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी अतः सन् १९२६ मे कृषि क्षेत्र में व्यापक सुधार करने की दृष्टि से कृषि शाही आयोग (Royal Commission on Agriculture) की नियुक्ति की गयी।

कृषि सम्मेलन—शाही आयोग ने प्रायः सारे देश का दौरा किया और कृषि समस्याओं का सर्वांगीण अध्ययन करने के पश्चात् १९२८ मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। रिपोर्ट मे कृषि के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए खेती की नवीन प्रणालियों, भूमि सुधार, कृषि साख आदि मे व्यापक सुधार करने की सिफारिशें की गयी। अक्टूबर १९२८ मे शिमला मे **एक कृषि सम्मेलन** बुलाया गया जिसमे प्रान्तों के कृषि मन्त्रियों, संचालकों तथा सहकारी समितियों के उच्च अधिकारियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन मे देश के विभिन्न भागों में कृषि विकास के लिए शाही कमीशन की रिपोर्ट को आधार मानकर चलने का निश्चय किया गया। इसके अतिरिक्त शाही आयोग की सिफारिश के अनुसार **शाही कृषि अनुसन्धान परिषद** की स्थापना का निश्चय किया गया।

कृषि अनुसन्धान परिषद् (Imperial Council of Agricultural Research)—कृषि आयोग का मत था कि कृषि के वास्तविक विकास के लिए प्रयोग तथा शोध की आवश्यकता है और यह शोध कार्य अत्यन्त उच्चस्तरीय होना चाहिए। भारत सरकार ने इस प्रकार के शोध कार्य के लिए १९२९ में कृषि अनुसन्धान परिषद् की स्थापना कर दी। यह परिषद् अब भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् के नाम से विख्यात है।

परिषद् का कार्य कृषि सम्बन्धी शोध करना है और कृषि सम्बन्धी सभी कार्यों में वह राज्यों तथा केन्द्रीय सरकार को परामर्श देती है। इसके अतिरिक्त वह भारत तथा अन्य देशों में कृषि तथा पशुपालन सम्बन्धी शोध कार्यों में समन्वय स्थापित कर उनकी सूचना सर्वत्र प्रसारित करती है। इस कार्य के लिए परिषद् एक पत्रिका निकालती है।

परिषद् की स्थापना के समय भारत सरकार ने २५ लाख रुपये का तात्कालिक अनुदान दिया और ७.२५ लाख रुपये प्रति वर्ष देने की घोषणा की। वर्तमान में परिषद का सम्पूर्ण व्यय भारत सरकार वहन करती है। कृषि सम्बन्धी शोध कार्य के अतिरिक्त परिषद् द्वारा देश के विभिन्न भागों मे कृषि प्रदर्शनियाँ संगठित की जाती हैं जहाँ कृषि की सुधरी हुई प्रणालियों का ज्ञान कराने की चेष्टा की जाती है।

रसल-राइट जाँच—शाही कृषि आयोग न यह सुझाव दिया था कि कृषि अनुसन्धान परिषद् की क्रियाओं की समय-समय पर जाँच होती रहनी चाहिए। इस उद्देश्य से भारत सरकार ने १९३६-३७ में इंगलैण्ड से दो विशेषज्ञ सर जॉन रसल तथा डॉ० एन० सी० राइट (Sir John Russell and Dr. N. C. Wright) को आमन्त्रित किया। इन विशेषज्ञों ने अपनी रिपोर्ट में निम्नलिखित सुझाव दिये :

(१) शोधकर्ताओं तथा कृपकों में निकट सम्पर्क स्थापित किया जाय।

(२) फसलो के विनाशक कीटाणु किस प्रकार नष्ट किये जायँ।

(३) व्यावसायिक फसलों सम्बन्धी अनुसन्धान फसलें खरीदने वालों के सहयोग से किया जाना चाहिए और खाद्यान्नों सम्बन्धी शोध कार्य में पोषक तत्त्व विशेषज्ञों की सहायता ली जानी चाहिए।

(४) भूमि तथा फसलों की रक्षा के लिए भू-संरक्षण तथा फसल संरक्षण समितियों की स्थापना की जानी चाहिए।

(५) फसलों की कीड़ों, बीमारियों तथा अन्य तत्वों से रक्षा करने के लिए स्थायी व्यवस्था की जानी चाहिए।

(६) दुग्ध व्यवसाय तथा पशुपालन के सम्बन्ध में शोध, प्रशिक्षण तथा सलाहकार सेवाओं का विकास किया जाना चाहिए।

(७) परिषद को अधिक वित्तीय सहायता प्रदान की जानी चाहिए।

भारत सरकार द्वारा उक्त सभी सिफारिशें स्वीकार कर ली गयीं और कृषि शोध कार्य तथा व्यवस्था को अधिक शक्तिशाली बनाने की चेष्टा की गयी।

१९४३ का अकाल—सन् १९४३ में बंगाल में भीषण अकाल पड़ा जिसमें लगभग ३०-३५ लाख व्यक्ति भूख से तड़प-तड़प कर मर गये। इसकी जाँच के लिए सरकार ने एक आयोग नियुक्त किया जिसने १९४५ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इसकी रिपोर्ट के अनुसार सरकार ने **"अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन"** (Grow More Food Campaign) आरम्भ किया। इस आन्दोलन में खेती योग्य सारी भूमि को काम मे लाने का लक्ष्य रखा गया और किसानों को हर सम्भव सहायता देने का कार्यक्रम अपनाया गया।

योजना काल

पंचवर्षीय योजनाओं में खेती के विकास को अधिक महत्त्व देने का प्रयत्न किया गया। इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि **पहली योजना** में कृषि और

सिंचाई पर ६०१ करोड़ रुपया खर्च किया गया जो सरकारी क्षेत्र में किये गये कुल खर्च का ३१ प्रतिशत था। **दूसरी योजना** में कृषि और सिंचाई पर ९५० करोड़ रुपए खर्च किये गये जो पहली योजना में कृषि कार्यक्रमों पर किये गये खर्च से डयौड़े थे परन्तु यह रकम दूसरी योजना पर किये गये कुल व्यय की केवल २० प्रतिशत थी। इस प्रकार दूसरी योजना मे कृषि का महत्त्व कुछ कम कर दिया गया। इसका कारण यह था कि उद्योग और खनिजों के विकास पर खर्च की गयी रकम में बहुत वृद्धि कर दी गयी थी।

तीसरी योजना—में कृषि तथा सिंचाई पर २७५४ करोड़ रुपया खर्च किया गया। यह रकम कुल योजना व्यय की लगभग ३२ प्रतिशत थी। इस प्रकार तीसरी योजना में कृषि को लगभग उतना ही महत्त्व दिया गया था जितना पहली पंचवर्षीय योजना में दिया गया।

तीसरी योजना के पश्चात् तीन वर्ष तक योजना का अवकाश काल था किन्तु सरकार ने एक वर्षीय योजनाओं द्वारा नियोजन का क्रम जारी रखा। इन तीन वर्षों (अप्रैल १९६६ से मार्च १९६९ तक) मे कृषि तथा सिचाई के कार्यक्रमों पर लगभग १६२४ करोड रुपये की रकम खर्च की गयी। यह रकम इन तीन वर्षो में नियोजन पर खर्च की गयी कुल रकम की लगभग २४ प्रतिशत थी। इससे स्पष्ट है कि तीन वार्षिक योजनाओं मे भी कृषि के विकास पर उतना ध्यान नही दिया गया जितना पहली और दूसरी योजना मे दिया गया था।

चतुर्थ योजना—(१९६९-७४) में लोक क्षेत्र में कुल १५,९०२ करोड़ रुपया खर्च किया जायेगा। इसमें से लगभग ३,८१५ करोड़ रुपया कृषि और सिंचाई पर व्यय होगा। इस प्रकार खेती और सिंचाई पर सार्वजनिक क्षेत्र के कुल व्यय का लगभग २४ प्रतिशत भाग खर्च किया जायेगा। यह अंश उतना ही है जितना वार्षिक योजनाओं में कृषि पर व्यय किया गया था। इस प्रकार चतुर्थ योजना काल मे खेती के विकास को कोई विशेष प्राथमिकता नही दी गयी है, उसे सामान्य महत्त्व दिया गया है।

क्या योजना काल में कृषि नीति सही रही है ?

योजना काल में कृषि विकास पर जो रकमे खर्च की गयी है वह कृषि के सर्वतोमुखी विकास के लिए खर्च की गयी है। इस प्रकार कृषि मे निम्नलिखित कार्यक्रम सम्मिलित रहे है :

(i) कृषि शिक्षा तथा अनुसंधान; (ii) भूमि का संरक्षण; (iii) भूमि विकास; (iv) पशु पालन; (v) दुग्ध व्यवसाय का विकास; (vi) मछली पालन (vii) वन; (viii) बिक्री तथा गोदाम व्यवस्था; (ix) सहकारिता; (x) सामुदायिक विकास; तथा (xi) पंचायती राज।

इन सब कार्यो के लिए पिछले १८ वर्ष मे जो रकमे खर्च की गयी और चौथी योजना में जो रकमें खर्च करने का प्रावधान है, वह स्पष्ट करती है कि कृषि

विकास के कार्यक्रमों को जो महत्त्व दिया जाना था वह नहीं दिया गया। वास्तव में, भारतीय अर्थ-व्यवस्था में कृषि एक आधारभूत व्यवसाय है जिस पर देश का सारा आर्थिक ढाँचा खड़ा है। इस महत्त्व को देखते हुए कृषि कार्यक्रमों के लिए आवश्यकता के अनुसार रकम की व्यवस्था नहीं की गयी। यह बात निम्नलिखित तथ्यों से सिद्ध हो सकती है :

(i) भारत अब भी खाद्यान्नों का निरन्तर आयात कर रहा है।

(ii) भारत में रुई, पटसन तथा तिलहन की अब भी कमी प्रतीत होती है।

(iii) भारतीय कृषि अब भी मानसून पर निर्भर है।

नयी कृषि नीति
[NEW AGRICULTURAL STRATEGY]

सन् १९६०-६१ में कृषि विकास के लिए नयी नीति अपनायी गयी। इस नीति के अनुसार देश मे हरित क्रान्ति (Green Revolution) लाने का उद्देश्य अपनाया गया। हरित क्रान्ति का अर्थ है देश मे खेती के पदार्थों के उत्पादन में बहुत तेजी से वृद्धि करना। यह वृद्धि कई रीतियाँ अपना कर करने का निश्चय किया गया। इन रीतियों में **खेती की नयी प्रणाली अपनाना, संकर बीजों से अधिक उपज देने वाली फसलें उगाना, रासायनिक खाद तथा कीटाणुनाशक पदार्थों का अधिक प्रयोग तथा पशु पालन एवं दुग्ध व्यवसाय** की उन्नति करना सम्मिलित है।

नयी कृषि नीति या हरित क्रान्ति के मुख्य तत्त्व निम्न-लिखित हैं :

मुख्य तत्त्व

(१) **गहन कृषि कार्यक्रम**—नयी कृषि नीति के अन्तर्गत पहला काम यह किया गया कि १९६०-६१ मे तीन जिले छाँट लिए गये और इन जिलों में खेती के विकास के लिए गहरे प्रयत्न आरम्भ किये गये। कुछ समय पश्चात् ही इस कार्यक्रम को दस अन्य जिलो में भी लागू कर दिया गया। १९६४-६५ में इस कार्यक्रम को देश के अनेक भागों मे लागू कर दिया गया और इसका नाम बदल कर **गहन कृषि क्षेत्र कार्यक्रम** (Intensive Agriculture Area Programme) रख दिया गया।

इस कार्यक्रम की दो मुख्य बातें थी :

(i) **विशिष्ट फसलें**—इस कार्यक्रम का लक्ष्य कुछ विशेष फसलों का उत्पादन बढ़ाना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए गहरी खेती करने का आयोजन किया गया।

(ii) **पुराने बीज**—इस कार्यक्रम के लिए पुराने ढंग के बीजों से ही उत्पादन बढ़ाने का प्रयत्न किया गया। इन बीजों पर रासायनिक खाद का कोई विशेष प्रभाव नहीं था।

(२) **अधिक फसल देने वाली किस्में**—सरकार ने पहली दो योजनाओं के काल में यह अनुभव कर लिया है कि पुराने ढंग के बीजों से गहन खेती करने का

कोई महत्त्व नही है। उत्पादन में वास्तविक वृद्धि करने के लिए ऐसे बीज तैयार किए जाने चाहिएं जो पहले से कई गुनी फसल दें। सन् १९६० में मक्का और ज्वार, बाजरे की संकर किस्में तैयार की गयी। सन् १९६३ में संकर बीजों का बड़े पैमाने पर प्रयोग आरम्भ हो गया। इन प्रयोगों का परिणाम यह हुआ कि संकर मक्का, संकर ज्वार तथा संकर बाजरे के अतिरिक्त गेहूँ की मैक्सिकन किस्म की बुवाई आरम्भ की गयी। धान की भी अधिक फसल देने वाली किस्में निकाली गयी।

सन् १९६६ से अधिक फसल देने वाली क्रिस्मों का वड़े पैमाने पर प्रयोग आरम्भ कर दिया गया। १९६७-६८ तक लगभग ६० लाख हेक्टर भूमि में सुधरी हुई किस्मों के बीज बोये जाने लगे और चतुर्थ योजना के आरम्भ में (१९६९) अधिक फसल देने वाली फसलों के बीजों का प्रयोग लगभग ९२ लाख हेक्टर भूमि में होने लगा।

पांच वस्तुएँ—ऊँची उपज देने वाली किस्मों का विकास मुख्यतः पाँच फसलों में होने लगा है जिनके नाम है : गेहूँ, चावल, बाजरा, मक्का तथा ज्वार, इन पाँचों में भी सबसे अधिक सफलता गेहूँ को मिली है। पुराने बीजों से गेहूँ की उत्पत्ति सिंचित क्षेत्रो मे प्राय. २ टन प्रति हेक्टर होती थी। नयी बौनी किस्मों का गेहूँ एक हेक्टर में ५ से ६ टन तक उत्पत्ति देता है। ज्वार, बाजरा तथा मक्का की संकर किस्में भी तीन गुनी तक उपज देने लगी हैं परन्तु चावल की उपज के परिणाम विशेष संतोष-जनक नहीं है क्योंकि नई किस्मों में कीड़ा लगने का भय अधिक है। इसीलिए चावल की नयी किस्मो पर अधिक अनुसंधान किया जा रहा है।

चतुर्थ योजना की समाप्ति (मार्च १९७४) तक लगभग २.५ करोड़ हेक्टर भूमि मे उन्नत किस्म की फसलों के बीज बोये जाने का लक्ष्य रखा गया है। इसमें १ करोड़ हेक्टर भूमि में चावल तथा ७७ लाख हेक्टर भूमि में गेहूँ बोने का प्रावधान है। इतनी अधिक भूमि मे उन्नत किस्म के बीज बोने से देश मे खाद्यान्नों की कमी दूर हो जाने की आशा रखना सर्वथा स्वाभाविक है।

(३) **बहु फसल कार्यक्रम**—नयी कृषि नीति में केवल अधिक उपज प्राप्त करने का ही लक्ष्य नहीं है बल्कि कई-कई फसलें प्राप्त करने का भी लक्ष्य रखा गया है। चावल, मक्का, ज्वार तथा बाजरे की शीघ्र तैयार होने वाली किस्मे निकाल ली गयी है। ऐसी व्यवस्था की जाती है कि जल्दी तैयार होने वाली फसल को काटकर उसकी भूमि में तुरन्त दूसरी फसल बो दी जाती है। इसे फसलों की अदला-बदली (Rotation of crops) कहते हैं। फसलों की अदला-बदली के कार्य-क्रम मे ज्वार, रागी, तिलहन, आलू तथा सब्जियों को भी शामिल किया गया है।

बहु फसल कार्यक्रम १९६७-६८ में आरम्भ किया गया था और १९६८-६९ तक लगभग ६० लाख हेक्टर भूमि मे इसका लाभ उठाया जा रहा था। सन् १९७४ तक लगभग १.५ करोड़ हेक्टर भूमि मे बहु फसल कार्यक्रम का प्रयोग होने लगेगा।

(४) **कृषि अनुसन्धान**—कृषि की नयी नीति में नये तकनीकों को बहुत महत्त्व दिया गया है। फसलों को किस समय, किस तरह बोना तथा कब-कब खाद, पानी आदि देना अधिक उत्पत्ति के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कृषि प्रणालियों में अनुसन्धान की बहुत आवश्यकता है। अतः १९६५ में भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् को फिर से संगठित किया गया। भारत में जो अनुसन्धान संस्थान कार्यशील थे उन्हें इस परिषद् के अधीन कर दिया गया। वर्तमान में इस परिषद् के अधीन २५ शोध संस्थान काम कर रहे हैं।

कृषि अनुसन्धान की दिशा में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कदम यह उठाया गया कि देश में ९ कृषि विश्वविद्यालय स्थापित किये गये हैं। जिनमें खेती की नयी तकनीक, नये बीज, खाद आदि के विषय में अत्यन्त लाभदायक अनुसन्धान हुए हैं। इस सम्बन्ध में पंजाब में लुधियाना कृषि विश्वविद्यालय ने अनेक उन्नत किस्मों के बीज निकाले हैं तथा कृषि प्रणालियों में सुधार के उपायों की खोज की है।

कृषि अनुसन्धान परिषद् वर्तमान में ३८ परियोजनाओं पर काम कर रही है जिनके परिणामों से कृषि क्षेत्र में अधिक क्रान्ति आने की सम्भावना है।

(५) **कृषि पड़त**—खेती की सुधरी हुई प्रणालियों का विकास करने के लिए अनेक पड़तों (साधनों) की आवश्यकता होती है जिसमें मुख्य निम्नलिखित हैं :

(i) रासायनिक खाद; (ii) सुधरे हुए बीज; (iii) औजार तथा मशीनें; (iv) सिंचाई सुविधाएँ तथा (v) कृषि साख।

इनकी पर्याप्त व्यवस्था करने के लिए विशेष संस्थाओं तथा उत्पादक एजेंसियों की आवश्यकता थी जिसकी व्यवस्था सरकार ने की है। इनका संक्षिप्त ब्यौरा नीचे दिया जा रहा है :

रासायनिक खाद—विशेषज्ञों का अनुमान है कि भूमि में रासायनिक खाद देने से उपज को तीन से चार गुना किया जा सकता है। इसी दृष्टि से सिन्द्री, नांगल, ट्रॉम्बे तथा आल्वे में खाद बनाने को सरकारी फैक्टरियाँ स्थापित की गयी हैं। १९६८-६९ में इन फैक्टरियों से उत्पन्न तथा विदेशों से मगाये हुए खाद की कुल खपत लगभग १६ लाख टन थी। १९७४ में रासायनिक खाद की खपत का लक्ष्य ५५ लाख टन रखा गया है।

भूमि-परीक्षण—रासायनिक खाद का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग तभी सफल हो सकता है जबकि भूमि के उचित परीक्षण की व्यवस्था हो। यदि भूमि-परीक्षण बिना खाद दे दी जाय तो फसल के सर्वथा नष्ट होने का भी भय रहता है क्योंकि खाद प्रत्येक भूमि के लिए समान रूप से मुआफिक नहीं होता। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए भारत में ६५ भूमि-परीक्षण सम्बन्धी प्रयोगशालाएँ स्थापित की गयी हैं जो प्रति वर्ष लगभग ११ लाख नमूनों का परीक्षण कर अपनी राय देने की क्षमता रखती हैं। अभी तक इस सुविधा का पूरा लाभ नहीं उठाया जा रहा है।

चतुर्थ योजना काल में शहरी गंदगी को कम्पोस्ट खाद में बदलने के लिए मशीनें लगायी जायेंगी। उस खाद का कृषि विकास में लाभदायक प्रयोग किया जा सकेगा।

बीज—सुधरे हुए बीजों की उपज करने के लिए १९६३ में राष्ट्रीय बीज निगम की स्थापना की गयी थी। बीज निगम सुधरी हुई प्रारम्भिक किस्म उत्पन्न कर अन्य उत्पादकों को बाँट देता है। चतुर्थ योजना काल में लगभग १४० हेक्टर भूमि में प्रारम्भिक बीज उत्पन्न करने की योजना है।

बीज उत्पन्न करने के लिए प्रथम योजना काल में ही सरकारी भूमि खण्डों को निर्धारित किया गया था। चतुर्थ योजना काल में तराई बीज विकास परियोजना पूरी करने का लक्ष्य है। इस योजना में १६००० हेक्टर भूमि में प्रति वर्ष लगभग ५६००० टन उन्नत किस्म का बीज उत्पन्न किया जायगा। यह परियोजना १९७३ में पूरी हो जायगी।

चतुर्थ योजना मे लगभग ७ करोड़ हेक्टर भूमि में सुधरे हुए बीजों द्वारा उपज प्राप्त करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है।

निगम - मशीनें आदि के लिए—किसानों तथा अन्य खेती करने वालों को खेती के औजार तथा मशीनें पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध कराने के लिए १५ राज्यों में कृषि-उद्योग निगम (Agro-Industries Corporations) स्थापित किये गये है। इनमें केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों की पूँजी लगायी गयी है। इनका मुख्य उद्देश्य कृषि मशीनों की पूर्ति तथा मरम्मत की व्यवस्था करना है। इन निगमों का काम ट्रैक्टरों तथा कृषि मशीनों के हिस्से वितरित करना है।

वर्तमान में कृषि मशीनों की पर्याप्त माँग है। १९७४ में ट्रैक्टरों की माँग १ लाख वार्षिक तक बढ़ जाने की आशा है। ट्रैक्टरों की उत्पत्ति बढ़ाने के लिए पहिये वाले ट्रैक्टर बनाने वाले उद्योग को लाइसेंस की शर्त से मुक्त कर दिया गया है। हिसार और बदनी में ट्रैक्टर प्रशिक्षण केन्द्र खोले गये है और उनका विस्तार किया जा रहा है। अनेक सहायक प्रशिक्षण केन्द्र खोलने की व्यवस्था की जा रही है।

पौध संरक्षण—कृषि की एक अत्यन्त गम्भीर समस्या यह है कि बहुत बार पौधों को कीड़े या बीमारियाँ लग जाती हैं। इसके लिए पहली व्यवस्था यह की गयी है कि बीज को ही ऐसे रसायनों से युक्त कर दिया जाता है कि उसमें कीड़े नहीं लग सकते। जन्तुनाशक दवाओं का छिड़काव भी किया जाता है।

पौधों में जंगली तथा अनावश्यक झाड़ियाँ भी उग आती है। इनको नष्ट करने के लिए रसायनों का निर्माण किया गया है। चतुर्थ योजना में २० लाख हेक्टर भूमि में जगली पौधों को नष्ट करने की व्यवस्था की गयी है।

लघु सिंचाई योजना—खेती की उपज में वृद्धि के लिए पर्याप्त मात्रा में जल की आवश्यकता होती है। इसके लिए पम्पिंग सेट, ट्यूब वैल आदि लघु सिंचाई

योजना के अन्तर्गत आते हैं। १९६८-६९ तक लगभग २ करोड़ हेक्टर भूमि में लघु योजनाओं द्वारा सिंचाई हो रही थी। १९७४ तक लघु सिंचाई योजनाओं से ४८ लाख हेक्टर नयी भूमि को जल मिलना सम्भव हो सकेगा।

ऋण—कृषि विकास के लिए अधिक उदार शर्तों पर पर्याप्त मात्रा में ऋण मिलना भी बहुत आवश्यक है। भारतीय किसान अब तक साहूकार के चंगुल में रहा है जिससे निकलना बहुत कठिन है।

किसानों को ऋण देने के लिए सहकारी साख संस्थाओं का संगठन किया गया है जो १९६८-६९ में कृषि के लिए ४५० करोड़ रुपया वार्षिक ऋण दे रही थीं। चतुर्थ योजना के अन्तिम वर्ष में यह समितियाँ ७५० करोड़ रुपया वार्षिक उधार देने लगेंगी।

व्यापारिक बैंक भी कृषि को अधिक मात्रा में ऋण देने लगे हैं। जून १९६९ तक इनके द्वारा कृषि को केवल ५४ करोड़ रुपये के ऋण दिये हुए थे, किन्तु १९७४ तक यह राशि ४०० करोड़ रुपये तक पहुँच जायगी।

१९६३ में **कृषि पुनर्वित्त निगम** की स्थापना की गयी थी जो कृषि के लिए उधार देने वाली संस्थाओं के लिए पुनर्वित्त की व्यवस्था करता है। १९६८-६९ तक पुनर्वित्त निगम कृषि विकास की २३३ योजनाओं के लिए पुनर्वित्त की व्यवस्था कर चुका था जिसकी राशि १५६ करोड़ रुपये थी। इनमें से अधिकांश योजनाएँ लघु सिंचाई से सम्बन्धित हैं।

१९६८ में व्यापारिक बैंकों ने एक कृषि वित्त निगम स्थापित किया है जो खेती के विकास के लिए प्रत्यक्ष ऋण देता है।

इस प्रकार कृषि के लिए वित्त व्यवस्था करने की दृष्टि से संस्थाओं का एक जाल सा बिछ गया है जो विभिन्न कार्यों के लिए सरल ऋण देने की व्यवस्था करती हैं।

(६) **गोदाम व्यवस्था**—भारतीय कृषि की एक गम्भीर समस्या यह रही है कि खेती के पदार्थों को सुरक्षित रखने के लिए गोदामों का अभाव रहा है जिससे बहुत सा माल खराब होता रहा है। अच्छे गोदामों की व्यवस्था करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने केन्द्रीय गोदाम निगम तथा राज्य सरकारों ने राज्य गोदाम निगम बनाये हैं। १९६८-६९ के देश में लगभग १ करोड़ टन माल सुरक्षित रखने के लिए बढ़िया गोदाम थे। चतुर्थ योजना में केन्द्रीय गोदाम निगम के लिए १२ करोड़ रुपये तथा राज्यों के गोदामों के लिए ६ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गयी है जिससे १० लाख टन अतिरिक्त माल सुरक्षित रखने के लिए गोदाम बनाये जा सकेंगे।

सहकारी संस्थाएँ भी माल सुरक्षित रखने के लिए गोदाम बनवाने का कार्य करती हैं। १९६८-६९ में सहकारी संस्थाओं के स्वामित्व में २६ लाख टन माल रखने लायक गोदाम थे। १९७४ तक इन संस्थाओं के पास कुल ४६ लाख टन

माल रखने लायक गोदाम हो जायेंगे। इस प्रकार नयी कृषि नीति में माल को सुरक्षित रखने पर विशेष ध्यान दिया गया है।

(७) **कृषि विक्री व्यवस्था**—भारतीय किसान अपनी उपज का बहुत सा भाग गाँव में ही वेच देता है क्योंकि मण्डियों में महाजन आदि माल खरीदने में बहुत सी अवांछनीय क्रियाएँ करते है जिनसे किसानों को अपनी उपज का पूरा मूल्य नहीं मिलता। इस व्यवस्था में सुधार के लिए व्यवस्थित एवं संगठित मण्डियों की स्थापना की गयी है जिनमें खरीद और विक्री की क्रियाओं का नियन्त्रण सरकार द्वारा किया जाता है। इस प्रकार की मण्डियाँ नियन्त्रित मण्डियाँ कहलाती हैं।

भारत में ६ राज्यों में मण्डी नियन्त्रण सम्वन्धी कानून लागू है जिनके अधीन लगभग १६०० मण्डियों का नियन्त्रण होता है। अभी लगभग १३०० मण्डियाँ सरकारी नियन्त्रण से मुक्त हैं। इन मण्डियों को सरकारी नियन्त्रण में लाने के लिए अन्य राज्यों में भी कानून पास किये जा रहे हैं। सभी मण्डियाँ सरकारी नियन्त्रण में आने से वाजार में माल की कमी नही रहेगी, मूल्यों में अधिक उतार-चढ़ाव नहीं होंगे तथा किसानों को उचित मूल्य मिल सकेगा।

(८) **मूल्यों की गारन्टी**—कभी-कभी अच्छी फसल हो जाने से मूल्य वहुत अधिक गिर जाने का भय रहता है जिससे किसानों को हानि होती है और भविष्य में वह वस्तुएँ उत्पन्न करने का उत्साह नही रहता। इसलिए राज्य सरकारें प्रति वर्ष न्यूनतम कीमत की गारन्टी देती है जिसके अनुसार यदि वाजार में कीमत निर्धारित दर से कम हो जाय तो सरकार निर्धारित दर पर माल खरीदने के लिए वाध्य रहती है। पिछले ५-६ वर्षों से खाद्यान्न, गन्ना, पटसन, रूई आदि वस्तुओं के मूल्यों की सरकार द्वारा घोषणा की जाती है। इन वस्तुओं के मूल्य निर्धारित मूल्य से नीचे नही गिर सकते क्योंकि निर्धारित भाव से कम होने पर सरकार उन वस्तुओं को खरीदने लगती है।

भारत में खाद्यान्न खरीदने के लिए **खाद्यान्न निगम** वनाया गया है जो प्रति वर्ष कुछ खाद्यान्न भण्डार वनाने के लिए निश्चित मूल्य पर खरीदता है।

गहन कृषि जिला कार्यक्रम

(Intensive Agricultural District Programme)

यह कार्यक्रम १६६०-६१ में आन्ध्र प्रदेश, विहार, मद्रास, मध्य प्रदेश, पंजाव, राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश के सात जिलों में लागू किया गया था। इसके वाद १६६२-६३ में छह तथा १६६३-६४ में तीन और जिले इस कार्यक्रम में शामिल कर लिए गये हैं। सन् १६६५-६६ तक यह कार्यक्रम देश में ३०८ विकास खण्डों पर लागू था, जिनका क्षेत्रफल देश में कुल जोती जाने वाली भूमि का ५% था। इन सभी जिलों को फोर्ड फाउण्डेशन की सहायता से विकसित किया जा रहा है। हिमाचल प्रदेश का एक जिला पश्चिमी जर्मनी की सहायता प्राप्त कर रहा है।

उल्लेखनीय तत्त्व—गहन कृषि कार्यक्रम से तात्पर्य यह है कि जिन क्षेत्रों में भूमि अच्छी है तथा सिचाई की सुविधाएँ पर्याप्त है वहाँ अधिक शक्ति और श्रम की सहायता से कृषि विकास किया जाना चाहिए। जिन क्षेत्रों में गहन कृषि कार्यक्रम आरम्भ किये गये हैं वहाँ कुछ विशेष बातों पर ध्यान देना बहुत आवश्यक है :

(क) कृषि विकास में पंचायतों का अधिकाधिक सहयोग प्राप्त करना चाहिए।

(ख) प्रत्येक गाँव के लिए कृषि उत्पादन योजना बनानी चाहिए ताकि प्रत्येक किसान के लिए भी उत्पादन लक्ष्य निर्धारित किये जा सकें।

(ग) सहकारी आन्दोलन में सम्पूर्ण गाँव को सम्मिलित कर उसे सबल बनाना चाहिए।

(घ) पशु-पालन तथा दुग्ध-वितरण के कार्यक्रम को विकसित करना चाहिए।

(ङ) प्रत्येक क्षेत्र के लिए फसल योजनाएँ बनायी जानी चाहिए और इन फसल योजनाओं को कृषि योजना से संग्रथित करना चाहिए।

(च) कृषि से सम्बन्धित कार्यक्रम (भूमि-सुधार, वनरोपण, सिंचाई आदि) आरम्भ किये जाने चाहिए।

सन् १९६६-६७ में यह कार्यक्रम १८ जिलों मे लागू था। सन् १९६५-६६ में व १९६६-६७ में इस कार्यक्रम के अन्तर्गत क्रमशः २९ लाख हेक्टर्स व ३२ लाख हेक्टर्स भूमि थी।

गहन कृषि क्षेत्रीय कार्यक्रम

(Intensive Agricultural Area Programme)

यह कार्यक्रम तृतीय पंचवर्षीय योजना काल में आरम्भ किया गया। कार्यक्रम, सर्वप्रथम सन् १९६४ में देश में चुने हुए जिलों के कुछ विकास खण्डों में प्रारम्भ किया गया। इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण देश के ७२ जिलों में ६४६ विकास-खण्ड धान की खेती के लिए, ५४ जिलों में ३५६ विकास खण्ड ज्वार-बाजरे की खेती के लिए, ३० जिलों में २०० विकास खण्ड गेहूँ की खेती के लिए चुने गये है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत भी खेती सम्बन्धी विकास कार्य गहन कृषि जिला कार्यक्रम की ही भाँति चलाये जाते हैं। दोनों कार्यक्रमों में प्रमुख अन्तर यह है कि विकास कार्य 'गहन कृषि क्षेत्रीय कार्यक्रम' के अन्तर्गत 'गहन कृषि जिला कार्यक्रम' की अपेक्षा छोटे पैमाने पर चलाये जाते हैं तथा इनमें अपेक्षाकृत व्यय कम होता है। चतुर्थ योजना काल में सम्पूर्ण IADP तथा IAAP क्षेत्रों में कृषि के उन्नत तरीकों तथा सभी फसलों के उन्नत बीजों का प्रयोग करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है।

कृषि शिक्षा तथा शोध

[AGRICULTURAL EDUCATION AND RESEARCH]

देश में कृषि विकास की उन्नति करने के लिए कृषि कार्य में शोध करना बहुत आवश्यक है ताकि उत्पादन तथा विकास की नवीनतम पद्धति का प्रयोग किया जा सके। इसके लिए विद्यालय शोध संस्थान आदि स्थापित करना आवश्यक है।

द्वितीय योजना के अन्त तक भारत में कृषि कॉलेजों की संख्या ५३ थी, जिनमें प्रति वर्ष ५,६०० विद्यार्थी प्रशिक्षित होते थे। तृतीय योजना के अन्त तक इनकी संख्या ५७ और शिक्षण क्षमता ६,२०० विद्यार्थी प्रति वर्ष करने का प्रावधान था परन्तु कुछ निजी कॉलेज स्थापित होने के कारण अब कृषि कॉलेजों की संख्या ६५ हो गयी है, जिनमें ७,५०० विद्यार्थी प्रति वर्ष प्रशिक्षित हो रहे हैं। इसके अतिरिक्त देश में ६ कृषि विश्वविद्यालय स्थापित किये जा चुके है जिनमें **पन्तनगर** (उत्तर प्रदेश), **लुधियाना** (पंजाब), **उदयपुर** (राजस्थान) तथा **भुवनेश्वर** (उड़ीसा) कृषि विश्वविद्यालय मुख्य है। चतुर्थ योजना में इन विश्वविद्यालयों के साधन तथा क्रियाशीलता में वृद्धि की जायगी तथा चार नये कृषि विश्वविद्यालय स्थापित किये जायेंगे। इन विश्वविद्यालयों में कृषि अनुसन्धान कार्यक्रमों को विशेष प्रोत्साहन देने की व्यवस्था है।

भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद्, भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्था तथा विभिन्न वस्तुओं से सम्बन्धित समितियों के द्वारा कृषि सम्बन्धी शोध कार्य किया जा रहा है। इन अनुसन्धानों के फलस्वरूप चावल तथा गेहूँ की नयी किस्में ज्ञात की गयी हैं, तथा ज्वार, बाजार और दालों पर किये गये प्रयोग बहुत सफल रहे हैं। मक्का की कई सुधरी हुई किस्मों की खेती आरम्भ हो चुकी है। रुई, तिलहन, पटसन, तम्बाकू तथा मसालों पर शोध कार्य चालू है तथा फसलों के रोग दूर करने सम्बन्धी अनुसन्धानों की गति तीव्र कर दी गयी है।

उपसंहार—भारत सरकार देश में समाजवादी अथवा लोकतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना करना चाहती है, जिसका तात्पर्य यह है कि जनता के सामान्य अधिकार न छीनते हुए एक शोषणहीन समाज का निर्माण किया जायेगा। जहाँ तक कृषि का प्रश्न है, शोषण के यन्त्र जमींदार को अधिकारहीन कर दिया गया है और भूमि किसान की हो गयी है। सरकार सामान्यतः कृषि कार्यों में किसी प्रकार का आदेश नहीं देती, न ही हस्तक्षेप करती है। जिन मदों में किसान को कठिनाई होती है उनमें सरकार विस्तृत सहायता देने का प्रयत्न कर रही है।

इस प्रकार सामुदायिक विकास योजनाओं, पंचायत राज तथा सरकारी समितियों की समन्वयात्मक नीति के आधार पर कृषि विकास किया जा रहा है और जहाँ जितनी आवश्यकता है वहाँ उतना धन, प्राविधिक ज्ञान अथवा उपकरण उपलब्ध कराने का प्रयत्न किया जाता है। यह नीति लोकतान्त्रिक समाजवाद तथा जन-जन की भावना के सर्वथा अनुकूल एवं आदर्श है। यदि सरकार अपनी प्रशासन व्यवस्था को तनिक कुशल बनाकर घोषित सहायता यथासमय एवं जरूरतमन्द व्यक्ति को देने का प्रबन्ध कर सके तो देश की कृषि को जड़ता के दलदल से निकालकर समृद्ध करने में कोई समय नही लगेगा और यह धरती पुनः 'सुजला सुफला शश्य श्यामला' बन सकेगी, इसमें तनिक भी सन्देह नही है।

यन्त्रीकृत कृषि
[MACHINIZED AGRICULTURE]

आजकल एक नया विवाद उत्पन्न हो गया है कि भारतीय कृषि का यन्त्रीकरण किया जाय या नहीं। इस सम्बन्ध में कुछ व्यक्तियों का यह मत है कि अन्य विकसित देशों की भाँति भारत में गहन खेती की जानी चाहिए, उसमें अधिकाधिक रासायनिक खाद का प्रयोग किया जाना चाहिए तथा खेती करने में ट्रैक्टर तथा अन्य यन्त्रों का सहयोग प्राप्त करना चाहिए। इससे खेती की उपज में अत्यधिक वृद्धि सम्भव हो सकेगी और देश की कृषि दरिद्रता के दलदल से निकलकर सम्पन्नता का सुख प्राप्त कर सकेगी।

यन्त्रीकरण आवश्यक

इसके विपरीत, एक दूसरा वर्ग है जो भारतीय कृषि के यन्त्रीकरण करने के पक्ष में नहीं है। इस वर्ग का विचार है कि यन्त्रीकरण भारतीय कृषि के लिए हितकर नहीं होगा। इस पक्ष के तर्क निम्नलिखित हैं :

(१) **महँगा**—यन्त्रीकरण भारतीय कृषि के लिए बहुत महँगा पड़ेगा क्योंकि एक ट्रैक्टर का कम से कम मूल्य १०,००० रुपये है। कृषि कार्यों में इसका प्रयोग २-३ महीने से अधिक नहीं होगा अतः शेष समय में इतनी महँगी वस्तु बेकार पड़ी रहेगी। यदि सरकारी समितियों द्वारा भी ट्रैक्टर दिये जायें अथवा सहकारी आधार पर ट्रैक्टर खरीदे जायें तो भी वह बहुत महँगे पड़ेंगे।

यन्त्रीकरण एक और दृष्टि से भी महँगा पड़ेगा। ट्रैक्टर चलाने के लिए पैट्रोल तथा डीजल तेल की आवश्यकता पड़ती है जो भारत में अमरीका से दुगुना महँगा है। इसके अतिरिक्त, भारत में न तो ट्रैक्टर यथेष्ट संख्या में निर्मित होते हैं और न ही यथेष्ट मात्रा में तेल तथा पैट्रोल उपलब्ध होता है। अतः खेती में प्रयोग करने के लिए इन्हें अधिक मात्रा में आयात करना पड़ेगा जिससे देश को विदेशी विनिमय की स्थिति में अधिक कठिनाई उत्पन्न होगी।

(२) **टूट-फूट की मरम्मत**—कृषि का यन्त्रीकरण करने से एक अन्य कठिनाई का सामना करना पड़ेगा, वह यह है कि ट्रैक्टरों के खराब होने पर उन्हें नगर में मरम्मत के लिए ले जाना बहुत असुविधाजनक होगा क्योंकि देश के प्रत्येक भाग में तो ट्रैक्टर अथवा अन्य यन्त्रों की मरम्मत करने के लिए मिस्त्रीखाने स्थापित करना सम्भव नहीं होगा।

(३) **ट्रैक्टर बनाम बैल**—उपर्युक्त कठिनाइयों के अतिरिक्त ट्रैक्टर बैल की भाँति गोबर या मूत्र की खाद नहीं देता अतः किसानों को खाद सम्पूर्ण रूप से अलग से ख़रीदनी होगी। रासायनिक खाद गोबर की अपेक्षा बहुत महँगी भी है तथा देश की सम्पूर्ण भूमि के लिए उसकी पूर्ति भी पर्याप्त नहीं है। यदि आवश्यक मात्रा में रासायनिक खाद भी विदेशों से आयात की जाय तो इसका तात्पर्य यह होगा कि **यन्त्रीकरण पूर्णतः विदेशी साधनों द्वारा ही सम्पन्न किया जा सकेगा** क्योंकि ट्रैक्टर

पैट्रोल, डीजल तेल तथा रासायनिक खाद विदेशों से आयात करने पड़ेगे। इससे देश की विदेशी भुगतान स्थिति पर अत्यधिक भार पड़ने की आशंका है।

(४) **प्रयोग हानिकारक**—कृषि विशेषज्ञों का यह मत है कि ट्रैक्टर भूमि को अत्यधिक गहरा खोद देता है और भूमि में स्थित फंगी तथा वैक्टीरिया जैसे उपजाऊ तत्त्वों का नाश कर देता है। इसके एक-दो बार में ही भूमि की सम्पूर्ण जीवन शक्ति समाप्त हो जाती है, फलतः उसे पुनर्जीवन देने के लिए हर बार पहले से अधिक खाद देने की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार भूमि पर खेती करना निरन्तर अधिक खर्चीला काम होता जाता है।

(५) **कम फसलें**—रिचर्ट ग्रेग का मत है कि भूमि जीवन शक्ति बनाये रखने के लिए प्रायः कई प्रकार की फसलें एक साथ (उदाहरणतः अन्न के साथ दालें) बोयी जाती है जिससे एक फसल द्वारा नष्ट किये गये तत्त्वों की पूर्ति दूसरी फसल द्वारा दिये गये तत्त्वों से हो जाती है। यह क्रम यन्त्रीकृत कृषि-व्यवस्था के अन्तर्गत सम्भव नही है क्योंकि इसकी व्यवस्थानुसार एक वहुत बड़े खेत में एक ही प्रकार की फसल बोयी जाती है जिससे भूमि निर्वल हो जाती है और उसमें विनाशकारी जीव-जन्तु तथा कीटाणु उत्पन्न हो जाते है।

(६) **प्रयोग में कठिनाई**—जैसा कि इससे पूर्व लिखा जा चुका है, भारत में अधिकाश खेत वहुत छोटे है अतः उनमें ट्रैक्टरों द्वारा खेती तथा अन्य यन्त्रों द्वारा फसल की कटाई न तो सम्भव ही है और न उपयुक्त। अतः भारतीय कृषि में यन्त्रीकरण अपनाना उपादेय नहीं कहा जा सकता।

(७) **अत्यधिक बरबादी**—यन्त्रीकृत खेती के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि फसल को काटने वाले यन्त्र-उपकरण फसल का पूरा भाग काट लेने में समर्थ नहीं है। उनके द्वारा फसल का कुछ भाग सदा पौधों पर ही छूट जाता है जिससे कृषक को हानि होती है।

(८) **वेरोजगार**—भारत जैसे जनाधिक्य वाले देश में यन्त्रीकृत खेती अपनाने का तात्पर्य यह होगा कि देश के वहुत से किसान वेरोजगार हो जायेंगे। जब तक अतिरिक्त व्यक्तियों के लिए रोजगार की व्यवस्था न की जाय, यन्त्रीकरण करना सर्वथा अनुचित होगा।

यन्त्रीकरण के लाभ

रासायनिक खाद तथा यन्त्रीकरण के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि इनके सहयोग से कृषि उत्पादन में आशातीत वृद्धि की जा सकती है और इस प्रकार खाद्यान्न तथा कच्चे माल की कमी का अन्त किया जा सकता है। यह वात सैद्धान्तिक दृष्टि से सही हो सकती है किन्तु वास्तव में सर्वथा सत्य नही है।

कीटाणु एवं रोगों से मुक्ति—यन्त्रचालित कृषि एवं रसायनों के प्रयोग के सम्वन्ध मे दूसरा प्रचलित भ्रम यह है कि इनकी सहायता से फसलो के रोग तथा

कीटाणुओं को नष्ट किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के कृपिशास्त्र के डीन फ्रीबोर्न का मत उल्लेखनीय है। उनका कथन है :

"कीटाणुओं को नष्ट करने वाले रसायनों का निरन्तर प्रयोग करते रहने पर भी अमरीका में कीड़ों तथा कीटाणुओं द्वारा प्रति वर्ष लगभग ४ अरब डालर मूल्य की फसलें नष्ट कर दी जाती हैं। इसके अतिरिक्त फंगी तथा अन्य रोग भी लगभग ४ अरब डालर मूल्य की फसलें नष्ट करने के लिए उत्तरदायी हैं।"

इससे स्पष्ट है कि रासयनिक खाद तथा रसायन तत्त्व कृषि फसलों की उत्पत्ति तथा विकास के लिए बहुत उपयोगी नहीं हैं और वह प्राकृतिक विनास को रोकने में विशेष सफल नहीं हो सके हैं। इसके विपरीत, रसायन तथा यन्त्रीकृत उपकरणों द्वारा उत्पन्न पदार्थ स्वास्थ्य की दृष्टि से उतने उपयोगी तथा पुष्टिकारक नहीं होते जितने कि प्राकृतिक रीतियों द्वारा उत्पन्न पदार्थ होते हैं।

कौन-सा मार्ग उचित है ?—ऊपर दिये विचारों से स्पष्ट है कि भारत की परिस्थितियों एवं साधनों का ध्यान रखने हुए भारत के लिए कृपि की प्राकृतिक रीतियों का प्रयोग करना ही अधिक उचित है। जहाँ तक उत्पादन में वृद्धि करने का प्रश्न है, **उत्तम बीज, कम्पोस्ट तथा गोबर की खाद, फसलों के अदल-बदल, भू शक्ति के ह्रास में रोक** तथा सिंचाई की यथेष्ट सुविधाओं के द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति की जा सकती है।

चेस्टर बोल्स का कथन है कि जापान में प्रत्येक व्यक्ति हाथ से खेती करता है और यह कार्य इस सावधानी से किया जाता है कि कोई भी पौधा नष्ट नहीं हो सकता। फलतः **जापान में प्रति एकड़ उत्पादन अमरीका से अधिक है।** आगे चलकर वह कहते हैं कि भारत में, **"जब तक स्थानीय उद्योग का विकास सम्पूर्ण ग्रामीण जनता को रोजगार देने लायक न हो जाय, कृषि का यन्त्रीकरण, जिसका मुख्य उद्देश्य श्रम में बचत करना होता है, अधिकांश क्षेत्रों में अनार्थिक प्रमाणित होगा। बैलों की एक अच्छी जोड़ी को अतिरिक्त पुर्जों तथा गेसोलीन की आवश्यकता नहीं होती, उसके खराब होने का भय बहुत कम होता है तथा वह प्रचुर मात्रा में खाद उत्पन्न करती है।"**

बोल्स के शब्दों में, भारतीय ग्रामीण अर्थतन्त्र का वास्तविक समाधान उभरता हुआ प्रकट होता है। सावधानीपूर्वक जापानी अनुकरण से की गयी खेती भारत के निर्धन, अशिक्षित, किन्तु परिश्रमी किसान के लिए निश्चय ही अधिक उपयुक्त है और यदि उसे कृपि सम्बन्धी सामान्य सुविधाएँ सुलभ करा दी जायें तो वह निश्चय ही अपना और देश का भाग्य बदल सकता है।

फसलों का बीमा
[CROP INSURANCE]

अमरीका, ब्रिटेन तथा कुछ अन्य देशों में फसल के बीमा की व्यवस्था है।

इसका तात्पर्य यह है कि बीमा कम्पनी किसान को फसल की एक निश्चित मात्रा की गारण्टी देती है और फसल कम होने पर उसकी क्षति-पूर्ति करती है। इस गारण्टी के लिए किसान कुछ बीमा शुल्क देने का उत्तरदायी होता है।

भारत मे फसलो के बीमे की प्रथा प्रचलित नही है क्योंकि :

(१) फसलें मानसून के कारण अनिश्चित रहती है,

(२) सिचाई सुविधाओं का अभाव है,

(३) कृपि-पद्धतियाँ यथेष्ट विकसित नही हैं,

(४) कृषि एक व्यवसाय न होकर केवल जीवन-निर्वाह का साधन है, और

(५) किसान निर्धन है, उसे बीमा का शुल्क (premium) चुकाने में बहुत कठिनाई होती है।

पंजाब में प्रयोग—उपर्युक्त सब कठिनाइयों के होते हुए भी पजाब मे फसल बीमा योजना लागू की गयी है। यह योजना प्रारम्भ मे केवल ६ जिलों मे १२ केन्द्रों में प्रयोगात्मक रूप में संचालित की जा रही है। इन केन्द्रों में १००-१०० ग्राम है और अधिकतर विकास खन्डों में है। आगामी दो वर्षो में ६ जिले और सम्मिलित करने का कार्यक्रम निश्चित किया गया है। प्रारम्भ में बीमा योजना केवल चार फसलों अर्थात् गेहूँ, चना, रुई तथा गन्ने पर लागू की गयी है और यह लागू किये जाने वाले क्षेत्रों के लिए **अनिवार्य** है। इस योजना द्वारा बाढ़, ओले, सूखा, टिड्डी दल अथवा अन्य जीव-जन्तु तथा मनुष्य के नियन्त्रण मे न होने वाली प्रत्येक दुर्घटना के वरुद्ध बीमा किया गया है और सरकार इन घटनाओं से उत्पन्न हानियों की क्षति-पूर्ति करने के लिए उत्तरदायी है।

क्षति-पूर्ति—सरकार केवल उन परिस्थितियों मे क्षति-पूर्ति की व्यवस्था करेगी जबकि बीमा किये गये केन्द्र की फसल की औसत उत्पत्ति प्रमाणित उत्पत्ति के ७५ प्रतिशत से भी कम होगी। प्रत्येक किसान को अपनी सारी भूमि (जिसमें फसल बोयी गयी है) का बीमा करवाना पड़ेगा और निर्धारित शुल्क चुकाने पड़ेंगे। प्रारम्भ में प्रत्येक क्षेत्र का पाँच वर्ष के लिए बीमा किया जायगा। भारत सरकार इस योजना पर आने वाली कुल लागत का ५० प्रतिशत वहन करेगी।

पंजाब में भाकरा नहरों के कारण अधिकांश कृपि-योग्य भूमि सिचाई के अन्तर्गत आ गयी है और वहाँ की कृषि अन्य राज्यों की तुलना में अधिक विकसित भी है। अतः सिचाई वाले क्षेत्रों में फसल बीमा योजना लागू करने में विशेष जोखिम नहीं है। देश के अन्य भागों में यह योजना लागू करने से पूर्व बहुत-सी सुविधाओं की व्यवस्था करना आवश्यक होगा।

अभ्यास प्रश्न

१. भारतीय कृपि की विशेषताएँ लिखिए। उसमें राज्य का हस्तक्षेप क्यों आवश्यक है?

२. योजना काल में भारतीय कृषि नीति की मुख्य प्रवृत्तियों का विवेचन कीजिए।

३. नयी कृषि नीति से क्या तात्पर्य है? उसके मूल तत्त्वों का संक्षिप्त ब्यौरा दीजिए।

४. भारत में हरित क्रान्ति पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए।
(संकेत : नयी कृषि नीति के कारण ही हरित क्रान्ति हुई है, इसमें उत्पादन सम्बन्धी सभी बातें लिखिए)

५. टिप्पणी लिखिए :
फसल बीमा, गहन जिला कृषि कार्यक्रम, गहन कृषि क्षेत्रीय कार्यक्रम।

११ राज्य और उद्योग

(STATE AND INDUSTRY)

मुक्त व्यवस्था क्यों ?

प्राचीन अर्थशास्त्रियों का मत था कि सरकार को आर्थिक कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। उद्योग तथा व्यवसाय की स्थापना तथा विकास लोगों के मुक्त साहस पर छोड़ देना चाहिए। किन्तु उस समय के शासक राजा, महाराजा या नवाब होते थे। उनका जनता के प्रति कोई उत्तरदायित्व नहीं होता था क्योंकि उनका चुनाव जनता द्वारा नहीं किया जाता था। ये शासक अपने आपको ईश्वर का प्रतिनिधि समझते थे, इसलिए जनता के लाभ के लिए इनका कोई उत्तरदायित्व नहीं था। अतः जो कुछ व्यवसाय या उद्योग स्थापित होते थे वह जनता के प्रयत्न से ही होते थे।

बदलती हुई स्थिति—वर्तमान युग में परिस्थितियाँ बदल गयी हैं। संसार के प्रायः सभी देशों में राजाओं, महाराजाओं या नवाबों का शासन समाप्त हो गया है। अधिकांश देशों में जनता द्वारा चुने हुये शासक हैं जो चुनाव से पहले विभिन्न प्रकार के वायदे करते हैं। इन वायदों को पूरा करना उन व्यक्तियों का कर्त्तव्य होता है। इस दृष्टि से प्रजातन्त्रवादी शासन में सरकार को वह सब कार्य करने पड़ते हैं जो जनता के आर्थिक कल्याण के लिए आवश्यक हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार को न केवल औद्योगिक विकास में हस्तक्षेप करना पड़ता है बल्कि उसमें सक्रिय सहयोग देना पड़ता है।

भारत में उद्योगों की स्थिति और महत्त्व

जिस समय भारत स्वतन्त्र हुआ था, हमारी औद्योगिक स्थिति बहुत खराब थी। देश में उद्योगों का प्रायः अभाव था। यह कहा जाता है कि उस समय देश में इस्पात का एक श्रेष्ठ पिन भी नहीं बनता था। पटसन तथा वस्त्र बनाने की अनेक

औद्योगिक इकाइयाँ थीं जिनमें से अधिकतर पर विदेशियों का स्वामित्व था। सरकार की कोई औद्योगिक नीति नहीं थी।

किन्तु आजादी के बाद सरकार ने भारत के औद्योगिक विकास को विशेष महत्त्व दिया जिसके निम्नलिखित कारण हैं :

(१) **विकास का वातावरण**—जब देश में उद्योगों की स्थापना की जाती है तो विकास का वातावरण बनता है, देश में कुछ आर्थिक हलचल होती है, लोग सक्रिय होते हैं, पूँजी का आवागमन आरम्भ होता है और ऐसा लगता है कि जनता नींद से जाग रही है। यह हलचल और सक्रियता देश के कुल विकास के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण होती है।

(२) **कृषि विकास**—वर्तमान युग में पुराने ढंग की रूढ़िवादी खेती को पसन्द नहीं किया जाता। ट्रैक्टर, पम्पिग सेट, ट्यूब वैल, फसल बोने और काटने की मशीनें तथा रासायनिक खाद और जन्तुनाशक पदार्थों का प्रयोग अब साधारण हो गया है। प्रश्न यह है कि यह सब साधन कहाँ से प्राप्त होते हैं ? सभी प्रकार की मशीनें, कल-पुर्जे तथा खाद और जन्तुनाशक औषधियाँ आधुनिक ढंग के कारखानों में बनायी जाती हैं। अतः खेती के आधुनिकीकरण तथा तीव्र विकास के लिए उद्योगों का विकास अत्यन्त आवश्यक है।

(३) **रोजगार**—भारत जैसे देश में, जहाँ खेती पहले ही अलाभदायक है, बेरोजगारी की समस्या अत्यन्त गम्भीर है। खेती में अधिक व्यक्तियों को रोजगार देना सम्भव भी नहीं है। अतः अधिक व्यक्तियों को रोजगार देने के लिए बड़े, मध्यम आकार के तथा लघु उद्योग काफी संख्या में स्थापित करना आवश्यक है।

(४) **आय में वृद्धि**—उद्योगों के विकास में प्रायः मशीन तथा बिजली का प्रयोग किया जाता है जिससे उत्पादन तेजी से बढ़ता है। इससे राष्ट्रीय आय में भी तेजी से वृद्धि होती है। अन्य क्षेत्रों का विकास धीमा होता है और उनसे आय में विशेष वृद्धि नही होती।

(५) **सामाजिक चेतना**—उद्योगों की स्थापना और विकास के कारण देश के विभिन्न भागों में रहने वाले व्यक्ति (मजदूर और अधिकारी) काम करने के लिए एक स्थान पर मिलते हैं। इससे समाज के विभिन्न वर्गों, जातियों, धर्मो, सम्प्रदायों आदि के व्यक्तियों को आपस में मिलने और रहने का अवसर मिलता है। परिणामस्वरूप राष्ट्रीय एकता सबल होती है और "हम सब एक देश के नागरिक हैं" इस तथ्य की चेतना बढ़ती रहती है।

(६) **सरकार की कर्त्तव्यनिष्ठा में वृद्धि**—औद्योगिक विकास का क्रम जब आरम्भ होता है तो परिवहन के साधनों की आवश्यकता बढ़ती है, सड़क, बिजली, पानी तथा चिकित्सा की सुविधाओं की आवश्यकता बढ़ती है और इन आवश्यकताओं के प्रति सरकार को बार-बार सजग किया जाता है। इस प्रकार सरकार, जो पहले समाज की आवश्यकताओं के प्रति विशेष जागरूक और क्रियाशील नहीं थी,

औद्योगिक विकास के कारण अधिक सजग, सतर्क और सक्रिय हो जाती है। इस प्रकार औद्योगिक विकास सरकारी प्रशासन को निष्क्रिय नही रहने देता। उद्योगों की नित नयी उठने वाली समस्याएँ सरकार को भी अधिक क्रान्तिकारी नीतियाँ अपनाने के लिए बाध्य कर देती है।

औद्योगिक विकास के लिए सरकारी हस्तक्षेप क्यों और कितना ?

भारत मे प्रजातान्त्रिक समाजवाद की स्थापना का निश्चय किया गया है। अत सरकारी नीतियों मे एक ओर तो जन-भावना का ध्यान रखा जाना आवश्यक है, दूसरी आर आर्थिक विषमता तथा प्रादेशिक असन्तुलनों को कम करना अनिवार्य है। इन उद्देश्यो की सफलता के लिए सरकार को सक्रियता से कदम उठाने पड़ेंगे और औद्योगिक विकास में हस्तक्षेप (नियन्त्रण तथा सहायता) करना पड़ेगा। यह हस्तक्षेप निम्नलिखित कारणों से आवश्यक है :

(१) **पूँजी और साहस**—भारत मे औद्योगिक विकास के लिए पर्याप्त मात्रा मे पूँजी की सदा कमी रही है। उद्योगो का अनुभव न होने के कारण भारतीय उद्योगपतियो मे साहस का भी अभाव रहा है अत नयी औद्योगिक इकाइयों की स्थापना सीमित ही रही है। इसलिए पूँजी और औद्योगिक साहस अभाव की पूर्ति के लिए सरकार द्वारा कदम उठाया जाना आवश्यक है।

(२) **तकनीकी जानकारी**—विकासशील देशो मे प्रायः तकनीकी जानकारी का अभाव रहा है। इसलिए उद्योगो के नये क्षेत्रों मे पूँजी और साहस नही जुटाया जा सका। भारत मे भी प्राय यह स्थिति रही है। अतः सरकार के सहयोग और सक्रिय सहायता बिना औद्योगिक विकास सम्भव नही था। अब भी तकनीकी जानकारी पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध नही है। सरकारी सहयोग से तकनीकी जानकारी को विदेशो से प्राप्त किया जा सकता है।

(३) **लम्बे प्रसव काल वाले उद्योग**—कुछ उद्योग ऐसे होते है जिनका प्रसव काल बहुत लम्बा होता है अर्थात् उनको स्थापित करने मे बहुत समय लगता है तथा उनसे लाभ (या उत्पादन भी) बहुत देर से मिलने लगता है। इस्पात उद्योग, भारी रसायन, भारी इंजीनियरी आदि उद्योगों मे बहुत समय तक पूँजी बन्द पड़ी रहती है क्योंकि वह उद्योग ७ से दस वर्ष बाद लाभ देने लगते है। ऐसे उद्योगो मे सरकार को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे पूँजी लगानी पडती है या प्रारम्भिक वर्षो मे अनेक प्रकार की सहायता करनी पड़ती है।

(४) **सन्तुलित विकास के लिए**—निजी पूँजीपति प्रायः ऐसे केन्द्रो या स्थानो पर उद्योग स्थापित करते है जहाँ विकास करना सरल है और सभी प्रकार की सुविधाएँ आसानी से मिल जाती है। ऐसी स्थिति मे आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए प्रदेश तो बहुत समय तक पिछडे हुए ही रह जाते है। एक प्रजातन्त्रीय समाजवादी देश मे पिछड़े हुए प्रदेशो का आर्थिक विकास करने मे पहल करना आवश्यक है ताकि यह भाग अन्य भागो के समान आ जायें। अतः सरकार द्वारा इन क्षेत्रो मे

उद्योग स्थापित कर दिये जाते हैं क्योंकि सरकार का उद्देश्य केवल लाभ कमाना नहीं, पिछड़े हुए भागों का आर्थिक विकास करना है।

(५) **एकाधिकार पर रोक**—विकासशील देशों में प्राय: शक्तिशाली पूँजीपति नये-नये उद्योग स्थापित कर उन पर एकाधिकार कर लेते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक सत्ता का कुछ हाथों में संकेन्द्रण होने लगता है। भारत में उद्योगों की लाइसेंस नीति कुछ इस प्रकार की रही है कि आर्थिक सत्ता धीरे-धीरे इने-गिने हाथों में संकेन्द्रित हो गयी है। इस रोकने के लिए सरकार का वास्तविक हस्तक्षेप होना आवश्यक है।

(६) **समाजवाद के लिए**—भारत में समाजवादी समाज की स्थापना का लक्ष्य अपनाया गया है। समाजवाद में उत्पादन के तत्त्वों पर सरकार का स्वामित्व नहीं तो उचित नियन्त्रण करना तो अत्यन्त आवश्यक है ताकि वितरण और उत्पादन का ढाँचा सरकारी नीतियों के अनुसार बन सके।

भारत सरकार की औद्योगिक नीति

आजादी से पहले भारत सरकार ने औद्योगिक विकास के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया। विदेशी सरकार ने भारत के औद्योगिक विकास की इतनी अवहेलना की कि न तो स्वयं कोई उद्योग स्थापित किये, न भारतवासियों को उद्योग स्थापित करने का प्रोत्साहन दिया। इसलिए उद्योगों सम्बन्धी नीति निर्धारित करने की बात सोचना ही व्यर्थ था। यदि ब्रिटिश शासन की कोई औद्योगिक नीति थी तो यह थी कि भारत में औद्योगिक विकास के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया जाय। जो कुछ उद्योग लगाये गये उनमें से अधिकांश विदेशियों द्वारा लगाये गये और उनके लाखों रुपये के लाभ प्रति वर्ष अपने देश में ले जाते रहे। भारतवासियों द्वारा स्थापित उद्योगों का अंग्रेजी शासन ने सक्रिय विरोध किया अथवा उपेक्षा के मीठे जहर से उन्हें नष्ट करने का प्रयत्न किया।

१९४८ का औद्योगिक नीति प्रस्ताव

आजादी प्राप्त करने के पश्चात् भारत सरकार ने अपने औद्योगिक विकास का निश्चय किया और ६ अप्रेल, १९४८ को भारत के तत्कालीन उद्योग मन्त्री डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने भारत की औद्योगिक नीति की घोषणा की। इस घोषणा को १९४८ का औद्योगिक नीति प्रस्ताव कहा जाता है। इस प्रस्ताव की मुख्य बातें निम्नलिखित थी :

(१) उद्देश्य—औद्योगिक नीति के निम्नलिखित उद्देश्य निश्चित् किये गये :

(i) ऐसे समाज की रचना जिसमें सब नागरिकों को समान अवसर तथा न्याय प्राप्त हो सके।

(ii) उत्पादन में वृद्धि के लिए अधिक से अधिक प्रयत्न करना।

(iii) वर्तमान धन के वितरण के स्थान पर नये धन का उत्पादन कर उसके उचित वितरण की व्यवस्था करना।

इस प्रकार औद्योगिक नीति का उद्देश्य अधिक उत्पादन तथा न्यायपूर्ण वितरण रखा गया।

(२) **उद्योगों का वर्गीकरण**—नये उद्योगों का विकास सरकार द्वारा किया जाना चाहिए या इस काम को निजी क्षेत्र पर छोड़ देना चाहिए, यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न था जिस पर उचित निर्णय लेना बहुत आवश्यक था। अत सरकार ने देश के सारे उद्योगों को निम्नलिखित चार वर्गों में बाँट दिया :

(i) **सरकार का एकाधिकार**—पहले वर्ग में ऐसे उद्योगों को सम्मिलित किया गया जिनके विकास का सरकार को एकाधिकार दिया गया। इस वर्ग में (क) अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण, (ख) अणु-शक्ति का उत्पादन तथा नियन्त्रण, तथा (ग) रेलवे परिवहन। इन उद्योगों में निजी पूँजीपतियों को रकम लगाने की मनाही कर दी गयी।

(ii) **जिनके और आगे विस्तार का अधिकार केवल सरकार को दिया गया**—दूसरे वर्ग में ऐसे उद्योगों को रखा गया जो उस समय निजी पूँजीपतियों के अधिकार में थे। इन उद्योगों की जो इकाइयाँ उस समय पूँजीपतियों के हाथ में थीं उन पर पूँजीपतियों का अविकार बना रहने दिया गया किन्तु यह व्यवस्था की इन क्षेत्रों का **आगे विस्तार केवल सरकार ही कर सकेगी।**

इस श्रेणी में कोयला, लोहा तथा इस्पात, हवाई जहाज निर्माण, समुद्री जहाज निर्माण, टेलीफोन, तार तथा बेतार सम्बन्धी सामान का उत्पादन और खनिज तेल को सम्मिलित किया गया। इन उद्योगों के बारे में तीन बातें मुख्य थी :

(क) इन उद्योगों में **नयी इकाइयाँ** केवल सरकार द्वारा ही स्थापित की जा सकती थीं।

(ख) इन उद्योगों में पहले से कार्यशील इकाइयों को दस वर्ष का समय देने की घोषणा की गयी। दस वर्ष बाद इनका राष्ट्रीकरण किया गया तो उसका उचित मुआवजा देने की व्यवस्था होगी।

(ग) सरकार द्वार स्थापित उद्योगों का प्रबन्ध सरकारी निगमों द्वारा चलाया जायेगा।

(iii) **सरकार द्वारा नियन्त्रित उद्योग**—तीसरे वर्ग में ऐसे उद्योगों को रखा गया जिनका नियन्त्रण राष्ट्रीय हित में आवश्यक है। इस श्रेणी में १८ उद्योग रखे गये जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं :

नमक, मोटर, ट्रैक्टर, विजली, इन्जीनियरी, भारी रसायन, दवाएँ, खाद, पावर अल्कोहल, रबड़, सीमेंट, चीनी, कागज, सूती वस्त्र, वायु परिवहन, जल परिवहन।

यह उद्योग ऐसे है जिनमें अधिक पूँजी तथा ऊँचे तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता होती है। इन उद्योगों को निजी क्षेत्र के लिए छोड़ दिया गया किन्तु इन पर सरकारी नियन्त्रण की व्यवस्था की गयी। सरकार को यह अधिकार भी दिया गया कि वह चाहे तो इन उद्योगों से सम्बन्धित नयी इकाइयाँ स्थापित कर सकती है।

(iv) निजी क्षेत्र—शेष सभी उद्योग निजी क्षेत्र के लिए छोड़ दिये गये। इन उद्योगों पर सरकार के सामान्य नियन्त्रण की व्यवस्था की गयी।

(३) कुटीर तथा लघु उद्योग—औद्योगिक नीति प्रस्ताव में कुटीर उद्योगों के विकास पर विशेष जोर दिया गया ताकि कम पूँजी द्वारा अधिक व्यक्तियों को रोजगार दिया जा सके।

(४) तटकर नीति—प्रस्ताव में यह कहा गया कि सरकार ऐसी तटकर नीति अपनायगी जिससे भारतीय उद्योगों को विदेशी स्पर्द्धा से बचाया जा सके। उसका भार साधारण नागरिक (उपभोक्ता) पर भी नहीं होना चाहिए।

(५) कर नीति—प्रस्ताव में यह घोषणा की गयी कि कर नीति में ऐसे परिवर्तन किये जायेंगे कि देश में पूँजी लगाने को प्रोत्साहन मिले किन्तु आर्थिक सत्ता के संकेन्द्रण को रोका जायेगा।

(६) श्रम नीति—श्रमिकों की मजदूरी तथा आवास सम्बन्धी समस्याओं का समाधान करने की घोषणा की गयी और श्रमिकों को उद्योगों के प्रबन्ध में प्रतिनिधित्व देने की घोषणा की गयी।

(७) विदेशी पूँजी—प्रस्ताव में कहा गया कि आर्थिक विकास के लिए विदेशी पूँजी को प्रोत्साहित किया जायगा किन्तु उद्योगों पर नियन्त्रण भारतीय व्यवसायियों का ही बनाये रखने का प्रयत्न किया जायेगा।

१९४८ की औद्योगिक नीति की आलोचना

औद्योगिक नीति प्रस्ताव का मिश्रित स्वागत किया गया। कुछ व्यक्तियों ने इसे प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद बतलाया जबकि कुछ व्यक्तियों ने इसे ढिलमिल एवं अस्पष्ट नीति की संज्ञा दी। इस नीति की मुख्य आलोचनाएँ निम्नलिखित थी :

(१) मिश्रित अर्थ-व्यवस्था—इस प्रस्ताव में एक मिश्रित अर्थ-व्यवस्था को अपनाने का निश्चय किया गया था। (इसे मिश्रित इसलिए कहा जाता है कि कुछ उद्योग सरकारी क्षेत्र में, कुछ केवल सरकारी नियन्त्रण में तथा शेष निजी क्षेत्र के लिए निर्धारित कर दिये गये थे)। अनेक व्यक्ति देश में समाजवादी व्यवस्था लाना चाहते थे, उन्होंने इसे पसंद नहीं किया।

(२) पूँजी विनियोग में हानि—भारत में उस समय उद्योगों में बहुत अधिक पूँजी लगाने की आवश्यकता थी। पूँजीपतियों का यह मत था कि इस नीति से पूँजी लगाने के प्रति कोई उत्साह उत्पन्न नही होता। वास्तव में, नयी पूँजी का विनियोग प्रायः बन्द हो गया।

(३) राष्ट्रीयकरण का भय—औद्योगिक नीति प्रस्ताव में यह कहा गया था कि सरकार दस वर्ष बाद उद्योगों को सरकारी स्वामित्व मे ले सकती है। इससे उद्योगपतियों में भय उत्पन्न हो गया और उद्योगों का विकास रुक गया।

(४) उत्पादन को महत्त्व – औद्योगिक नीति प्रस्ताव में उत्पादन वृद्धि को विशेष महत्त्व दिया गया था जो सर्वथा उचित था किन्तु वितरण के सम्बन्ध में कोई

स्पष्ट नीति नहीं अपनायी गयी। वास्तव में उत्पादन के साथ-साथ वितरण की रूप-रेखा भी तैयार करनी आवश्यक है।

(५) **अस्पष्ट एवं असन्तोषजनक**—सरकार की इस नीति पर अस्पष्टता का आरोप लगाया गया। उद्योगों का राष्ट्रीयकरण, श्रमिकों का प्रबन्ध तथा लाभ में हिस्सा आदि की बातें कर सरकार ने समाजवादी होने का दावा किया किन्तु आय कर में छूट देकर तथा करों की चोरी को सहन कर सरकार ने पूँजीपति वर्ग को संतुष्ट करने का प्रयत्न किया। यह दोहरी नीति किसी भी दिशा में ले जाने में समर्थ नहीं थी।

एक समन्वयवादी तथा सन्तुलित नीति— औद्योगिक नीति प्रस्ताव में जिस नीति की घोषणा की गयी वह एक प्रकार की उदार समाजवादी व्यवस्था थी। उस समय देश मे नये-नये उद्योग स्थापित करने तथा उत्पादन में वृद्धि करने की आवश्यकता थी। इन दोनों दृष्टिकोणों से इस नीति को सर्वथा उपयुक्त कहा जा सकता है।

उद्योग (विकास एवं नियमन) अधिनियम १९५१

सन् १९४८ के *औद्योगिक नीति प्रस्ताव* को *कार्यान्वित* करने के लिए अक्टूबर १९५१ में भारतीय संसद ने एक अधिनियम पास किया जिसे ८ मई, १९५२ को लागू किया गया। इस कानून में उद्योगों के पंजीयन की व्यवस्था की गयी। देश में कोई भी नयी औद्योगिक इकाई सरकार से लाइसेंस लिए बिना स्थापित नहीं की जा सकती थी। इस कार्य के लिए एक लाइसेंस समिति की स्थापना की गयी। उद्योगों के विकास तथा नियमन के बारे में सरकार को सलाह देने के लिए एक केन्द्रीय सलाहकर समिति भी बनायी गयी।

इस अधिनियम द्वारा सरकार को अपनी नीति पालन करने का अवसर मिल गया क्योंकि सरकार ऐसी औद्योगिक इकाइयों को लाइसेंस देने से मना कर सकती थी जो देश के हित में नहीं हों या सरकारी नीति के अनुकूल नहीं हों।

इस अधिनियम द्वारा उद्योगों का किसी खास क्षेत्र में संकेन्द्रण भी रोका जा सकता था। इस प्रकार प्रादेशिक सन्तुलन का लक्ष्य भी पूरा करना सम्भव था।

१९५६ की नयी औद्योगिक नीति

सन् १९४८ की औद्योगिक नीति की घोषणा होने के पश्चात् देश की आर्थिक राजनीतिक नीतियों में अनेक परिवर्तन हो गये जिनके कारण १९५६ में नयी औद्योगिक नीति की घोषणा की गयी।

उद्देश्य—सन् १९५६ की औद्योगिक नीति के उद्देश्य निम्नलिखित थे :

(१) आर्थिक विकास की दर में वृद्धि करना तथा औद्योगिक विकास की गति तेज करना,

(२) लोक क्षेत्र का विस्तार करना,

(३) सरकारी क्षेत्र को सबल बनाने में सहायता करना,

(४) एकाधिकार तथा आर्थिक सत्ता के संकेन्द्रण को रोकना,

(५) आय तथा सम्पत्ति की असमानता को कम करना।

वास्तव में कांग्रेस के अवडी सत्र में समाजवादी नीति अपनाने का प्रस्ताव पास किया गया था। १९५६ की औद्योगिक नीति इस प्रस्ताव को लागू करने का प्रयत्न मात्र था।

औद्योगिक नीति के मुख्य तत्त्व—१९५६ की औद्योगिक नीति के मुख्य तत्त्व निम्नलिखित हैं :

(१) **उद्योगों का वर्गीकरण**—सारे उद्योगों का वर्गीकरण तीन भागों में किया गया :

(i) **अनुसूची अ**—इसमें उन उद्योगों को सम्मिलित किया गया जो १९४८ की औद्योगिक नीति की प्रथम तथा द्वितीय श्रेणियों में थे। इन उद्योगों को विकसित करने की जिम्मेदारी पूर्णतः सरकार पर डाली गयी।

अनुसूची अ में १८ उद्योग सम्मिलित किये गये हैं।[1] इनमें जो इकाइयां निजी क्षेत्र में चल रही थीं उनका विकास निजी क्षेत्र द्वारा किया जा सकता था। इनमें नयी इकाइयाँ स्थापित करते समय सरकार निजी क्षेत्र का सहयोग ले सकती थी।

(ii) **अनुसूची ब**[2]—इस अनुसूची में १२ उद्योग सम्मिलित हैं जो धीरे-धीरे राज्य के स्वामित्व में आ जायेंगे। इनमें नयी इकाइयाँ सरकार द्वारा ही स्थापित करने की व्यवस्था की गयी।

(iii) **अन्य**—शेष उद्योगों को तीसरी श्रेणी में रखा गया और इनकी स्थापना और विकास का काम निजी साहस पर छोड़ा गया। सरकार भी इनमें से कोई उद्योग स्थापित कर सकती है।

(२) **कुटीर एवं उद्योग**—इनको विशेष सहायता देकर विकसित करने का निर्णय किया गया।

---

१ अनुसूची 'अ' में निम्नलिखित उद्योग हैं—अस्त्र-शस्त्र, अणु-शक्ति, लोहा व इस्पात, लोहे व इस्पात की भारी ढलाई व तैयारी, भारी मशीनें, भारी बिजली के यन्त्र, कोयला व लिगनाइट, खनिज तेल, कच्चा लोहा, मैंगनीज क्रोम, जिप्सम, गन्धक, सोना व हीरों का खनन, ताँबा, सीसा, जस्ता, राँगा आदि की खानें खोदना व कच्चा माल सुधारना, अणु-शक्ति उत्पादन से सम्बन्धित खनिज, हवाई जहाज बनाना, हवाई यातायात, रेल यातायात, समुद्री जहाज बनाना, टेलीफोन एवं उसके तार, तार एवं बेतार का सामान (रेडियो रिसीविंग सेट छोड़कर) और बिजली का उत्पादन एवं वितरण।

२ अनुसूची 'ब' के उद्योग इस प्रकार हैं—छोटे खनिजों को छोड़कर 'अन्य खनिज पदार्थ', अल्यूमीनियम एवं अलौह धातुएँ जो प्रथम सूची में नहीं हैं, मशीन-औजार, फेरोएलॉयज एवं टूल स्टील, रासायनिक उद्योगों की आधारभूत सामग्री, दवाइयाँ, खाद, कृत्रिम रबर, कोयले का कार्बोनाइजेशन, रासायनिक घोल, सड़क यातायात एवं समुद्री यातायात।

(३) **क्षेत्रीय सन्तुलन**— पिछड़े हुए क्षेत्रों मे परिवहन तथा बिजली की सुविधाओं का विस्तार करने की व्यवस्था की गयी ताकि उन क्षेत्रों मे औद्योगिक विकास तेजी से किया जा सके।

(४) **श्रम नीति**—देश के उद्योगों में शान्ति का वातावरण बनाये रखने के लिए श्रम कानूनों में आवश्यक सुधार की व्यवस्था की गयी तथा श्रमिकों को उद्योगों के प्रबन्ध में भाग देने का निर्णय किया गया।

(५) **तकनीकी शिक्षा**—उद्योगों से सम्बन्धित क्षेत्रों में तकनीकी शिक्षा की व्यवस्था करने का निर्णय किया गया।

(६) **निजी क्षेत्र को सहायता**—सरकार द्वारा निजी क्षेत्र को आर्थिक सहायता देने का वचन दिया गया।

दोनों प्रस्तावों (१९४८ तथा १९५६) में अन्तर—औद्योगिक नीति सम्बन्धी दोनों प्रस्तावों मे निम्नलिखित अन्तर दृष्टिगोचर होते है :

(१) **लोक क्षेत्र का विस्तार**—सन् १९४८ के प्रस्ताव में उद्योगों को चार वर्गों में विभाजित किया था जबकि १९५६ के प्रस्ताव में उन्हें तीन ही वर्गों में बाँटा गया। नयी औद्योगिक नीति के अनुसार सार्वजनिक क्षेत्र को बढ़ा कर उसमें उद्योगों की सख्या पहले से अधिक कर दी गयी।

१९४८ की नीति के अनुसार केवल तीन उद्योगों पर सरकार का एकाधिकार था और ६ उद्योग ऐसे थे जिनमें नयी इकाइयों की स्थापना सरकार ही कर सकती थी। इसके अतिरिक्त १८ उद्योगों का सरकार द्वारा नियमन तथा नियन्त्रण होना था शेष उद्योग पूर्णतया निजी क्षेत्र के लिए छोड़ दिये गये थे। परन्तु सन् १९५६ की नीति के अनुसार किसी भी उद्योग की स्थापना सरकार द्वारा की जा सकती है तथा १७ आधारभूत उद्योगों का विकास केवल सार्वजनिक क्षेत्र में ही किया जा सकता है।

(२) **राष्ट्रीयकरण**— सन् १९४८ की नीति में यह कहा गया था कि द्वितीय श्रेणी के उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर १० वर्ष पश्चात् पुनर्विचार होगा परन्तु सन् १९५६ की नीति में राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में कोई व्यवस्था नहीं दी गयी है, बल्कि एक प्रकार का आश्वासन दिया गया कि प्रथम श्रेणी से सम्बन्धित निजी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण नही किया जायेगा। इस प्रकार दूसरी औद्योगिक नीति में निजी उद्योगों को राज्य द्वारा लिए जाने के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है।

(३) **निजी क्षेत्र**—एक प्रकार से निजी क्षेत्र का भी नयी नीति में विस्तार किया गया। तीनों श्रेणियों के अन्तर्गत चले आ रहे निजी उद्योग का विकास सार्वजनिक उद्योगों के साथ-साथ होता रहेगा, परन्तु वह राज्य के नियन्त्रण में रहेंगे जिससे कि जनहित की रक्षा हो सके।

(४) **सहकारी क्षेत्र**—सन् १९४८ की औद्योगिक नीति में सहकारी क्षेत्र पर

जोर नहीं दिया गया था, जबकि १९५६ की नीति के अनुसार निजी क्षेत्र का विस्तार जहाँ तक सम्भव होगा, सहकारी रूप में करने की व्यवस्था की गयी है।

(५) **शिथिल विभाजन**—सन् १९४८ की नीति के अनुसार उद्योगों का वर्गीकरण कठोर ढंग से किया गया था परन्तु सन् १९५६ की नीति में उद्योगों का वर्गीकरण शिथिल है। योजना तथा देश की आवश्यकताओं के अनुसार किसी भी उद्योग की स्थापना किसी भी क्षेत्र में की जा सकती है।

सन् १९५६ की नीति की समालोचना

सन् १९५६ की औद्योगिक नीति के सम्बन्ध में विभिन्न मत पाये जाते हैं। इस नीति की विभिन्न क्षेत्रों में निम्नलिखित आलोचनाएँ की गयी हैं :

(१) ऊपरी तौर से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह नीति निजी क्षेत्र के प्रति अधिक उदार है परन्तु वस्तुतः इस नीति द्वारा निजी क्षेत्र को संकुचित करने का प्रयत्न किया गया है। इस नीति में राष्ट्रीयकरण की धमकी परोक्ष रूप में विद्यमान है।

(२) **लोच**—औद्योगिक नीति के प्रस्ताव में लोच (flexibility) पर जोर दिया गया परन्तु इसका प्रयोग 'सार्वजनिक क्षेत्र' के लिए किया जायेगा क्योंकि सरकार किसी भी उद्योग को प्रारम्भ कर सकती है। इस प्रकार 'अनुसूची ब' के उद्योगों के क्षेत्र में निजी क्षेत्र का स्थान गौण रहेगा और तृतीय श्रेणी के उद्योगों में भी सरकार का दखल रहेगा।

(३) सहकारी क्षेत्र के विस्तार की जो बात प्रस्ताव में कही गयी है वह भी भ्रामक है। वस्तुतः सहकारी क्षेत्र सरकार के निर्देशन पर ही कार्य करेगा और निजी क्षेत्र के प्रतिनिधियों का स्थान सदैव गौण रहेगा। इस प्रकार भारत में सहकारिता के नाम पर राजकीय पूँजीवाद (State Capitalism) को बढ़ावा देने का प्रयत्न किया गया है।

(४) औद्योगीकरण के प्रश्न पर सरकार ने सिद्धान्तों का ही ध्यान रखा है, व्यावहारिकता पर ध्यान नहीं दिया है। निजी क्षेत्र के महत्त्व में जो कमी की गयी, वह अवांछनीय थी। प्रथम योजना-काल में निजी क्षेत्र की सफलता को देखते हुए उसे प्रमुख स्थान प्रदान करना चाहिए था।

(५) **विदेशी पूँजी** के विषय के प्रस्ताव में कोई व्यवस्था नहीं की गयी। यदि इसके सम्बन्ध में नीति स्पष्ट होती तथा राष्ट्रीयकरण का क्षेत्र निश्चित कर दिया गया होता तो विदेशी पूँजीपति निशंक होकर भारत में अधिक पूँजी विनियोजन कर सकते थे।

सन् १९५६ की औद्योगिक नीति देश के लिए उत्तम है

उपर्युक्त आलोचनाएँ बहुत कुछ एक-पक्षीय हैं। वास्तव में, वर्तमान औद्योगिक

नीति देश में समाजवादी समाज की स्थापना करने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है, जिसका अनुमान निम्नलिखित तथ्यों से हो सकता है :

(१) **सरकारी तथा निजी क्षेत्रों का विकास**—नयी औद्योगिक नीति में सरकार द्वारा बहुत बड़े-बड़े तथा कुछ सार्वजनिक हित के उद्योग लेने की घोषणा की गयी है। सरकार द्वारा रेल के इंजन, दवाइयाँ, खाद, रसायन, तेल आदि भारी पूँजी वाले उद्योगों के अतिरिक्त कुछ उपभोक्ता समान उत्पन्न करने की इकाइयाँ (सीमेण्ट, चीनी आदि) भी स्थापित की गयी हैं। इससे निजी साहस को किसी प्रकार कम करने का उद्देश्य नहीं है बल्कि उसके लिए यह अवसर है कि वह सरकारी क्षेत्र के उद्योगों से अधिक कार्यक्षमता प्रदर्शित कर अपने योगदान का अधिकाधिक महत्त्व प्रमाणित करें।

योजना काल में भारत की सम्पूर्ण उत्पादक सम्पदा में लोक क्षेत्र का भाग जो १५ प्रतिशत से बढ़कर ३५% हो गया है। अनेक असफलताओं के होने पर भी सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार से देश में इंजीनियरिंग, औषध, रसायन, खाद तथा इस्पात उद्योगों का विकास हुआ है।

(२) **निजी उद्योगों पर नियन्त्रण**—विकासशील देशों में प्रायः योजनाबद्ध विकास करना होता है और इस कार्य के लिए एक ओर तो प्राथमिकताएँ निश्चित करनी पड़ती हैं, दूसरी ओर सभी उद्योगों का विकास उचित दिशाओं में हो रहा है यह ध्यान रखना पड़ता है। इस दृष्टि से भारत में निजी क्षेत्र के उद्योगों पर नियन्त्रण की जो व्यवस्था की गयी है वह उचित ही नहीं, आवश्यक भी है। इस कार्य के औचित्य का प्रमाण इस तथ्य से मिलता है कि गत वर्षों में भारत सरकार तथा राज्य सरकारों द्वारा कई अकुशल एवं बन्द फैक्टरियों और मिलों का प्रबन्ध सम्भालकर उन्हें चालू किया गया है। नये उद्योगों के लिए लाइसेंस तथा पूँजी विनियोग के लिए पूर्व अनुमति का उद्देश्य यही है कि देश में पहले वही उद्योग विकसित हों जिनकी अत्यधिक आवश्यकता है तथा विभिन्न क्षेत्रों में उद्योगों के विकास में पर्याप्त सन्तुलन बना रहे। इन सभी दृष्टिकोणों से नयी औद्योगिक नीति के अन्तर्गत सरकार द्वारा नव क्षेत्रों में औद्योगिक विकास करना तथा नये-पुराने सभी उद्योगों के विकास का नियमन एवं नियन्त्रण करना सर्वथा न्यायसंगत है।

(३) **एकाधिकार का नियन्त्रण**—प्रो० जे० पी० ल्यूइस ने अपनी पुस्तक *Quiet Crisis in India* में यह मत प्रकट किया है कि भारत में औद्योगिक एकाधिकार की प्रवृत्तियाँ बहुत प्रबल हैं। इस मत की पुष्टि राष्ट्रीय आय संकेन्द्रण समिति ने भी की है। इस दृष्टि से भारतीय औद्योगिक नीति ऐसी होनी चाहिए कि औद्योगिक साम्राज्य (Industrial Empire) का अन्त हो सके। १९५६ का औद्योगिक नीति प्रस्ताव इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम है। वास्तव में, आवश्यकता इस बात की है कि सरकार इस प्रस्ताव की भावना को सही रूप में कार्यान्वित करने की दिशा में उचित कदम उठाये। सरकार द्वारा सभी क्षेत्रों में औद्योगिक

विकास के लिए नये-नये उद्योगपतियों को लाइसेंस देने से औद्योगिक एकाधिकार का अन्त करने में सहायता मिल सकेगी। चीनी, सीमेण्ट तथा दियासलाई उद्योगों में इस एकाधिकार के अन्त के लक्षण प्रकट होने लगे हैं। यह अत्यन्त सन्तोषजनक स्थिति है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि नयी औद्योगिक नीति में एक ओर तो सरकारी क्षेत्र को अधिकाधिक विकसित करने का प्रावधान है, दूसरी ओर निजी क्षेत्र को विकेन्द्रित रूप में विस्तृत करने की व्यवस्था है। अनेक क्षेत्रों में सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्रों का सामंजस्य एवं सहयोग किया जा सकता है। इस प्रकार देश के औद्योगिक विकास के लिए सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र में एक ओर तो होड़ लग गयी है, दूसरी ओर उनमें सहयोग का वातावरण बन गया है। तीसरे सहकारी क्षेत्र द्वारा भी औद्योगिक विकास की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम उठाये गये हैं, उदाहरण के तौर पर, देश के शक्कर (चीनी) उत्पादन का लगभग तृतीयांश सहकारी चीनी फैक्टरियों द्वारा किया जाता है। अतः भारत में समाजवादी समाज की स्थापना करने के लिए नयी औद्योगिक नीति के अनुसार औद्योगिक विकास करना सर्वथा श्रेयस्कर होगा।

आधुनिक प्रवृत्तियाँ Licence
[RECENT TRENDS]

गत वर्षों में निरन्तर यह अनुभव किया गया है कि भारत में उद्योगों को लाइसेंस देने की प्रणाली दोषपूर्ण है और लाइसेंस व्यवस्था के कारण पक्षपात और भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलता है। डा० आर० के० हजारी की रिपोर्ट से बिड़ला संस्थाओं को अत्यधिक उदारतापूर्वक लाइसेंस देने के तथ्य प्रकाश में आये हैं। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि देश में औद्योगिक विकास की गति तीव्र करने के लिए औद्योगिक नीति मे कुछ उदारता लाने की आवश्यकता है। इन बातो को ध्यान में रखकर ही गत वर्षो में औद्योगिक नीति में निम्नलिखित परिवर्तन किये गये है :

(१) **लाइसेंस की छूट**—औद्योगिक विकास और विनिमय अधिनियम के अन्तर्गत ४२ उद्योगों को बिना लाइसेंस लिए नयी इकाइयाँ स्थापित करने तथा पुरानी इकाइयों का विस्तार करने की छूट दी गयी है। इन उद्योगों में सीमेण्ट, लुग्दी, कागज, अखबारी कागज आदि बनाने सम्बन्धी उद्योगों के अतिरिक्त कृषि से सम्बन्धित बहुत से आवश्यक उद्योग जैसे बिजली से चलने वाले पम्प, पानी छिड़कने के यन्त्र, मिश्रित रासायनिक खाद और मशीनी इंजन बनाने के उद्योग तथा बाइसिकिल और सिलाई की मशीन बनाने के उद्योग सम्मिलित हैं। इन उद्योगों को लाइसेंस से छूट देने का एक उद्देश्य देश के निर्यात में वृद्धि करना है।

(२) **निर्यात उद्योगों को प्रोत्साहन**—इंजीनियरिंग उद्योगो में उत्पादन को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से १९६५ मे ही कुछ छूट दी गयी थी जिसे अक्टूबर १९६६ से अन्य कुछ उद्योगों के लिए भी दे दिया गया है इस छूट के अन्तर्गत उन उद्योगों

को जिनके लिए विदेशी मुद्रा की आवश्यकता नहीं है, जिनके लिए नयी मशीनें लगाना आवश्यक नहीं है और जिनसे प्राप्त नवीन उत्पादन कुल उत्पत्ति के २५ प्रतिशत से अधिक नही है, उसके लिए लाइसेंस लेना आवश्यक नही है।

जिन उद्योगों द्वारा विदेशी निर्यात के लिए माल निर्माण किया जाता है वह नवीन प्रणालियों का प्रयोग करने के लिए इस सुविधा का लाभ उठा सकते है।

(३) **उत्पादन वृद्धि**—अक्टूबर १९६६ मे यह घोषणा की गयी थी कि औद्योगिक कम्पनियाँ बिना लाइसेंस लिए कुछ शर्तों पर लाइसेंस में निर्धारित क्षमता से २५ प्रतिशत तक अधिक उत्पादन कर सकती है। इस सुविधा का उद्देश्य वर्तमान औद्योगिक क्षमता का अधिकाधिक प्रयोग सम्भव बनाना है।

(४) **कल पुर्जों का आयात**—जून १९६६ में भारतीय मुद्रा का अवमूल्यन करने के पश्चात् भारत सरकार ने ५९ उद्योगों की एक सूची प्रकाशित की जिन्हें आवश्यकता पड़ने पर मशीनों के हिस्से, कच्चा माल तथा फालतू पुर्जों के आयात लाइसेंस देने मे प्राथमिकता दी जा रही है। इस सुविधा से जिन औद्योगिक इकाइयों को मशीनों के पुर्जे नही होने से उत्पादन कम या बन्द कर देना पड़ा था उन्हें उत्पादन वृद्धि में सहायता मिलने लगी है। इससे दूसरा लाभ यह हुआ कि इन उद्योगों को अपने पास विदेशी कल-पुर्जो का बहुत स्टॉक नही रखना पड़ेगा अतः उनकी पूँजी व्यर्थ पड़ी नही रह सकेगी।

(५) **पिछड़े क्षेत्रों के लिए विशेष सहायता**—१५ जुलाई, १९७१ से अविकसित क्षेत्रों (काश्मीर, असम, मेघालय, नागालैंड, मनीपुर, त्रिपुरा तथा नेफा) में स्थापित किये जाने वाली नयी औद्योगिक इकाइयों के लिए कच्चे तथा निर्मित माल पर ५० प्रतिशत परिवहन सहायता दी जायगी अर्थात् इनको परिवहन खर्च का केवल आधा भाग चुकाना पड़ेगा, आधा व्यय सरकार देगी। इससे इन क्षेत्रों मे नये उद्योग लगने की सम्भावनाएँ बढ़ गयी है।

(६) **लाइसेंस की सीमा**—१५ जुलाई, १९७१ से ही जिन उद्योगों में १ करोड़ रुपये तक की पूँजी लगानी हो तथा १० प्रतिशत भाग तक विदेशी माल मँगाना पड़े, उन्हें सरकार से लाइसेंस लेने की आवश्यकता नही है। इससे भी नयी औद्योगिक इकाइयाँ स्थापित करने को प्रोत्साहन मिलेगा।

सरकार द्वारा औद्योगिक विकास की सुविधाएँ

पिछले कुछ वर्षों में विभिन्न राज्य सरकारों ने अपने-अपने क्षेत्रों में औद्योगिक विकास के लिए अनेक सुविधाएँ प्रदान की है। उनमें मुख्य सुविधाएँ निम्नलिखित है :

(१) **सस्ती भूमि**—प्रायः सभी राज्यों मे नये उद्योगों के लिए भूमि खण्ड अलग रखे गये है जो उद्योगपतियों को ९९ वर्ष के पट्टे पर दिये गये हैं। इन पट्टों को आगे नये करने की व्यवस्था भी की गयी है। यह भूमि बहुत ही रियायती मूल्यों पर

देने की व्यवस्था की जाती है। इस प्रकार सभी राज्यों में औद्योगिक क्षेत्रों का अलग से विकास हो गया है।

(२) **सड़क, बिजली, पानी**—जिन क्षेत्रों को औद्योगिक क्षेत्र घोषित किया जाता है उनमें सड़क, बिजली तथा पानी की सुविधाएँ सरकार देती है। यदि उस क्षेत्र को मिलाने वाली सड़क नहीं है तो सरकार द्वारा सड़कें बनवा दी जाती हैं। इसी प्रकार बिजली की लाइनें डलवा दी जाती हैं तथा पानी की पूर्ति के लिए ट्यूब वैल या पाइप लाइन का प्रबन्ध कर दिया जाता है।

(३) **सस्ती बिजली और पानी**—औद्योगिक क्षेत्रों में बिजली और पानी की सुविधा तो प्राथमिकता के आधार पर दी जाती है किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। प्रायः सभी राज्यों में नये उद्योगों को कुछ वर्षों के लिए बिजली तथा पानी सस्ती दरों पर दिये जाते हैं। उदाहरण के लिए राजस्थान में नये उद्योगों के लिए लगभग दस वर्ष तक बिजली की दरों में १० से २५ प्रतिशत तक की रियायत देने की व्यवस्था की गयी है। उद्योगों को जल भी रियायती दरों पर दिया जाता है।

(४) **करों में रियायत**—प्रायः सभी राज्यों में नये उद्योगों को करों में छूट दी गयी है। यह छूट मुख्यतः निम्नलिखित करों से सम्बन्धित है :

(i) **चुंगी**—नये उद्योगों में काम आने वाले सभी प्रकार के सामान–मशीनें, भवन निर्माण तथा कच्चा माल आदि—पर चुंगी में छूट दी जाती है। यह छूट प्रायः सात से दस वर्ष के वास्ते दी जाती है ताकि इस अवधि में उद्योग अपने पैरों पर खड़ा हो सके।

(ii) **बिक्री कर**—अनेक राज्यों में वस्त्र, शीशा, सीमेण्ट, इंजीनियरी, चीनी, तथा खनिज सम्बन्धी उद्योगों द्वारा खरीदे जाने वाले माल पर केवल सांकेतिक (बहुत कम) बिक्री कर देना पड़ता है। कुछ राज्यों में नये उद्योगों को बिक्री कर से सर्वथा मुक्त कर दिया गया है।

(iii) **बिजली कर**—प्रायः सभी राज्यों में बिजली के उपभोग पर एक कर और देना पड़ता है। बहुत से राज्यों में उद्योगों को इस कर से मुक्त कर दिया गया है।

(५) **माल की बिक्री**—नये उद्योगों के लिए एक समस्या यह रहती है कि उनको माल बेचने में दिक्कत रहती है। आरम्भ में नये उद्योगों में उत्पादन की लागत भी अधिक रहती है अतः वह पुराने उद्योगों से स्पर्द्धा नहीं कर सकते। इस कठिनाई से छुटकारा दिलाने के लिए अनेक राज्य सरकारें अपने क्षेत्रों में उत्पन्न माल को थोड़े से अधिक मूल्य (३ प्रतिशत से १५ प्रतिशत अधिक) पर खरीद लेती हैं। राज्यों में स्थापित संस्थाओं ने भी अपने क्षेत्र के उद्योगों को इस प्रकार का संरक्षण प्रदान किया है।

(६) **औद्योगिक सम्पदाएँ**—प्रायः सभी राज्यों में सरकार द्वारा औद्योगिक सम्पदाएं स्थापित की गयी हैं। इन सम्पदाओं में सरकार द्वारा लघु उद्योगों के लिए

भवन बनाकर दिये हैं जिनमें बिजली पानी की सुविधा उपलब्ध है। इन भवनों को बहुत ही सस्ते भाड़े पर उद्योगपतियों को दिया गया है। कुछ वर्षों बाद यह भवन किरायेदारों की सम्पत्ति बन जायेंगे।

(७) **कच्चा माल**—औद्योगिक सम्पदाओं में कार्यशील उद्योगों के लिए सरकार द्वारा सस्ती दर पर कच्चे माल की व्यवस्था की जाती है। इन इकाइयों के अतिरिक्त अन्य छोटी इकाइयों को भी सस्ती दर पर कच्चा माल देने का प्रबन्ध किया जाता है। इस कार्य के लिए प्रायः सभी राज्यों में लघु उद्योग निगम बनाये गये हैं।

(८) **मशीनों की व्यवस्था**—राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम द्वारा लघु उद्योगों के लिए विदेशों से मशीनें खरीद कर देने की व्यवस्था की जाती है। इन मशीनों का मूल्य बहुत ही सुविधाजनक शर्तों पर चुकाने का प्रबन्ध किया जाता है ताकि लघु इकाइयों को असुविधा न हो।

(९) **पदार्थों की परीक्षण सुविधा**—कई राज्यों में सरकारों द्वारा सुव्यवस्थित प्रयोगशालाएँ स्थापित की गयी हैं। इन प्रयोगशालाओं में जन्तुनाशक पदार्थों, खाद, रंगलेप, तेल, साबुन, खली, खनिज तथा कच्चे धातु, रसायन, जल आदि का परीक्षण किया जाता है और यह निश्चित किया जाता है कि यह वस्तुएँ उद्योगों के लिए उपयोगी है अथवा नहीं। इन प्रयोगशालाओं में उद्योगों में प्रयुक्त होने वाले कच्चे माल पर शोध कार्य किया जाता है और उद्योगों के लिए तकनीकी सहायता की व्यवस्था की जाती है।

(१०) **तकनीकी प्रशिक्षण**—भारत के प्रायः सभी भागों में इंजीनियरी, चमड़ा तकनीक तथा अन्य क्षेत्रों से सम्बन्धित तकनीकी शिक्षा देने के लिए अनेक कॉलेज, पोलीटेकनिक संस्थान तथा प्रशिक्षण संस्थाएँ स्थापित की गयी हैं। इस तकनीकी प्रशिक्षण से उद्योगों के विकास में बहुत सहायता मिली है।

(११) **आर्थिक सूचना सेवा**—प्रत्येक राज्य में भारत सरकार द्वारा लघु उद्योग सेवा संस्थान (Small Industries Service Institute) स्थापित किये गये हैं। इन संस्थानों द्वारा उद्योग स्थापित करने के इच्छुक साहसियों को सलाह दी जाती है कि किस क्षेत्र में कौन से उद्योग सफलतापूर्वक चलाये जा सकते हैं। इन संस्थानों द्वारा विभिन्न क्षेत्रों की औद्योगिक सम्भावनाओं सम्बन्धी सर्वेक्षण किये गये हैं जिनके परिणाम उद्योगपतियों को उपलब्ध किये जा सकते हैं ताकि वह नये उद्योग सरलतापूर्वक स्थापित कर सकें। इन संस्थानों द्वारा तकनीकी सहायता भी दी जाती है।

प्रत्येक राज्य में औद्योगिक निदेशालय भी हैं जो समय-समय पर बुलेटिन प्रकाशित करते हैं जिनमें उद्योगों को दी जाने वाली सहायता के बारे में सूचना प्रकाशित की जाती है। इस सूचना से भी उद्योगपतियों को नये उद्योग स्थापित करने में सहायता मिलती है।

(१२) **निर्यात संवर्द्धन**—राज्य सरकारों द्वारा लघु उद्योगों द्वारा उत्पन्न माल का प्रचार करने के लिए प्रदर्शनियाँ लगायी जाती हैं विदेशी प्रदर्शनियों में भाग लेने के लिए सहायता दी जाती है तथा विदेशी भ्रमणार्थियों के लिए विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ दी जाती हैं।

जो उद्योगपति निर्यात संवर्द्धन परिषदों के सदस्य बनना चाहते हैं अथवा निर्यात गारन्टी साख निगम से सहायता प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें राज्य सरकारों द्वारा सहायता एवं सुविधाएँ देने का प्रयत्न किया जाता है। इससे उद्योगों का माल विदेशों में बेचने मे सहायता की जाती है।

(१३) **आर्थिक सहायता**—भारत में १९४८ के बाद अनेक संस्थाओं की स्थापना की गयी है जो उद्योगों के लिए अनेक प्रकार की आर्थिक सहायता करते हैं। इन संस्थाओं में मुख्य निम्नलिखित हैं:

(i) **औद्योगिक वित्त निगम**—इसकी स्थापना १९४८ में की गयी। यह बड़े पैमाने के उद्योगों को दीर्घकाल के लिए ऋण देता है। इस संस्था की पूरी पूँजी औद्योगिक विकास बैंक द्वारा खरीद ली गयी है। यह निगम उद्योगों के लिए रकम का अभिगोपन करता है तथा ऋणों की गारन्टी भी करता है।

(ii) **औद्योगिक विकास बैंक**—इसकी स्थापना १९६४ में की गयी। इसका प्रबन्ध तथा पूँजी रिजर्व बैंक के अधीन है। यह बैंक उद्योगों को ऋण देता है, निर्यात बिलों की कटौती करता है तथा व्यापारिक बैंकों को उद्योगों की सहायता के लिए मदद करता है। यह मुख्यतः भारी और बहुत बड़े उद्योगों की आर्थिक सहायता करता है।

(iii) **राज्य वित्त निगम**—उद्योगों की आर्थिक सहायता के लिए प्रत्येक राज्य में एक-एक वित्त निगम बनाया गया है जो मध्यम तथा बड़े आकार के उद्योगों को ऋण देते हैं। यह निगम अपने-अपने राज्य के उद्योगों के विकास में बहुत सहायक हुए हैं।

(iv) **राज्य सरकार**—प्रत्येक राज्य में सरकार लघु उद्योगों के विकास के लिए ऋण तथा अनुदान देती है। वह ऋण प्रायः ५-७ वर्ष के वास्ते दिये जाते हैं। इनका वितरण उद्योगों के लिए राजकीय सहायता अधिनियम (State Aid to Industries Act) के अन्तर्गत किया जाता है।

(v) **व्यापारिक बैंक**—भारत के सभी व्यापारिक बैंक बड़े तथा छोटे दोनों प्रकार के उद्योगों को अल्पकालीन ऋण देते हैं। लघु उद्योगों को तो दस वर्ष तक के ऋण दिये जा सकते हैं। लघु उद्योगों को बैंकों द्वारा दिये गये ऋणों की साख गारन्टी संगठन (जो रिजर्व बैंक में स्थापित किया गया है) गारन्टी करता है।

इस प्रकार भारत में स्थापित होने वाले सब प्रकार के उद्योगों को आर्थिक सहायता देने के लिए अनेक संस्थाएँ काम कर रही हैं।

(१४) **औद्योगिक विकास निगम**—प्रायः प्रत्येक राज्य में उद्योगों की तकनीकी,

प्रबन्ध व्यवस्था तथा अन्य प्रकार की सहायता तथा सलाह के लिए औद्योगिक विकास निगम स्थापित किये गये है। यह निगम नये साहसियों को उद्योग लगाने के लिए प्रेरणा देते हैं।

(१५) **विकास छूट**—भारतीय आय कर अधिनियम में नये उद्योगों के लिए पाँच वर्ष तक आय कर की छूट दी जाती रही है। यह छूट ३१ मई, १९७४ के पश्चात् लगाये गये उद्योगो को नही मिल सकेगी।

अभ्यास प्रश्न

१. वर्तमान युग मे औद्योगिक विकास का क्या महत्त्व है? भारत मे औद्योगिक विकास के लिए सरकारी हस्तक्षेप की क्यों आवश्यकता है?

२. भारत सरकार की औद्योगिक नीति के मूल तत्त्वों का विवेचन कीजिए।

३. भारत सरकार की १९४८ तथा १९५६ मे घोषित औद्योगिक नीतियो में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

४. भारत की १९५६ की औद्योगिक नीति की आलोचना कीजिए।

५. भारत की औद्योगिक नीति की आधुनिक प्रवृत्तियों का विवेचन कीजिए।

६. भारत में उद्योगों के विकास के लिए राज्य ने क्या-क्या सुविधाएँ दी है? आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

७. भारत में उद्योगों की आर्थिक सहायता के लिए सरकार द्वारा क्या कदम उठाये गये है?

१२ लोक क्षेत्र में उद्योग

(INDUSTRIES IN THE PUBLIC SECTOR)

पिछले अध्याय में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि भारत सरकार की औद्योगिक नीति में कुछ उद्योग पूरी तरह सरकारी क्षेत्र के लिए सुरक्षित किये गये हैं, कुछ उद्योगों को सरकारी नियन्त्रण में रखने की व्यवस्था की गयी है तथा कुछ उद्योगों को निजी क्षेत्र के लिए निश्चित कर दिया गया है। इस नीति पर निरन्तर समाजवादी प्रभाव बढ़ता जा रहा है। अतः भारत में सरकारी क्षेत्र में उद्योगों की संख्या और उनमें लगायी गयी पूँजी की मात्रा में तेजी से वृद्धि हो रही है। सरकारी क्षेत्र को ही लोक क्षेत्र कहा जाता है।

लोक क्षेत्र के उद्देश्य—लोक क्षेत्र में वृद्धि का मुख्य उद्देश्य भारत में समाजवादी समाज की स्थापना करना है। इसके उद्देश्यों को अधिक स्पष्ट रूप में निम्न प्रकार बतलाया जा सकता है :

(१) **तीव्र गति से आर्थिक विकास**—औद्योगिक ढाँचे में जो महत्त्वपूर्ण दरारें हैं उन्हें पाट कर आर्थिक विकास की गति को तेज करना लोक क्षेत्र का पहला उद्देश्य है। यह दरारें मुख्य रूप में आधारभूत उद्योगों (इस्पात, कोयला, भारी इंजीनियरी, भारी रसायन आदि) में रही हैं जिनके विकास में निजी क्षेत्र ने कोई रुचि प्रकट नहीं की।

(२) **बुनियादी साज-सज्जा की व्यवस्था**—उद्योगों के विकास के लिए सड़कों का विकास, पानी तथा बिजली की पर्याप्त सुविधाएँ तथा सिंचाई आदि की यथेष्ट व्यवस्था करना आवश्यक होता है। यह बुनियादी आवश्यकताएँ हैं जिनका भारत में अभाव रहा है।

(३) **सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक क्षेत्रों का विकास**—तीसरा उद्देश्य उन उद्योगों का विस्तार करना है जो सुरक्षा की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं तथा जिन्हें निजी क्षेत्र में रहने देने से देश की सुरक्षा नीति में गड़बड़ हो सकती है। वायुयान,

जलयान, टेलीफोन तथा बिजली के महत्त्वपूर्ण संयन्त्रों का उत्पादन इसके महत्त्वपूर्ण उदाहरण है।

(४) **सन्तुलित प्रादेशिक विकास**—देश के औद्योगिक विकास को ऐसा मोड़ देना कि पिछड़े हुए क्षेत्रों को विकसित होने का अधिक अवसर मिल सके। इसके लिए देश के प्राकृतिक साधनों की उचित खोज तथा लेखा-जोखा भी करना आवश्यक है।

(५) **आर्थिक विषमता कम करना**—लोक क्षेत्र का एक उद्देश्य आय सम्बन्धी विषमताएँ दूर करना है ताकि सभी वर्गों की आर्थिक स्थिति मे उचित सन्तुलन उत्पन्न हो सके। आय सम्बन्धी विषमताएँ कम करने के लिए लोक क्षेत्र अपने कर्मचारियों के वेतन का ढाँचा अधिक समाजवादी बना सकता है जिसका प्रभाव सभी क्षेत्रों पर पड़ता है। सामान्य रूप में, लोक क्षेत्र में विभिन्न वर्गों के कर्मचारियो की आय में कम अन्तर होता है। निजी क्षेत्र मे यह अन्तर अत्यधिक होता है।

(६) **आर्थिक सत्ता का संकेन्द्रण रोकना**—लोक क्षेत्र का एक उद्देश्य यह है कि आर्थिक सत्ता कुछ इने-गिने व्यक्तियों के हाथों मे संकेन्द्रित नही हो जानी चाहिए। यदि निजी क्षेत्र मे उद्योगों को सीमित कर दिया जाय तो यह संकेन्द्रण नही हो सकेगा।

(७) **अधिक संवेदनशील क्षेत्रों पर नियन्त्रण**—लोक क्षेत्र का एक उद्देश्य यह है कि जिन क्षेत्रों मे मूल्यों के उतार-चढ़ाव जल्दी-जल्दी होने की आशंका हो उन क्षेत्रों को अपने नियन्त्रण मे लाना चाहिए। कृषि पदार्थों का व्यापार इसका एक उदाहरण है।

(८) **वित्त व्यवस्था पर नियन्त्रण**—देश के विभिन्न उत्पादक क्षेत्रों को ऋण पूँजी उचित ढंग से वितरित होनी चाहिए। यह काम वित्त निगमों पर सामाजिक नियन्त्रण या राष्ट्रीयकरण द्वारा ही हो सकता है। इस प्रकार लोक क्षेत्र का उद्देश्य आर्थिक साधनो के न्यायपूर्ण वितरण की व्यवस्था करना भी है।

(९) **तकनीकी जानकारी में आत्मनिर्भरता**—लोक क्षेत्र का एक उद्देश्य देश में आवश्यक तकनीकी जानकारी का विकास करना है ताकि नये उद्योगों के डिजाइन तैयार कर मशीनों का निर्माण किया जा सके। इससे मशीनों के बारे में देश को आत्मनिर्भर होने मे सहायता मिलेगी।

(१०) **रोजगार के अवसर उत्पन्न करना**—लोक क्षेत्र द्वारा उद्योग, परिवहन तथा संचार आदि क्षेत्रों में जितनी पूँजी लगायी जायगी उतने ही रोजगार के अवसरों में वृद्धि होगी। एक समाजवादी व्यवस्था मे रोजगार के अधिक से अधिक अवसर उत्पन्न करना बहुत आवश्यक है। यह कार्य लोक क्षेत्र ही अधिक खूबी से कर सकता है।

(११) **निर्यातों में वृद्धि**—लोक क्षेत्र का एक उद्देश्य निर्यातों में वृद्धि कर विदेशी मुद्रा कमाना है ताकि भुगतान सन्तुलन पर दबाव कम किया जा सके।

सभी उद्देश्य समाजवाद की स्थापना से सम्बन्धित हैं

यह सब उद्देश्य ऐसे हैं जो देश में समाजवादी व्यवस्था लाने के लिए वहुत आवश्यक हैं। इनके पीछे देश में एक नया जागरण उत्पन्न करने की भावना है जो अंग्रेजी राज्य में सो गयी थी। लोक क्षेत्र असंख्य जनों के सहयोग से एक आत्म-निर्भर तथा क्रियाशील अर्थतन्त्र की स्थापना करने का व्रत लेकर चलता है। इस दृष्टि से लोक क्षेत्र के सामने अधिक से अधिक व्यक्तियों के हित के लिए अधिक से अधिक परिश्रम द्वारा अधिक से अधिक उत्पत्ति प्राप्त करना तथा देश में समृद्धि तथा सम्पन्नता का ऐसा वातावरण तैयार करना है जिसमें किसी का शोषण न हो।

लोक क्षेत्र का संगठन

भारत में लोक क्षेत्र के उद्योगों को तीन वर्गों में रखा गया है :

(१) **विभागीय संस्थान** (Departmental Undertakings)—इस वर्ग में वह संस्थान सम्मिलित हैं जिनका प्रवन्ध भारत सरकार के उद्योग मन्त्रालय द्वारा होता है। इसमें रेल, डाक-तार, चितरंजन का इजन कारखाना, पेराम्बूर का रेल के डिब्बे बनाने का काँरखाना आदि सम्मिलित हैं। इस प्रकार इन संस्थानों का प्रवन्ध प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों की देख-रेख में होता है। यह अधिकारी प्रायः अपने ही कार्यों में वहुत व्यस्त रहते हैं अतः इन औद्योगिक संस्थानों की समुचित देख-रेख होना सम्भव नहीं है।

(२) **स्वतन्त्र निगम** (Corporations)—वहुत से सरकारी उद्योग ऐसे हैं जिनके संचालन के लिए अलग निगम वना दिये गये हैं। यह निगम सम्वन्धित औद्योगिक इकाइयों की व्यवस्था करते हैं परन्तु वह किसी न किसी मन्त्रालय के अधीन हैं और इनकी नीति तथा प्रगति पर संसद का नियन्त्रण रहता है। इस प्रकार के निगमों में जीवन वीमा निगम, दामोदर घाटी निगम, राष्ट्रीय कोयला विकास निगम आदि के नाम लिए जा सकते हैं।

इन निगमों के अध्यक्ष पद पर प्रायः भारतीय प्रशासनिक सेवा (I. A. S.) के अधिकारियों को नियुक्त किया गया है। जिनको उद्योग या व्यापार का कोई अनुभव नहीं होता। यह व्यक्ति नौकरशाही की परम्पराओं में पलते हैं। अतः प्रत्येक निर्णय में देर होती है, व्यर्थ की औपचारिकता में वहुत समय नष्ट होता है और प्रवन्ध का ढाँचा शिथिल वना रहता है। इसीलिए इनमें से वहुत से निगमों को निरन्तर हानि होती रहती है।

(३) **निजी कम्पनियाँ** (Private Companies)—वहुत से उद्योगों का संचालन करने के लिए सरकार ने भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत निजी कम्पनियाँ रजिस्टर करवायी हैं। हिन्दुस्तान स्टील, हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट, भारत इलैक्ट्रिकल्स, हैवी इलैक्ट्रिकल्स आदि कारखाने इस श्रेणी के कुछ उदाहरण हैं।

प्रबन्ध व्यवस्था—लोक क्षेत्र के उद्योगों की सबसे बड़ी दुर्बलता यही है कि इनका प्रबन्ध बदनाम नौकरशाही के हाथ में है जिन्हें न तो औद्योगिक क्षेत्र का अनुभव है, न समाजवाद में विश्वास है। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति है कि सरकार प्रशासनिक सेवाओं के अधिकारियों को सभी प्रकार के तकनीकी उपक्रमों का प्रबन्ध करने के योग्य समझती है। आज जो व्यक्ति तेल निगम का अध्यक्ष है कल वह एयर इण्डिया का अध्यक्ष हो सकता है। इस धारणा के कारण ही अनेक लोक क्षेत्रीय उद्योग हानि उठा रहे हैं। अतः सरकार को इन उद्योगों की प्रबन्ध व्यवस्था के लिए उचित योग्यता वाले प्रशिक्षित व्यक्तियों की नियुक्ति करनी चाहिए।

लोक क्षेत्रीय उपक्रमों का विकास

केन्द्रीय सरकार १९५१ से ही कृषि, सिंचाई, उद्योग, परिवहन तथा अन्य क्षेत्रों में पूँजी लगा रही है। यह पूँजी लगाने का मुख्य उद्देश्य भारत में विकास का बुनियादी ढाँचा मजबूत कर अर्थतन्त्र को आत्मनिर्भर तथा क्रियाशील बनाना रहा है।

लोक क्षेत्र द्वारा पूँजी विनियोग

(करोड़ रुपये में)

	इकाइयों की संख्या	कुल पूँजी
(i) १ अगस्त, १९५१	५	२९
(ii) १ अप्रैल, १९५६	२१	८१
(iii) १ अप्रैल, १९६१	४८	९५३
(iv) ३१ मार्च, १९६६	७४	२,४१५
(v) ३१ मार्च, १९७०	९१	४,३०१

इससे स्पष्ट है कि योजना के आरम्भ में भारत सरकार तथा राज्य सरकारों द्वारा आर्थिक क्षेत्र में कुल २९ करोड़ रुपये की पूँजी विनियोग की हुई थी जिसकी रकम १९७० में बढ़कर ४,३०१ करोड़ रुपये हो गयी।

उल्लेखनीय तत्त्व—लोक क्षेत्र में पूँजी विनियोग की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं :

(१) तीव्र गति से वृद्धि—लोक क्षेत्र में पूँजी की रकम में बहुत तेजी से वृद्धि की गयी है। यह वृद्धि मुख्यतः दूसरी और तीसरी योजना के दस वर्षों में हुई है जबकि कुल विनियोगों की रकम ८१ करोड़ रुपये से बढ़कर २,४१५ करोड़ रुपये तक पहुँच गयी। इसका मुख्य कारण यह है कि इन दस वर्षों में देश की आर्थिक व्यवस्था को एक शक्तिशाली आधार देने का प्रयत्न किया गया और लोहा इस्पात, मशीनें, खाद, तेल, कोयला, वायुयान आदि बुनियादी उद्योगों में इस काल में ही पूँजी लगायी गयी।

(२) अधिकतर केन्द्रीय सरकार द्वारा—लोक क्षेत्र के उद्योगों में जो पूँजी लगी हुई है उसका अधिकांश भाग केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाया गया है। इसका

अनुमान इस बात से लगता है कि ४,३०१ करोड़ रुपये की कुल पूँजी में से ३,८६७ करोड़ रुपया केन्द्रीय सरकार द्वारा तथा केवल १० करोड़ रुपया राज्य सरकारों द्वारा विनियोजित है। शेष रकम भारत तथा विदेशों के पूँजीपतियों द्वारा लगायी गयी है।

(३) **पहले दस का महत्त्व**—लोक क्षेत्र में लगी हुई पूँजी की तीसरी उल्लेखनीय बात यह है कि केन्द्रीय सरकार द्वारा लगायी गयी पूँजी का लगभग ८० प्रतिशत तो दस औद्योगिक इकाइयो मे लगाया गया है जिनके नाम निम्नलिखित हैं :

	लोक क्षेत्र में पूँजी विनियोग	(करोड़ रुपये में)
१.	हिन्दुस्तान स्टील लि०	१,०६३
२.	बोकारो स्टील लि०	३५६
३.	भारतीय खाद्य निगम	२९२
४.	हैवी इंजीनियरिंग कार्पोरेशन लि०	२४७
५.	हिन्दुस्तान एयरोनॉटिक्स लि०	२१२
६.	फर्टिलाइजर कार्पोरेशन ऑफ इण्डिया लि०	२०५
७.	ऑयल एण्ड नेच्युरल गैस कमीशन	२०३
८.	नेशनल कोल डेवलपमेंण्ट कार्पोरेशन लि०	१८५
९.	भारत हैवी इलैक्ट्रिकल्स लि०	१७४
१०.	नीवेली लिगनाइट कार्पोरेशन लि०	१७०
	योग	३,१०७

इससे स्पष्ट है कि लोक क्षेत्र मे जो पूँजी लगी हुई है उसका अधिकाश भाग इस्पात, इंजीनियरी, खाद, तथा गैस, कोयला और भारी मशीन एवं वायुयान उद्योगो में लगा हुआ है। केन्द्रीय सरकार की कुल विनियोजित पूँजी का लगभग ३७ प्रतिशत भाग इस्पात उद्योग मे लगा हुआ है। इस्पात उद्योग एक बुनियादी उद्योग है जो सभी प्रकार की मशीनों के लिए कच्चा माल देता है। इसलिए इसमें अधिक पूँजी लगाना सर्वथा उचित है।

(४) **पिछड़े हुए क्षेत्रों में पूँजी**—लोक क्षेत्र मे पूँजी विनियोग की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसका काफी भाग पिछड़े हुए प्रदेशों मे लगाया गया है। इस तथ्य का अनुमान निम्नलिखित अकों से लग सकता है :

विभिन्न राज्यो में लगी सरकारी पूँजी का प्रतिशत

राज्य	बिहार	मध्य प्रदेश	उड़ीसा	प० बंगाल	तमिलनाडू	उत्तर प्रदेश
प्रतिशत	१७.९	१५.७	१२.२	११.९	७.६	४.०

इन अंकों से स्पष्ट है कि बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा तथा उत्तर प्रदेश मे सरकार द्वारा काफी पूँजी लगायी गयी है। इनमें जन संख्या, आकार तथा औद्योगिक पिछड़ेपन को देखते हुए उत्तर प्रदेश में विनियोजित पूँजी बहुत कम है। पश्चिमी बंगाल तथा तामिलनाडू पिछड़े हुए राज्य नहीं है किन्तु इनमें प्राकृतिक साधनों का प्रयोग करने के लिए अधिक पूँजी लगायी गयी है।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि असम, हिमाचल प्रदेश तथा राजस्थान भी बहुत कम विकसित राज्य हैं। इनमें केन्द्रीय सरकार द्वारा बहुत कम पूँजी लगायी गयी है। असम मे कुल सरकारी पूंजी का १·८ प्रतिशत, हिमाचल प्रदेश मे केवल ०·१ प्रतिशत तथा राजस्थान मे केवल ०·८ प्रतिशत भाग लगाया गया है। अत. इन राज्यों में अधिक लोक क्षेत्रीय उद्योगों की स्थापना करना आवश्यक है ताकि इनके आर्थिक विकास की गति तेज हो सके।

लोक क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण औद्योगिक इकाइयाँ
[IMPORTANT INDUSTRIAL UNITS OF PUBLIC SECTOR]

लोक क्षेत्र की औद्योगिक इकाइयों का अध्ययन उद्योग के अनुसार करना उचित होगा। अतः उद्योग की दृष्टि से उन पर विचार किया जा रहा है।

(१) इस्पात उद्योग
(Steel Industry)

भारत सरकार द्वारा लोक क्षेत्र के उद्योगों मे लगायी गयी कुल पूँजी का लगभग २७ प्रतिशत भाग इस्पात उद्योग में लगाया गया है। इस उद्योग की केन्द्रीय सरकार के अधीन दो इकाइयाँ है। पहली हिन्दुस्तान स्टील लि० (Hindustan Steel Ltd.) तथा दूसरी बोकारो स्टील लि० (Bokaro Steel Ltd.)।

हिन्दुस्तान स्टील कम्पनी १९५३ में स्थापित की गयी थी। इसकी अधिकृत पूँजी १०० करोड़ रुपये निश्चित की गयी। इस कम्पनी की स्थापना राउरकेला स्टील प्लाट का निर्माण एवं प्रबन्ध करने के वास्ते की गयी थी। बाद मे दुर्गापुर तथा भिलाई मे इस्पात के कारखाने स्थापित कर दिये गये। अप्रैल, १९५७ मे इन दोनों इकाइयों को भी हिन्दुस्तान स्टील के अधीन कर दिया गया और इसकी अधिकृत पूँजी बढा कर ३०० करोड़ रुपये कर दी गयी।

पूँजी—मार्च, १९६२ मे इन तीनों इस्पात कारखानों की क्षमता में वृद्धि का निश्चय किया गया और हिन्दुस्तान स्टील की अधिकृत पूंजी बढ़ाकर ६०० करोड़ रुपये कर दी गयी।

३१ मार्च, १९७१ को हिन्दुस्तान स्टील में सरकार की कुल १,०२६ करोड़ रुपये की रकम विनियोजित थी। इस रकम मे से ५५७ करोड़ रुपये अंश पूँजी तथा शेष ४६९ करोड़ रुपये के ऋण थे। १९७१-७२ मे ९ करोड़ रुपये की अंश पूँजी बढाने की व्यवस्था है ताकि कम्पनी नयी योजनाएँ अपने हाथ मे ले सके।

उत्पादन—१९७०-७१ में हिन्दुस्तान स्टील के अधीन तीनों कारखानों में **तैयार इस्पात** का उत्पादन निम्नलिखित था :

भिलाई	१५.५	लाख टन
राउरकेला	६.८	,, ,,
दुर्गापुर	४.१	,, ,,
	२६.४	,, ,

इन तीनों कारखानों की उत्पादन क्षमता तो ४० लाख टन की है परन्तु पूरी क्षमता का उपयोग नहीं हो रहा है अतः उत्पादन केवल २६ लाख टन से कुछ अधिक ही रहा है। इतने कम उत्पादन का मुख्य कारण यह है कि राउरकेला तथा दुर्गापुर कारखानों में मजदूरों के उपद्रव नियमित रूप में होते रहे हैं। भिलाई का उत्पादन तेजी से बढ़ रहा है।

बोकारो स्टील—बोकारो स्टील लि० जनवरी १९६४ में स्थापित की गयी थी। इसका उद्देश्य लोक क्षेत्र में चौथा इस्पात कारखाना लगाना है। इसमें सोवियत संघ द्वारा तकनीकी तथा वित्तीय सहायता दी जायगी। सवियत सरकार ने इस निर्णय के अनुसार २० करोड़ रुबल का ऋण दिया है।

बोकारो स्टील की क्षमता ४० लाख टन इस्पात तैयार करने की होगी। पहले चरण में १७ लाख टन स्टील तैयार होगा। यह चरण १९७४ में पूरा हो जायगा। इस चरण में ही उत्पादन २५ लाख टन करने का निश्चय किया गया है। प्रथम चरण के पूरा होने में ७६० करोड़ रुपया खर्च होने का अनुमान लगाया गया है।

बोकारो स्टील की अधिकृत पूँजी ३८५ करोड़ रुपये निश्चित की गयी थी जो बढ़ा कर अब ५०० करोड़ रुपये कर दी गयी है। ३१ मार्च, १९७१ तक भारत सरकार ने इसमें ४१० करोड़ रुपये की अंश पूँजी तथा ९० करोड़ रुपये का ऋण दिया है। इस प्रकार इस योजना में सरकार द्वारा ५०० करोड़ रुपये की रकम लगायी जा चुकी है।

मैसूर—इन स्टील कारखानों के अतिरिक्त मैसूर राज्य में भद्रावती नामी स्थान पर एक छोटा सा इस्पात कारखाना है जो मैसूर राज्य द्वारा चलाया जा रहा है। इसकी स्थापना बहुत पहले हुई थी किन्तु इसे कम्पनी का रूप अप्रैल, १९६२ में दिया गया। इसकी कुल पूँजी लगभग २० करोड़ रुपये है। इसका उत्पादन १ लाख टन तक बढ़ाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं।

लाभ-हानि—हिन्दुस्तान स्टील को अपने आरम्भ काल से ही हानि सहन करनी पड़ी है। अपने आरम्भ से ३१ मार्च, १९७० तक इसकी कुल हानि लगभग १२८ करोड़ रुपये तक पहुँच गयी है।

मैसूर के कारखाने को भी ३१ मार्च, १९७० तक ७ करोड़ रुपये से अधिक हानि हो चुकी है।

नये कारखाने— १७ अप्रैल, १९७० को प्रधान मन्त्री इन्दिरा गाँधी ने सालेम (तमिलनाडू), रोजपेट (मैसूर) तथा विशाखापत्तनम् (आन्ध्र प्रदेश) में स्टील कारखाने लगाने की घोषणा की थी। यह तीनों कारखाने भारतीय इंजीनियरो द्वारा लगाये जायेंगे। इनके बारे में तकनीकी रिपोर्ट तैयार की जा रही है।

(२) खाद उद्योग
(Fertilizer Units)

१ जनवरी, १९६१ को सिन्द्री तथा नांगल की खाद फैक्टरियो का कार्य सम्भालने के लिए भारतीय खाद निगम की स्थापना की गयी। इस निगम की सात इकाइयाँ है जो अमोनियम सल्फेट, यूरिया, अमोनियम सल्फेट, नाइट्रेट में से सब या कुछ का उत्पादन करती है।

यह सात इकाइयाँ निम्नलिखित स्थानों पर है :

सिन्द्री (बिहार), नांगल (पंजाब), ट्राम्बे (महाराष्ट्र), नाम रूप (असम), गोरखपुर (उत्तर प्रदेश), कोरबा (मध्य प्रदेश) तथा दुर्गापुर (प० बंगाल)

निगम की अधिकृत पूँजी ७५ करोड़ रुपये है किन्तु इसमें कुल पूँजी २०५ करोड़ लगी हुई है। निगम की प्रायः सभी इकाइयाँ यूरिया का उत्पादन करती है। सिन्द्री, तथा दुर्गापुर अमोनियम सल्फेट भी बनाते है और ट्राम्बे तथा दुर्गापुर नाइट्रोजन भी उत्पादित करते है। इन सबका वार्षिक उत्पादन लगभग २० लाख टन तक पहुँच गया है। खाद निगम उन इकाइयों में से है जिनको नियमित लाभ मिल रहा है। १९६९-७० में इसे लगभग १.२० करोड़ रुपये का लाभ प्राप्त हुआ।

(३) तेल उद्योग
(Oil Industry)

तेल उद्योग से सम्बन्धित दो महत्त्वपूर्ण संस्थाएं है। एक तेल तथा प्राकृतिक गैस आयोग (Oil and Natural Gas Commission) तथा दूसरी भारतीय तेल निगम (Indian Oil Corporation) है। तेल तथा गैस आयोग की स्थापना १९५६ में हुई थी। इसका काम देश के विभिन्न भागों में तेल तथा गैस की खोज करना है। इसमें २०३ करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई है।

आयोग ने अंकलेश्वर, कलोल, नवगाँव (गुजरात) तथा नहारकटिया (असम) में तेल खोज निकाला है। इस तेल का शोधन करने के लिए लोक क्षेत्र में नूनमाटी (१९६२), बरौनी (१९६५), कोयली, कोचीन (१९६६), मद्रास तथा हल्दिया मे तेल शोधशालाएँ स्थापित की गयी है। इन तेल साफ करने के कारखानों की कुल क्षमता १०० लाख टन वार्षिक है।

तेल तथा गैस आयोग उन इनी-गिनी संस्थाओं में से है जिन्हे लोक क्षेत्र मे होते हुए भी लाभ हो रहा है। १९६९-७० में इस आयोग ने लगभग १२ करोड़ रुपये का लाभ कमाया।

भारतीय तेल निगम की स्थापना १९५९ में की गयी थी। इसमें लगभग १३२ करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई है। तेल निगम का काम तेल प्राप्त कर देश भर में उसकी उचित मूल्य पर बिक्री करना है। इस कार्य के लिए उसके देश भर में पूर्ति केन्द्र काम कर रहे हैं। तेल निगम को भी १९६९-७० में लगभग २२ करोड़ रुपये का लाभ प्राप्त हुआ।

(४) बिजली का भारी सामान

(Heavy Electricals)

बिजली का सामान बनाने के लिए भारी मशीनों का निर्माण करना आवश्यक होता है। अगस्त, १९५६ में इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भोपाल में एक कारखाना स्थापित किया गया जिसका नाम **हैवी इलेक्ट्रिकल्स लि०** रखा गया। इस कम्पनी का काम हरिद्वार (उत्तर प्रदेश), रामचन्द्रपुरम् (आन्ध्र प्रदेश), तिरुवेरुसम्बर (मद्रास) तथा भोपाल (मध्य प्रदेश) की परियोजनाओं को पूरा करना था। १७ नवम्बर, १९६४ को इनमें से पहली तीन को मिला दिया गया और उनका नाम **भारत हैवी इलैक्ट्रिकल्स लि०** (Bharat Heavy Electricals) रख दिया गया।

भोपाल की इकाई हैवी इलैक्ट्रिकल्स के नाम से अलग बनी रह गयी है।

इन दोनों इकाइयों द्वारा बिजली का भारी सामान तथा मशीनें आदि बनायी जाती हैं। इनमें कुल मिलाकर लगभग ३०० करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई है।

यह दोनों ही इकाइयाँ हानि में चल रही हैं। १९६९-७० में ही इनको ९ करोड़ रुपये से अधिक हानि उठानी पड़ी।

(५) इंजीनियरी उद्योग

(Engineering Industry)

औद्योगिक विकास के लिए छोटी और बड़ी मशीनें तथा औजार बनाने के कारखाने स्थापित करना बहुत आवश्यक है। बड़ी मशीनें छोटी मशीनें बनाने के काम आती हैं और उन मशीनों को चालू रखने के लिए औजार बनाना बहुत आवश्यक है।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ३१ दिसम्बर, १९५८ को भारी इंजीनियरी निगम (Heavy Engineering Corporation) राँची में स्थापित किया गया। इस निगम की तीन इकाइयाँ हैं :

(i) भारी मशीनें बनाने की इकाई जो प्रति वर्ष १ लाख टन से अधिक वजन की भारी मशीनें निर्माण करेगी।

(ii) पुर्जे ढालने की इकाई जिसकी वार्षिक क्षमता लगभग २ लाख टन होगी।

(iii) भारी मशीनी औजार इकाई जिसकी वार्षिक क्षमता १०,००० टन होगी।

इनमें से पहली इकाई सोवियत संघ की सहायता से स्थापित की गयी है। दूसरी तथा तीसरी इकाइयों की स्थापना चेकोस्लोवाकिया की सहायता से हुई है।

इस निगम में ३१ मार्च, १९७१ को भारत सरकार की कुल लगभग २७४ करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई थी।

इंजीनियरी निगम भी प्रायः हानि पर ही चलता रहा है। आरम्भ से ३१ मार्च, १९७१ तक इसकी कुल हानि का अनुमान लगभग ५९ करोड़ रुपये लगाया गया।

दूसरी संस्था हिन्दुस्तान मशीन टूल्स लि० (Hindustan Machine Tools Ltd.) बंगलौर में है। यह घड़ियाँ तथा मशीनों के अन्य औजार बनाती है। इसकी शाखाएँ पिंजोर (पंजाब) तथा अजमेर में है। इसकी स्थापना १९५३ में हुई थी। इसमें सरकार की लगभग २९ करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई है।

इन संस्थाओं के अतिरिक्त त्रिवेणी स्ट्रक्चरल्स लि० तथा इंजीनियरिंग प्राडक्टस लि० है। पहला संस्थान नैनी में है। इसमें सरकार की लगभग ६ करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई है। यह संस्था स्टोरेज टैंक, ट्रांस्मिशन टावर, इस्पात के पुल, क्रेन तथा मकानों के लिए अन्य भारी सामान तैयार करती है।

इंजीनियरिंग प्राडक्ट्स की स्थापना अप्रैल, १९७० में हुई थी। यह इस्पात कारखानों, खानों, खाद फैक्टरियों आदि के लिए साज सामान तथा उपकरणों की व्यवस्था के लिए स्थापित की गयी है।

(६) कोयला विकास
(Coal Development)

कोयले के विकास के लिए दो महत्त्वपूर्ण निगम बनाये गये हैं। पहला राष्ट्रीय कोयला विकास निगम (National Coal Development Corporation Ltd.) है जिसकी स्थापना १९५६ में राँची में की गयी। निगम सरकार द्वारा संचालित कोयला खानों का प्रबन्ध सम्भालता है। इस निगम के अन्तर्गत २४ कोयला खानें हैं जिनसे प्रति वर्ष लगभग १·५ करोड़ टन कोयला निकाला जाता है। निगम चार स्थानों पर कोयला धोने की इकाइयाँ चला रहा है जिनमें प्रतिवर्ष लगभग २० लाख टन कोयला धोया जाता है।

कोयला निगम मे लगभग १८५ करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई है। इसमें १९६९-७० में १ करोड़ रुपये से कुछ अधिक का लाभ हुआ।

दूसरा निगम नीवेली लिगनाइट कार्पोरेशन है जिसकी पूँजी लगभग १७० करोड़ रुपये है। यह लिगनाइट कोयले के खनन तथा विकास के लिए उत्तरदायी है। नीवेली निगम में १९६९-७० में लगभग ४.४ करोड़ रुपये की हानि हुई। गत वर्षो में भी इसमें हानि होती रही है।

(७) जहाजी व्यवसाय
(Shipping Industry)

भारत में जहाज बनाने का एक कारखाना है जिसकी स्थापना विशाखापत्तनम् में १९४० मे की गयी थी। इसे सिंधिया कम्पनी ने स्थापित किया था, किन्तु १९५२

में इसे भारत सरकार द्वारा खरीद लिया गया। इसका प्रबन्ध चलाने के लिए **हिन्दुस्तान शिपयार्ड लि०** की स्थापना की गयी। यह प्रति वर्ष चार जहाज निर्माण करता है। हिन्दुस्तान शिपयार्ड लि० में १० करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई है। यह संस्थान लाभ में चल रहा है।

दूसरा शिपयार्ड कोचीन में बनाया जा रहा है जिसमें जापान से सहायता मिल रही है।

अन्य—इन औद्योगिक इकाइयों के अतिरिक्त खनिज विकास, नमक, टेलीफोन, दवाएँ तथा जन्तुनाशक पदार्थों के लिए औद्योगिक इकाइयाँ स्थापित की गयी हैं।

लोक क्षेत्र के उद्योगों में लाभ-हानि

साधारण रूप में लोगों की यह मान्यता है कि सरकारी उद्योग लाभ कमाने के लिए नहीं होते, जनता की सेवा के लिए स्थापित किये जाते हैं। यह बात न तो सैद्धान्तिक रूप में सही है न व्यवहार में उचित मानी जा सकती है। लोक क्षेत्र के उद्योगों को उचित मात्रा में लाभ कमाना ही चाहिए ताकि उनसे सरकार की कुल आय में वृद्धि हो सके। इस आय की रकम से सरकार नयी औद्योगिक इकाइयाँ स्थापित कर सकती है या पुरानी इकाइयों का विस्तार कर सकती है।

भारत के उद्योग—भारत में लोक क्षेत्र में ३१ मार्च, १९७० को ९१ इकाइयाँ थीं जिन पर ४,३०१ करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई थी (इनमें रेलें सम्मिलित नहीं हैं), इनमें से १९६९-७० में ३९ इकाइयों ने लगभग ७१ करोड़ रुपये का लाभ कमाया जबकि ५२ इकाइयों को ६४ करोड़ रुपये की हानि हुई। इस प्रकार ४,३०० करोड़ रुपये पर कुल ७ करोड़ रुपये का शुद्ध लाभ हुआ जो ०·१७ प्रतिशत मात्र है।

जिन इकाइयों में विशेष लाभ है उनके नाम तेल निगम, तेल तथा गैस आयोग, राज्य व्यापार निगम, भारत इलेक्ट्रोनिक्स, एयर इंडिया, टेलीफोन, खाद्य निगम, राष्ट्रीय कोयला निगम आदि हैं। विशेष हानि उठाने वाले उद्योगों के नाम हैवी इंजीनियरिंग कारपोरेशन, हैवी इलैक्ट्रिकल्स, नीवेली लिगनाइट निगम, तथा अन्य निगम हैं। इनमें से अनेक निगम ऐसे हैं जिनपर अभी पूरी शक्ति से काम होना आरम्भ नहीं हुआ है।

हानि के कारण और उपाय

लोक क्षेत्र के उद्योगों या अन्य संस्थानों में जो हानि हो रही है या सामान्य दर से बहुत कम लाभ हो रहा है, उसे ठीक करने के लिए निम्नलिखित काम किये जाने चाहिए :

(१) **उत्पादन शक्ति**—इनकी उत्पादन शक्ति प्रायः पूरी तरह काम में नहीं ली जाती। इसे पूरी तरह काम में लेना चाहिए ताकि इनके उत्पादन में वृद्धि हो सके। अधिक उत्पादन होने से इन उद्योगों के लाभ की दर उचित स्तर पर आ जायेगी।

(२) **सत्ता का विकेन्द्रीकरण**—लोक क्षेत्र के उद्योगों में प्रायः निर्णय लेने में देर होती है क्योंकि निर्णय लेने का अधिकार किसी एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के हाथ में होता है। यह व्यक्ति नौकरशाही की परम्पराओं में पले हुए होते है। अतः इन्हें छोटी से छोटी बात का निर्णय लेने में देर होती है जिससे अनेक बार उद्योगों को वहुत हानि उठानी पड़ती है।

(३) **प्रवन्ध व्यवस्था**—लोक क्षेत्र के उद्योगो मे प्रायः केन्द्रीय प्रशासनिक सेवा (I, A. S.) या राज्य प्रशासनिक सेवा के व्यक्तियों को अध्यक्ष, सामान्य व्यवस्थापक, महाप्रवन्धक आदि नियुक्त किया जाता है। इन व्यक्तियों को उद्योगों के संचालन का कोई अनुभव नही होता। यह व्यक्ति एक-दो वर्ष में कुछ अनुभव प्राप्त करते है तब तक इनकी वदली किसी दूसरे स्थान पर कर दी जाती है। इस प्रकार इन संस्थानों के प्रवन्धक जल्दी-जल्दी बदलते है। यह सर्वथा अनुचित नीति है। उचित तो यह है कि औद्योगिक संस्थानों के लिए प्रवन्धकों का एक अलग समूह बनाया जाना चाहिए जिसके प्रत्येक व्यक्ति को उचित प्रशिक्षण देकर उद्योगों के संचालन के योग्य बनाया जाना चाहिए। इन व्यक्तियों को औद्योगिक सेवा के लिए ही निश्चित कर दिया जाना चाहिए ताकि इनकी वार-वार वदली नही करनी पड़े। इससे प्रवन्ध व्यवस्था मे सुधार होगा, उत्पादन में वृद्धि होगी, लागत कम होगी और इन औद्योगिक इकाइयों को लाभ होने लगेगा।

(४) **श्रम नीति**—लोक क्षेत्र के उद्योगो के लिए एक सही और दृढ़ श्रम नीति अपनायी जानी चाहिए जिससे इन उद्योगों में शान्ति भी वनी रहे और इनमे उत्पादन में हानि होने का भय न रहे। इसके लिए श्रमिको मे स्वामित्व की भावना उत्पन्न करना वहुत आवश्यक है। वर्तमान मे लोक क्षेत्र मे काम करने वाले व्यक्ति अत्यन्त लापरवाही से काम करते है क्योंकि उनकी सेवा की शर्ते ऐसी है कि उनमें हानि होने पर उन्हें कोई सजा नहीं मिलती तथा अधिक लाभ होने पर कोई पारितोषिक नही मिलता। इन उद्योगों में ऐसी परम्पराएं डालनी चाहिए कि अच्छा काम करने वाले को पारितोषिक मिल सके तथा घटिया काम करने वालों को दंडित किया जा सके।

इसके लिए अच्छे काम की न्यायसंगत परिभाषा अपनानी आवश्यक है।

(५) **नयी प्राविधियाँ**—अनेक सरकारी उद्योगों में अव भी उत्पादन, लागत, वजट आदि के वारे में पुराने तरीके और पुरानी परम्पराएँ ही अपनायी जाती है। यह किसी भी दृष्टि से उचित स्थिति नहीं कही जा सकती। इन उद्योगों में नवीनतम तकनीक तथा श्रेष्ठतम प्राविधियां अपनायी जानी चाहिएं और पुराने घिसे-पिटे तरीकों में सुधार किया जाना चाहिए।

(६) **मूल्यांकन**—लोक क्षेत्र के उद्योगों में जनता की रकम लगती है। उस रकम का श्रेष्ठतम प्रयोग हो इसके लिए इन इकाइयों के समय-समय पर मूल्यांकन

की व्यवस्था की जानी चाहिए। इन मूल्यांकनों की रिपोर्ट प्रकाशित की जानी चाहिए और इन्हें इन उद्योगों के कर्मचारियों की जानकारी में भी लाना चाहिए।

लोक उद्योगों की कार्य क्षमता या सेवा स्तर के बारे में समय-समय पर जनता का मत जानने की चेष्टा की जानी चाहिए और जनता के मत की जानकारी कर्मचारियों को भी दी जानी चाहिए ताकि कर्मचारियों को अपने बारे में जनता की राय का पता लग सके। इससे इन उद्योगों के प्रबन्ध में कुछ कुशलता आने की सम्भावना हो सकती है।

(७) **सार्वजनिक प्रतिष्ठा तथा जानकारी**—लोक क्षेत्र के उद्योग अनेक बार बहुत उपयोगी काम करते हैं किन्तु उनके उपयोगी काम की सही जानकारी जनता को नहीं मिलती। इससे लोक क्षेत्र के उद्योगों को जो सामाजिक प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए, वह नहीं मिल पाती। अत. लोक क्षेत्र के उद्योगों की उपलब्धियों के विषय में समय-समय पर पत्रिकाएँ, पुस्तिकाएँ या विज्ञापन प्रकाशित किये जाने चाहिए ताकि उनके बारे में गलत धारणाएँ दूर हो सकें और उनका सही स्वरूप समाज के सामने आ सके।

प्रशासनिक सुधार आयोग के सुझाव
(Recommendations of the Administrative Reform Commission)

लोक क्षेत्र के उद्योगों को लाभदायक बनाने की दृष्टि से प्रशासनिक आयोग द्वारा निम्नलिखित सुझाव दिये गये हैं :

(१) **क्षेत्रीय निगम**—आयोग का मत है कि सारी औद्योगिक क्रियाओं को कुछ वर्गों में बाँट कर कुछ निगम बना दिये जाने चाहिए जो एक निश्चित क्षेत्र की सब औद्योगिक इकाइयों की देख-रेख कर सके। उदाहरण के लिए इस्पात के सभी सरकारी कारखानों को एक प्रबन्ध में ले लेना चाहिए, तेल साफ करने वाली इकाइयों का प्रबन्ध एक निगम को सौंप देना चाहिए। इससे प्रबन्ध व्यवस्था कुशल हो सकेगी और लागत में कमी आ जायेगी।

(२) **प्रबन्ध व्यवस्था**—आयोग ने प्रत्येक उद्योग से सम्बन्धित जानकारों को निदेशक मंडल या प्रबन्ध मंडल के सदस्य नियुक्त करने का सुझाव दिया है। इससे उचित समय पर उचित निर्णय लिए जा सकेंगे और कुशलता में वृद्धि हो सकेगी।

(३) **लोक उपक्रम संस्थान**—तीसरा सुझाव यह दिया गया है कि लोक क्षेत्रीय उद्योगों के लिए जो संस्थान (Bureau of Public Enterprises) है उसके कार्य क्षेत्र को बढ़ाया जाना चाहिए। उसे केवल कुछ प्रकाशन निकालकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। उसके द्वारा इन उद्योगों की विभिन्न समस्याओं का विश्लेषण किया जाना चाहिए और नीति निर्धारण में मार्ग दर्शन किया जाना चाहिए।

(४) **आन्तरिक अंकेक्षण**—आयोग ने इन उद्योगों के वित्तीय प्रबन्ध को अधिक कुशल बनाये जाने का सुझाव दिया है। इसके लिए आन्तरिक अंकेक्षण प्रणाली में सुधार का सुझाव दिया गया है।

(५) **नियुक्ति प्रणाली**—प्रशासनिक सुधार आयोग का मत है कि इन उद्योगों को विशेषज्ञों तथा अधिकारियों की नियुक्ति की प्रणाली उचित नहीं है। सभी व्यक्तियों को सरकारी सेवाओं में से लेने के कारण इनका प्रशासन नौकरशाही के शिकंजे में जकड़ गया है। इसे मुक्त करने के लिए खुले बाजार से अनुभवी तथा क्रियाशील व्यक्तियों का चयन किया जाना चाहिए जो क्रान्तिकारी नीतियों को अपना सकें।

(६) **अंकेक्षक मण्डलों का गठन**—प्रशासनिक सुधार आयोग ने लोक क्षेत्र के उद्योगों के हिसाब किताब की नियमित तथा उचित जाँच के लिए चार या पाँच अंकेक्षक मण्डलों के गठन का सुझाव दिया है। यह अंकेक्षक मण्डल नियन्त्रक तथा महा-अंकेक्षक के निर्देश में ही काम करेंगे।

इस प्रकार प्रशासनिक सुधार आयोग के सुझाव इन उद्योगों के प्रशासनिक, वित्तीय तथा जाँच सम्बन्धी कार्यों को कुशल तथा श्रेष्ठ बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान कर सकते है। सरकार को इन दिशाओं में तत्काल उचित परिवर्तन तथा सुधार करने का प्रयत्न करना चाहिए।

अभ्यास प्रश्न

१. लोक क्षेत्रीय उद्योगो के क्या उद्देश्य हो सकते है ? क्या उनका लक्ष्य समाजवाद की स्थापना करना होता है ?
२. भारत में लोक क्षेत्रीय संस्थानों के संगठन और प्रबन्ध व्यवस्था का विश्लेषण कीजिए।
३. भारत में लोक क्षेत्रीय उपक्रमों के विशेष तत्त्वों की व्याख्या कीजिए।
४. भारत में राज्य द्वारा किन महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों मे औद्योगिक इकाइयाँ स्थापित की गयी है ? इन क्षेत्रों का देश की अर्थ-व्यवस्था मे क्या महत्त्व है ?
५. भारत में इस्पात, तेल तथा खाद उद्योगों की लोक क्षेत्रीय इकाइयों पर टिप्पणी लिखिए।
६. भारत में लोक क्षेत्रीय उद्योगों के दो महत्त्वपूर्ण वर्गों का ब्योरा लिखिए तथा उनका महत्त्व स्पष्ट कीजिए।
७. भारत में लोक क्षेत्र के उद्योगों में हानि के क्या कारण है ? उन्हे दूर करने के लिए क्या उपाय किये जाने चाहिए ?
८. प्रशासनिक सुधार आयोग द्वारा लोक क्षेत्र के उपक्रमों में सुधार करने के लिए जो सुझाव दिये है उनकी आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

१३ लोक क्षेत्र में बैंकिंग

(BANKING IN THE PUBLIC SECTOR)

बैंक तथा अन्य उद्योगों में भेद

बैंकिंग एक सेवा व्यवसाय है। इसमें व्यक्तिगत सम्पर्क का अत्यधिक महत्त्व होता है। क्योंकि ग्राहक बैंकर के निरन्तर सम्पर्क में आता है और उसके व्यवहार से प्रभावित होता है। अन्य उद्योगों में विज्ञापन और विक्रय कला का अधिक महत्त्व होता है जबकि बैंक की श्रेष्ठ सेवाएँ ही उसका सबसे बड़ा विज्ञापन होती हैं। दायित्व की दृष्टि से भी बैंकों की जिम्मेदारी बहुत अधिक होती है क्योंकि वह अन्य व्यक्तियों के धन में लेन-देन करते हैं। उस धन की सुरक्षा तथा श्रेष्ठतम प्रयोग—दोनों बातों का ध्यान रखा जाना आवश्यक है।

बैंकिंग तथा अन्य उद्योगों के भेद निम्नलिखित बातों से स्पष्ट हो सकते हैं :

(१) **व्यापार वस्तु-मुद्रा**—बैंकों की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि बैंक मुद्रा में लेन-देन करते हैं। अन्य उद्योगों में विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन होता है और उन वस्तुओं को बेचने की व्यवस्था की जाती है। बैंक मुद्रा में ही व्यापार करते हैं। कुछ व्यक्तियो का मान्यता है कि "बैंक मुद्रा का क्रय-विक्रय करते हैं।" इसका अर्थ यह है कि बैंक पूँजी उधार देते हैं और पूँजी जमा करते हैं। इस पूँजी के बदले ब्याज लिया दिया जाता है।

बैंक की इस विशेषता के कारण सरकार के लिए दो काम करने आवश्यक हो जाते हैं :

(i) ब्याज दरों को नियन्त्रित रखना, तथा

(ii) उधार की क्रियाओं का नियमन करना।

(२) **राष्ट्रीय बचतों के संरक्षक**—बैंकों की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह समाज के विभिन्न वर्गों द्वारा जमा की गयी छोटी-छोटी रकमों को जमा करने वालों को आवश्यकता पड़ते ही यह रकमें लौटा देते हैं। इस प्रकार जमा की गयी रकमों को भी उधार देकर एक ओर तो वह व्यापार तथा उद्योग के विकास में सहायक होते हैं, दूसरी ओर अपने लिए लाभ कमाते हैं।

इस विशेषता का एक उल्लेखनीय पहलू यह है कि बैंक दूसरों के धन में व्यापार करते हैं और उससे लाभ कमाते हैं। उदाहरण के लिए भारत के सभी बैंकों की अंश पूँजी लगभग ५० करोड़ रुपये है जबकि बैंकों में जमा रकम ५,००० करोड़ रुपये से भी अधिक है। इस दृष्टि से बैंकों के कुल साधनों में अधिकांश भाग जमा करने वाले ग्राहकों का ही होता है। किन्तु बैंकों की नीति निर्धारण में रकम जमा करने वालों का कोई हाथ नही होता। अतः बैंकों के असली मालिक (जिनके ५००० करोड़ रुपये जमा है) कुछ नहीं कर सकते जबकि थोड़ी सी रकम लगाने वाले अंशधारी (५० करोड़ रुपये के मालिक) बैंकों के मालिक माने जाते हैं और बैंकों की नीति इनके द्वारा चुने गये निदेशकों द्वारा निर्धारित होती है। यदि यह व्यक्ति बैंकों के धन का दुरुपयोग करें तो इनकी तो ५० करोड़ रुपये की ही पूँजी डूबेगी, जमा करने वालों की ५,००० करोड़ रुपये की रकम डूब जायेगी। अतः जमा करने वालों के हितों की रक्षा करने के लिए बैंकों की ऋण नीति या पूँजी लगाने सम्बन्धी नीति पर सरकार का पूरा नियन्त्रण होना चाहिए।

अन्य उद्योगों में गलत नीति अपनाने से पूँजी लगाने वाले अंशधारियों को ही हानि होती है, सामान्य व्यक्तियों को नहीं। अतः बैंकों में अन्य उद्योगों की बजाय सरकारी हस्तक्षेप अधिक आवश्यक है।

(३) साख निर्माण—सामान्य उद्योगों की एक विशेषता यह होती है कि वह किसी न किसी वस्तु का उत्पादन या निर्माण करते हैं। बैंकों द्वारा किसी वस्तु का निर्माण नही किया जाता। वह जमा रकम के आधार पर साख का निर्माण करते हैं। यह एक आश्चर्यजनक किन्तु सही तथ्य है कि किसी बैंक के पास १०० रुपया जमा होने पर वह इससे चार, पाँच या अधिक गुनी रकम उधार दे सकता है।

इस प्रकार बैंकों की उधार देने की शक्ति बहुत व्यापक होती है। अतः यदि उचित नियन्त्रण नहीं किया जाय तो साख का प्रसार बहुत तेजी से होने लगता है और वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होने का भय रहता है। इस दृष्टि से भी बैंकों की नीति में सरकार का उचित हस्तक्षेप बहुत आवश्यक होता है।

(४) शाखाएँ—बैंक तथा अन्य उद्योगों में एक बड़ा भेद यह है कि बैंक देश विदेश में जगह-जगह अपनी शाखाएँ खोलते हैं जबकि औद्योगिक इकाइयों को अपनी शाखाएँ खोलने की कोई आवश्यकता नहीं होती। बैंकों का शाखा विस्तार कभी-कभी भयंकर प्रतिस्पर्द्धा का रूप ग्रहण कर सकता है जिससे देश को हानि हो सकती है। अतः शाखाओं का उचित नियमन करने के लिए भी सरकार का हस्तक्षेप बहुत आवश्यक है।

(५) व्यक्तिगत सेवा—उद्योगों में प्रायः उद्योगपति या प्रबन्धक वास्तविक ग्राहकों के सम्पर्क में नहीं आते। उनका माल थोक विक्रेताओं को बेचा जाता है, थोक विक्रेता फुटकर व्यापारियों को बेचते हैं और फुटकर व्यापारी ग्राहकों को बेचते हैं। बैंकों में सारा लेन-देन बिलकुल प्रत्यक्ष होता है जिसमें वह ग्राहकों के सीधे

सम्पर्क में आते हैं। अतः बैंकों को नयी-नयी सेवाएँ आरम्भ करनी पड़ती हैं, पुरानी सेवाओं में सुधार करना पड़ता है तथा ग्राहकों की इच्छा, स्वभाव आदि का ध्यान रखना पड़ता है।

इस विशेषता के सन्दर्भ में सरकार का केवल यह काम होता है कि वह बैंकों को नयी सेवाएँ प्रचलित करने में सहायता करे तथा उनके लिए उचित वातावरण तैयार करने में नैतिक या आर्थिक सहयोग प्रदान करे।

(६) **सूचना के स्रोत**—बैंक उद्योगों के लिए आवश्यकता के समय पूँजी की व्यवस्था करते हैं और उनके लिए विदेशों में भी भुगतान कर देते हैं। बैंकों की विदेशों में शाखाएँ होती हैं जिनके माध्यम से वह विभिन्न देशों के व्यापारियों तथा उद्योगपतियों के बारे में सही सूचना संग्रह कर अपने देश के व्यापारियों को दे सकते हैं। विदेशों में व्यापार की प्रगति तथा वस्तुओं की माँग के विषय में भी बैंकों का योगदान महत्त्वपूर्ण हो सकता है।

इस प्रकार बैंकिंग एक ऐसा उद्योग है जो उद्योगों को अनेक प्रकार की सहायता और सेवा प्रदान करता है। अतः इसका उचित दिशाओं में नियमन होना बहुत आवश्यक है।

क्या बैंकों को सरकारी स्वामित्व में ले लेना चाहिए ?

बैंकिंग की अलग विशेषताओं के कारण ही भारत में कुछ व्यक्तियों का मत रहा है कि बैंकों को सरकारी अधिकार में ही ले लेना चाहिए। बैंकों को सरकारी स्वामित्व में लेने की क्रिया को **राष्ट्रीयकरण** कहा जाता है। यदि बैंकों की नीतियों का सरकार द्वारा नियन्त्रण हो तो इस क्रिया को **सामाजिक नियन्त्रण** कहते हैं। इन दोनों ही नीतियों का अत्यधिक महत्त्व है : अतः इन दोनों के बारे मे विस्तार से विचार किया जाना आवश्यक है।

राष्ट्रीयकरण के पक्ष में तर्क

भारत में बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते रहे हैं :

(१) **अव्यवस्था**—भारतीय निजी बैंकिंग का इतिहास अव्यवस्था, अनौचित्य, कुप्रबन्ध एवं धन के दुरुपयोग का इतिहास है। देश के अनेक बैंक पूँजीपतियों के प्रभाव क्षेत्र में हैं और यह पूँजीपति इन बैंकों का धन अपने व्यक्तिगत स्वार्थ साधन के लिए काम में लाते हैं। इन बैंकों के संचालकों के प्रभाव के कारण बैंकों की **बहुत-सी राशि सट्टे के लिए प्रयुक्त की जाती है।** इन सब दोषों को कानून द्वारा समाप्त करना अत्यन्त कठिन है। अतः बैंकों का राष्ट्रीयकरण ही इनका एकमात्र उपाय है।

(२) **जनहित**—रिजर्व बैंक की स्थापना (१९३५) और भारतीय बैंकिंग विधान के लागू होने (१९४९) के पश्चात् भी देश में बैंकों के बन्द होने का क्रम रुका नहीं है। वर्तमान में भी देश में कुछ बैंक हानि पर चल रही हैं। यह स्थिति निश्चय ही असन्तोषजनक एवं असह्य है। गत वर्षों की बैंक असफलताओं ने रिजर्व

बैंक की अक्षमता एवं लापरवाही को प्रकट कर दिया है। अतः जमाकर्ताओं के हितों की रक्षा के लिए बैंकों को सरकारी अधिकार में लिया जाना आवश्यक है।

(३) **औद्योगिक विकास**—देश में उचित मात्रा मे वांछित क्षेत्रों में साख प्रसार करने का कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि अधिक साख प्रसारित होने पर देश में मूल्य-वृद्धि का भय उत्पन्न हो जाता है और साख की कमी से देश की औद्योगिक एवं व्यावसायिक प्रगति को धक्का लगता है। बहुधा रिजर्व बैंक द्वारा साख नियन्त्रण के लिए नये-नये साधन अपनाने पड़ते है और उनकी सफलता भी प्राय. संदिग्ध रहती है। इस दृष्टि से देश के व्यावसायिक हितानुसार साख प्रसारित करने की एकमात्र पद्धति यही है कि बैंक का राष्ट्रीयकरण कर लिया जाय।

(४) **सरकारी नीति की सफलता**—भारत में एक समाजवादी समाज की स्थापना का निश्चय किया गया है जिसमें किसी का शोषण न हो और कोई भूखा-नंगा न रहे। इस नीति की सफलता के लिए शोषण के सम्पूर्ण साधनों को सरकारी नियन्त्रण में लेना आवश्यक है। भारतीय बैंकों के पास अरबों रुपये की पूँजी है जिसका उपयोग राष्ट्रीय हितों में करने का एकमात्र तरीका यह है कि देश के पिछड़े हुए ग्रामीण क्षेत्रों में बैंक की अधिकाधिक शाखाएँ खोली जायें, बड़े-बड़े बैंकों के लिए यह कर सकना कठिन नही है क्योंकि वह बहुत बड़ी राशि लाभ के रूप में कमातेहै और छोटे स्थानों पर शाखाएँ खोलने में उन्हें इस लाभ के कुछ भाग से वंचित रहना पड़ेगा। निजी बैंक किसी भी दशा में अपनी लाभ-राशि कम करने को तैयार नही है अतः देश के बैंकिंग विकास के लिए बैंकों का राष्ट्रीयकरण करना ही हितकर है। राष्ट्रीयकरण होने पर बैंक देश के कोने-कोने में फैल सकेंगे, देश का ग्रामीण जनता को (जिसकी आय गत वर्षों में बढ गयी है) अधिक बचत करने के लिए प्रोत्साहित कर सकेंगे तथा देश की सम्पूर्ण बचत पूँजी का प्रयोग अधिकाधिक राष्ट्रीय हित में हो सकेगा जिससे देश मे समाजवादी समाज की स्थापना में सहयोग मिलेगा।

(५) **योजनाओं में सहयोग**—बैंकों के राष्ट्रीयकरण से देश की जनता को भारतीय बैंकिंग प्रणाली में अधिकाधिक विश्वास हो जायेगा जिससे बैंकों की जमा राशि में समुचित वृद्धि होने की सम्भावना है। इससे भारत सरकार को केवल काफी अधिक राशि राष्ट्रीय विकास में प्रयुक्त करने के लिए प्राप्त हो जायेगी बल्कि सरकार के हाथों एक ऐसी कामधेनु लग जायगी जिसके साधनों में निरन्तर वृद्धि होती रहेगी। इससे भारतीय योजनाओं की सफलता में अधिकाधिक सफलता मिल सकेगी।

(६) **विदेशी व्यापार**—भारत के विदेशी व्यापार के लिए अधिकांश वित्तीय व्यवस्था अभी तक विदेशी बैंकों के हाथ में हैं क्योंकि भारतीय बैंकों के साधन कम है और वह यथेष्ट मात्रा में विदेशी व्यापार के लिए ऋण नही दे सकते। बैंकों के राष्ट्रीयकरण से वह एक केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत आ जायेंगे जिससे उनके साधनों

में आशातीत वृद्धि हो जायेगी और कुछ बैंक जिन्हें विदेशी विनिमय व्यवसाय करने की अनुमति दी जायेगी, यथेष्ट मात्रा में विदेशी व्यापार के लिए धन की व्यवस्था कर सकेंगे। इससे विदेशी बैंकों के विरुद्ध की गयी शिकायतों का भी अन्त हो जायेगा और भारतीयों को ही विदेशी व्यापार का सम्पूर्ण लाभ मिल सकेगा।

भारतीय विदेशी व्यापार में एक अत्यन्त गम्भीर दोष यह है कि देश से निर्यात होने वाले माल से कम राशि के बीजक (Under-invoicing) बनाये जाते हैं जिससे भारत को विदेशी विनिमय की अधिकृत आय कम होती है। जितनी कम राशि के बीजक बनाये जाते हैं वह प्राय: निर्यातकर्ता के व्यक्तिगत खाते में अमरीका अथवा स्विटजरलैण्ड के बैंकों में जमा होती रहती है और इसका प्रयोग स्वर्ण का तस्कर व्यापार अथवा अन्य अनैतिक अथवा अवैध कार्यों के लिए किया जाता है। बैंकों के राष्ट्रीयकरण से इस अनैतिक प्रथा के मार्ग में अड़चन उत्पन्न हो जायेगी क्योंकि बैंकों को प्राय: इस प्रकार की अवैध कार्यवाहियों का पता चले बिना नहीं रहता। सार्वजनिक क्षेत्र में होने के कारण यह कम बीजक बनाने की प्रथा का अन्त करने में सहायक हो सकेंगे और इस प्रकार देश की बहुमूल्य विदेशी विनिमय की चोरी बन्द हो जायेगी।

(७) **महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों के लिए सुविधाजनक ऋण**—भारतीय बैंकों पर यह आरोप लगाया गया है कि वह केवल बड़े-बड़े उद्योग तथा महत्त्वपूर्ण व्यावसायिक इकाइयों को ही रकम देते हैं, उन्होंने कृषि तथा लघु उद्योगों (जो देश की अर्थ-व्यवस्था में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं) को आर्थिक सहायता देने की दिशा में कोई रुचि नहीं दिखलायी है। इन क्षेत्रों में ऋण देने में जोखिम अधिक है अत: यह कार्य केवल सरकारी बैंक ही कर सकते हैं। इसलिए कृषि तथा लघु उद्योगों के लिए पर्याप्त धन की व्यवस्था करने के लिए व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण करना बहुत आवश्यक है।

(८) **बैंकिंग सेवाओं का विस्तार**—भारत में अधिकांश जनता ग्रामों में रहती है और गत वर्षों में ग्रामीण क्षेत्रों में बहुत रकम विनियोजित की गयी है अत: उस रकम का एक भाग राष्ट्रीय बचतों के रूप में प्राप्त करने के लिए ग्रामों में बैंकों की शाखाएँ खोलना बहुत आवश्यक है। यह कार्य भी तत्काल लाभ देने वाला नहीं है अत: इसमें निजी बैंक रुचि नहीं लेंगे, इसलिए ग्रामों में बैंक सुविधाओं का विस्तार राष्ट्रीयकरण किये बिना नहीं हो सकता।

राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध तर्क

भारतीय बैंकों के राष्ट्रीयकरण के उपर्युक्त लाभ बहुत कुछ काल्पनिक ज्ञात होते हैं क्योंकि बैंकिंग व्यवसाय के दोषों के लिए राष्ट्रीयकरण रामबाण नहीं है। इसका अनुमान निम्नलिखित बातों से लगता है :

(१) **रिजर्व बैंक द्वारा अधिकारों का प्रयोग**—भारतीय बैंकिंग अधिनियम के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को भारतीय बैंकों के नियमन तथा नियन्त्रण के अत्यन्त

व्यापक अधिकार प्रदान किये गये हैं। यदि इन अधिकारों का प्रयोग तत्परता से किया जाय तो भी बैंकों में व्याप्त दोष दूर हो सकते हैं।

(२) **कुशलता में कमी**—राष्ट्रीयकरण से भारतीय बैंकों में काम करने का उत्साह समाप्त हो जायेगा, उनमें सरकारी तानाशाही उत्पन्न होने का भय रहेगा और कर्मचारियों में जो कुछ सेवा भाव है वह उनकी नौकरी अत्यधिक सुरक्षित हो जाने के कारण समाप्त हो जायेगा। सरकारी अकुशलता का एक प्रमाण जीवन बीमा निगम के विनियोगों से मिल सकता है जिसके द्वारा लाखों रुपये अवांछनीय अंशों में विनियोजित किये गये और श्री फिरोज गाँधी द्वारा उन्हें प्रकाश मे लाये जाने पर एक विशेष अदालत में श्री हरिदास मूंदड़ा पर मुकदमा चलाया गया और अन्ततः भारत सरकार के वित्त सचिव (एच० एम० पटेल) तथा वित्त मन्त्री (श्री टी० टी० कृष्णमाचारी) को अपदस्थ होना पड़ा था। बैंकों के राष्ट्रीयकरण से व्यवस्था का यह अतिरिक्त भार सरकार के मन्त्रालय पर आ पड़ेगा जिसे सम्भालना अत्यन्त कठिन होगा।

(३) **लाभ काल्पनिक**—राष्ट्रीयकरण द्वारा बैंकिंग व्यवस्था में जिन लाभों की कल्पना की गयी है वह भी भ्रामक प्रतीत होती है क्योंकि उनकी अनियमितताएँ उचित नियन्त्रण द्वारा दूर की जा सकती है। वस्तुतः सरकारी अधिकार में आ जाने के पश्चात् उनमें अधिक **अकुशलता एवं अनियमितता** आने का भय रहेगा। भारतीय रिजर्व बैंक के थोड़ा-सा अधिक सतर्क होने पर सरलता से यह समस्या हल हो जायेगी।

(४) **निक्षेप बीमा निगम**—जमाकर्ताओं के हितों की रक्षा करने के लिए निक्षेप बीमा निगम (Deposit Insurance Corporation) की स्थापना हो चुकी है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक जमाकर्ता की १०,००० रुपये तक की जमा राशि बीमे द्वारा सुरक्षित है अर्थात् यदि किसी व्यक्ति के एक बैंक में १०,००० रुपये तक जमा हैं तो बैंक क बन्द हो जाने पर निक्षेप बीमा निगम उस रकम को चुकाने की गारण्टी करता है। भारत में एक सामान्य नागरिक १०,००० रुपये से अधिक रकम जमा करने की स्थिति मे नहीं है अतः जमाकर्ताओं के हित सुरक्षित करने के लिए बैंकों का राष्ट्रीयकरण आवश्यक नहीं है।

(५) **उदार ऋण नीति**—जहाँ तक औद्योगिक विकास का प्रश्न है, गत वर्षों में भारतीय बैंकों की नीति उद्योगों को ऋण देने के प्रति यथेष्ट उदार हो गयी है। अन्तर केवल इतना है कि यदि सरकार ने बैंकों की राशि का प्रयोग सरकारी उद्योगों के विकास के लिए आरम्भ कर दिया तो निजी क्षेत्र के उद्योगों की पूँजी प्राप्त करने में कठिनाई होगी और अन्ततः उनके लिए सरकार को व्यवस्था करनी होगी इस दृष्टि से राष्ट्रीयकरण द्वारा औद्योगिक विकास में कोई विशेष सहायता मिलने की सम्भावना प्रकट नही होती।

(६) **शाखा-विस्तार**—भारतीय निजी बैंकों द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में शाखाएँ

न खोलने का आरोप सर्वथा सत्य होते हुए भी अनुचित प्रतीत होता है क्योंकि सरकार इस दिशा में सर्वथा पक्षपातपूर्ण नीति अपना रही है। स्टेट बैंक अथवा उसके सहायक बैंकों द्वारा जो शाखाएँ ग्रामीण क्षेत्रों में खोली जाती हैं उन पर होने वाली हानि की पूर्ति एक विशेष कोष द्वारा की जाती रही है जबकि निजी बैंकों को इस प्रकार की सुविधा उपलब्ध नहीं है। इसके साथ ही स्टेट बैंक भारत के सभी बैंकों से अधिक लाभांश वितरित करता है। यह एक विचित्र विरोधाभास है कि इतना अधिक लाभ कमाने वाला बैंक जिसे सरकारी वरद् हस्त की छाया प्राप्त है, ग्रामीण शाखाओं की हानि-पूर्ति के लिए सहायता प्राप्त करता है। यह स्थिति निश्चित ही समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के अनुकूल नहीं जान पड़ती। **अतः जिस कार्य को स्टेट बैंक करने के लिए तैयार नहीं है वह निजी बैंकों द्वारा न किया जाने पर उनके राष्ट्रीयकरण की बात करना न्याय का गला घोंटने के समान होगा।**

(७) **आर्थिक दृष्टिकोण से दोषपूर्ण**—राष्ट्रीयकरण के विचार को यदि शुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से भी देखा जाय तो स्थिति बहुत पक्ष में प्रतीत नहीं होती। भारतीय बैंकों के कुल लाभ (शुद्ध) ३५-३६ करोड़ रुपये के तुल्य होते हैं जिनमें से उन्हें १८ करोड़ रुपये कर रूप मे चुकाने पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त बोनस तथा विभिन्न कोषों में डालने के पश्चात् लगभग ८-९ करोड़ रुपये की राशि लाभांश रूप में वितरित करनी पड़ती है। इस प्रकार राष्ट्रीयकरण द्वारा सरकार को ८ करोड़ रुपये से भी कम वार्षिक लाभ प्राप्त होगा। परन्तु यह भी सही स्थिति नहीं है क्योंकि बैंकों की प्रदत्त पूँजी तथा कोष की मात्रा लगभग १०० करोड़ रुपये है। बैंकों का राष्ट्रीयकरण करने पर इस राशि के ऋण-पत्र (Bonds) देने होंगे जिन पर प्रचलित दर से लगभग ५ प्रतिशत ब्याज देना होगा। इस प्रकार ब्याज का वार्षिक व्यय भी लगभग ५ करोड़ रुपये होगा। अतः भारत सरकार की शुद्ध वार्षिक आय नगण्य होगी। इससे स्पष्ट है कि बैंकों के राष्ट्रीयकरण जैसा भारी कदम उठाना उचित प्रतीत नहीं होता। अतः बैंकों को देश की अर्थ-व्यवस्था के लिए अधिक उपयोगी बनाने के लिए रिजर्व बैंक के अच्छे नियन्त्रण के अतिरिक्त अन्य मार्ग ही अपनाये जाने चाहिए।

(८) **कृषि तथा लघु उद्योगों के लिए धन**—बैंकों पर यह आरोप लगाना कि वह खेती के विकास या लघु उद्योगों की उन्नति के लिए ऋण नहीं देते, सही हो सकता है परन्तु यह एक सर्व-स्वीकृत तथ्य है कि कृषि के लिए ऋण देने का दायित्व सहकारी बैंकों का रहा है और बैंक उन सभी व्यावसायिक इकाइयों को ऋण देते रहे हैं जो उचित जमानत दे सकती हैं, चाहे वह लघु इकाई हो या बड़ी। अतः व्यापारिक बैंकों को इन दोनों क्षेत्रों में निष्क्रिय करने के लिए दोषी ठहराना उचित नहीं है।

नीति का अभाव—वास्तव में, राष्ट्रीयकरण कोई रामबाण औषधि नहीं है। बैंकों में कमियाँ या दोष हो सकते हैं परन्तु वह कमियाँ या दोष बैंकों के राष्ट्रीयकरण

से दूर हो जायेगी, यह कहना केवल सैद्धान्तिक डींग हाँकना है। सुव्यवस्था और सुप्रबन्ध एवं धन का राष्ट्रीय हित में सदुपयोग सरकार की श्रेष्ठ नीतियों पर निर्भर करता है। भारत सरकार ने प्रथम तीन योजनाओं में तथा बाद के वर्षों में यह विचार भी नहीं किया कि आर्थिक विकास के लिए साख नियोजन का भी कोई महत्त्व है। अतः यह आरोप लगाना कि बैंकों ने अमुक क्षेत्र में पर्याप्त उधार की व्यवस्था नहीं की अथवा अमुक क्षेत्र में रकम नहीं लगायी, अनावश्यक एवं व्यर्थ है।

अतः सरकार के बढ़ते हुए विकास दायित्व, अभावपूर्ण प्रबन्ध कौशल तथा संचालन सम्बन्धी कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए यह कहना कठिन है कि बैंकों के राष्ट्रीयकरण से देश की अर्थ-व्यवस्था में कोई क्रान्तिकारी सुधार हो सकेगा। वास्तव में, लोक क्षेत्र में संचालित औद्योगिक इकाइयाँ—जो बराबर हानि पर चल रही है—इस दिशा में सोचने के लिए बाध्य करती हैं कि सरकारी क्षेत्र को बढ़ाने की बजाय उसका दृढ़ीकरण किया जाना चाहिए। इसी दृष्टि से राष्ट्रीयकरण के स्थान पर समाजीकरण या सामाजिक नियन्त्रण की योजना को स्वीकार किया गया है।

सामाजिक नियन्त्रण

भारतीय बैंकों के राष्ट्रीयकरण की चर्चा कांग्रेस दल की प्रायः प्रत्येक सभा में होती रही है। जब १९६७ के चुनावों से पूर्व कांग्रेस के घोषणा पत्र का आलेख तैयार किया गया तो बैंकों के राष्ट्रीयकरण की चर्चा फिर हुई किन्तु यह निर्णय किया गया कि बैंकों पर सामाजिक नियन्त्रण किया जाना चाहिए, राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता नही है।

सामाजिक नियन्त्रण का अर्थ

बैंकों के सामाजिक नियन्त्रण का अर्थ है उनकी क्रियाओं पर समाज का नियन्त्रण। भारत में समाज की प्रतिनिधि सरकार है अर्थात् बैंकों पर सरकार का **नियन्त्रण ही सामाजिक नियन्त्रण का प्रतीक है।** राष्ट्रीयकरण में स्वामित्व, संचालन तथा नियन्त्रण—सभी सरकार के दायित्व होते है किन्तु सामाजिक नियन्त्रण में बैंकों की अर्थ नीति का निर्धारण सरकार करती है और उसका पालन बैंक स्वयं करते है। उस नीति का पालन ठीक प्रकार से हो रहा है या नही, इसका नियन्त्रण भी सरकार करती है।

सामाजिक नियन्त्रण क्यों—बैंकिंग उद्योग विशेष किस्म का उद्योग है। इसमें धन के लेन-देन का व्यापार होता है। और साख का निर्माण होता है। इसकी एक विशेषता यह है कि बैंकों में जिन व्यक्तियों की अधिकांश रकम जमा होती है उनका बैंकों की ऋण या विनियोग नीति निर्धारण करने में कोई हाथ नही होता। उदाहरणतः भारत के व्यापारिक अनुसूचित बैंकों में लगभग ५,००० करोड़ रुपये जमा हैं। यह रकम असंख्य व्यक्तियों या संस्थाओं की जमा है। इसके साथ ही बैंकों की

अंश पूँजी तथा कोष केवल १०० करोड़ रुपये के तुल्य है। किसी भी रजिस्टर्ड कम्पनी[1] के अंशधारी ही उसके मालिक होते हैं और उनके प्रतिनिधि ही बैंक की नीति निर्धारण तथा प्रबन्ध व्यवस्था के लिए उत्तरदायी होते हैं। इस दृष्टि से देखा जाय तो भारतीय बैंकों में १०० करोड़ रुपये की पूँजी के मालिक ५१०० करोड़ रुपये की पूँजी विनियोजन के अधिकारी हैं। जबकि ५००० करोड़ रुपये की पूँजी के मालिकों (जमाकर्ताओं) को बैंकों की नीति निर्धारण या पूँजी विनियोजन में कोई अधिकार नहीं है। अतः उनके हित की रक्षा करने के लिए बैंकों की विनियोग तथा ऋण नीति पर सरकार का पूरा नियन्त्रण होना चाहिए ताकि सामान्य जनता की खून पसीने की कमाई—जो बैंकों में जमा कराई जाती है—का दुरुपयोग न हो सके।

यदि सामान्य रूप से देखा जाय तो बैंकों पर सामाजिक नियन्त्रण निम्न-लिखित कारणों से आवश्यक प्रतीत होता है :

(१) **जमाकर्ताओं के हित की रक्षा**—जैसाकि इससे पहले विचार किया जा चुका है व्यापारिक बैंकों के काफी साधन सामान्य जनता की जमाओं से प्राप्त होते हैं। और सामान्य जनता का बैंकों की ऋण और विनियोग नीति में कोई हाथ नहीं होता। अतः उनकी रकम के सदुपयोग की क्या गारण्टी है ? यदि कोई बैंक बन्द हो जाय तो जमाकर्ता केवल हाथ मलते रह जाते हैं। इसलिए सरकार का कर्तव्य है कि सामाजिक हित में बैंकों की नीतियों पर नियन्त्रण करे।

इस सम्बन्ध में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य उल्लेखनीय है। भारत में निक्षेप बीमा निगम द्वारा प्रत्येक बैंक में, 'प्रति व्यक्ति १०,००० रुपये तक की रकम का अनिवार्य बीमा है।' मध्यम वर्ग के जिन व्यक्तियों के पास १०,००० रुपये से अधिक रकम है वह दस-दस हजार रुपये कई बैंकों में जमा करवा कर निक्षेप बीमे का लाभ उठा सकते हैं। वैसे भी बैंकों में अधिकतर बड़ी जमा रकमें ऋणों के फलस्वरूप उत्पन्न होती हैं जिनके अधिकारी बड़े-बड़े व्यापारी होते हैं। अतः इन लोगों के हितों की रक्षा की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु बैंकों में जनता का विश्वास बनाए रखने के लिए उनको सम्पन्न एवं शक्तिशाली बनाये रखना सरकार का कर्तव्य है। ऐसा तभी सम्भव है जब उनकी विनियोग एवं ऋण नीति पर सरकारी नियन्त्रण हो।

(२) **समाज का अधिकाधिक लाभ**—बैंकों में समाज के असंख्य व्यक्तियों की पूँजी जमा होती है। अतः उस पूँजी का प्रयोग समाज के अधिकाधिक लाभ के लिए होना आवश्यक होता है। ऐसा करने के लिए बैंकों की नीति पर सामाजिक (अर्थात सरकारी) नियन्त्रण आवश्यक हो जाता है।

---

1 बैंक भी रजिस्टर्ड कम्पनी ही होती है।

(३) **साख का उचित सीमा तक विस्तार**—व्यापारिक बैंकों की आय का मुख्य साधन ब्याज होता है जो वह ऋणों पर प्राप्त करते हैं। अतः अधिक आमदनी प्राप्त करने के लोभ में यह तीव्र गति से साख प्रसार कर सकते है जिसके फलस्वरूप देश में मूल्य स्तर में वृद्धि होने का भय रहता है। भारत में आर्थिक प्रगति के लिए अधिक साख की आवश्यकता है किन्तु वह एक निश्चित सीमा से अधिक नही होनी चाहिए। अतः चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के महान लक्ष्य **"स्थायित्व के साथ विकास"** (Growth with Stab lity) में सफलता के लिए बैंकों का सामाजिक नियन्त्रण बहुत आवश्यक है।

(४) **साख का यथोचित वितरण**—बैंकों द्वारा साख विस्तार ही खतरा नहीं है। अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जितनी भी रकम उधार दी जाय वह टीक प्रकार से वितरित होनी चाहिए। इसके लिए निम्नलिखित मापदण्ड निर्धारित किये जा सकते हैं :

(i) उधार की रकम कुछ बड़े-बड़े प्रभावशाली उद्योगपतियो को ही उधार नही दी जानी चाहिए।

(ii) बैंकों द्वारा उधार देते समय राष्ट्रीय हित का ध्यान रखना चाहिए। भारत में कृषि, लघु उद्योग तथा निर्यात क्षेत्र प्राथमिकता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माने गये है। अतः इन क्षेत्रो को पर्याप्त मात्रा मे रकम उधार मिलनी चाहिए।

(iii) ऋण राजनीतिक, असामाजिक तथा कम महत्त्वपूर्ण क्षेत्रो को नही दिये जाने चाहिए।

इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए भी बैंको का सामाजिक नियन्त्रण आवश्यक है।

सामाजिक नियन्त्रण योजना की विशेषताएँ

राष्ट्रीयकरण और सामाजिक नियन्त्रण के सम्बन्ध में काफी विवाद होने के बाद २३ दिसम्बर, १९६७ को भारतीय लोक सभा मे एक विधेयक प्रस्तुत किया गया। इस विधेयक को विचार के लिए २६ मार्च, १९६८ को प्रवर समिति के सुपुर्द कर दिया गया। प्रवर समिति के पास विचारार्थ ७७४९ स्मरण पत्र, प्रतिवेदन तथा तार आये जिन पर विचार करने के पश्चात् समिति ने २ मई, १९६८ को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी। यह रिपोर्ट विवाद एवं विचार के लिए ६ मई, १९६८ को लोक सभा में रखी गयी। अन्ततोगत्वा बहुत विचार-विमर्श के पश्चात् विधेयक पास कर दिया गया। १ फरवरी, १९६९ से सामाजिक नियन्त्रण योजना बैंकों पर लागू कर दी गयी। इस योजना की उल्लेखनीय विशेषताएँ निम्नलिखित है :

(१) **बैंकिंग नीति**—सामाजिक नियन्त्रण योजना के अन्तर्गत बैंकों से सम्बन्धित सभी कानूनों (रिजर्व बैंक अधिनियम, बैंकिंग नियमन अधिनियम आदि) में संशोधन कर दिये गये। एक संशोधन के अनुसार इन कानूनों में जहाँ भी "जमाकर्ताओं के हित में" शब्द थे उनके स्थान पर "बैंकिंग नीति के हित में" (In the

interest of banking policy) लिख दिये गये हैं। इस प्रकार भारत में राष्ट्रीय सरकार द्वारा पहली बार **बैंकिंग नीति** को महत्व दिया गया।

वैंकिंग नीति में पाँच बातें सम्मिलित की गयीं :

(i) जमाकर्ताओं के हित सुरक्षित रहने चाहिए।

(ii) देश में **मौद्रिक स्थायित्व** बना रहना चाहिए।

(iii) **आर्थिक विकास** को बल मिलना चाहिए।

(iv) साधनों का वितरण प्राथमिक क्षेत्रों में यथोचित होना चाहिए।

(v) साधनों का श्रेष्ठ उपयोग होना चाहिए।

वास्तव में, बैंकिंग नीति में सामाजिक नियन्त्रण के उद्देश्यों को ही संक्षेप में दे दिया गया है। इस प्रकार सरकार ने समाज के व्यापक हित को ही सामाजिक नियन्त्रण का उद्देश्य माना है।

(२) **साख नियोजन** (Credit Planning)—यह एक आश्चर्यजनक सत्य है कि भारत की पहली तीन योजनाओं में कभी भी यह आवश्यक नहीं समझा गया कि आर्थिक नियोजन में साख नियोजन का भी कोई स्थान होता है। सरकार या रिजर्व बैंक ने तीनों में से किसी भी योजना काल में यह अनुमान नहीं लगाया कि देश के उत्पादक क्षेत्रों में से किस-किस के लिए कितनी-कितनी उधार रकम की व्यवस्था करनी पड़ेगी। अतः साख का वितरण प्रायः मनमाने ढंग से होता रहा। किन्तु सामाजिक नियन्त्रण योजना के अन्तर्गत भारत सरकार ने एक **राष्ट्रीय साख परिषद्** (National Credit Council) की नियुक्ति की। इस परिषद् का कार्य विभिन्न क्षेत्रों में साख की वार्षिक आवश्यकता का अनुमान लगाकर बैंकों के लिए मार्गदर्शक का काम करना है।

राष्ट्रीय साख परिषद् द्वारा **कृषि, लघु उद्योग** तथा **निर्यात** क्षेत्रों को प्राथमिकता क्षेत्र घोषित किया गया है। अतः बैंकों द्वारा इन क्षेत्रों में अधिक रकम विनियोग करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं।

(३) **आर्थिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण**—भारतीय बैंकों पर एक आरोप यह लगाया जाता रहा है कि उनका संचालन बड़े-बड़े उद्योगपतियों के हाथ में है। इस अधिकार के बल पर ही कुछ उद्योगपति बैंकों की अधिकांश पूँजी अपनी औद्योगिक इकाइयों को दिलाने में सफल हो जाते थे। इसी से आर्थिक सत्ता का संकेन्द्रण होता जा रहा था। सामाजिक नियन्त्रण योजना में इस संकेन्द्रण को तोड़ने के निम्नलिखित उपाय किये गये हैं :

(i) **अध्यक्ष**—बैंकों के अध्यक्ष केवल क्रियाशील बैंकर ही हो सकते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि जिन बैंकों में उद्योगपति अध्यक्ष थे उन्होंने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया है। इसके फलस्वरूप सभी बैंकों में बैंकर अध्यक्ष निर्वाचित कर लिए गये हैं। इससे उद्योगपतियों का प्रभाव कुछ कम हो गया है।

(ii) **संचालक मण्डल**—बैंकों के संचालक मण्डल में भी प्रायः बड़े-बड़े उद्योगपतियों अथवा व्यवसायियों का ही बहुमत रहा करता था। सामाजिक नियन्त्रण योजना के अन्तर्गत प्रत्येक बैंक के संचालक मण्डल मे निम्नलिखित क्षेत्रों के प्रतिनिधियों का निर्वाचन करना अनिवार्य कर दिया गया है :

(क) कृषि क्षेत्र के जानकार, (ख) अर्थशास्त्री, (ग) लघु उद्योगों के प्रतिनिधि, (घ) वित्त विशेषज्ञ, (ङ) विधि विशेषज्ञ, (च) ग्रामीण बैंकिंग, तथा (छ) अन्य क्षेत्रों के विशेषज्ञ जो बैंकिंग कार्य संचालन में लाभदायक हों।

इस प्रकार बैंकों के संचालक मण्डलो मे प्रायः क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिये गये है और अनेक क्षेत्रों के प्रतिनिधियों को सम्मिलित करने के कारण अब उनमें एक दो व्यक्ति बहुत प्रभावशाली ढंग से पूँजी लगाने मे मनमानी नही कर सकते।

(iii) **संचालक और उद्योग**—भारत मे आर्थिक सत्ता को विकेन्द्रित करने के लिए यह आवश्यक है कि सत्ताधारियो को सत्ता केन्द्रों से दूर ले जाया जाय। अतः यह नियम बना दिया गया है कि बैंक का कोई भी सचालक किसी औद्योगिक कम्पनी मे १० प्रतिशत से अधिक अंशों का अधिकारी नही हो सकता। यह कदम बड़े-बड़े उद्योगपतियो को बैंकों के संचालन केन्द्र से दूर ले जाने का प्रयत्न है।

(iv) **संचालक और ऋण**—इससे पूर्व वर्णित सभी नियमो से अधिक क्रान्तिकारी नियम यह बनाया गया है कि ऐसे किसी भी फर्म या कम्पनी को बैंक से कोई ऋण नही दिया जा सकता जिसमें बैंक के किसी संचालक का सम्बन्ध या रुचि हो। इसका यह प्रभाव हुआ कि प्रायः सभी बैंकों के संचालक मण्डलो से उद्योगपतियो तथा बड़े-बड़े व्यावसायियों ने त्यागपत्र दे दिये है क्योंकि उनके संचालक बने रहने पर उनसे सम्बन्धित औद्योगिक इकाइयों को ऋण नही दिये जा सकते, इस सम्बन्ध विच्छेद के फलस्वरुप किसी भी बडी औद्योगिक इकाई को सिफारिश या प्रभाव के द्वारा मनमाने ढग से रकम प्राप्त करने से वंचित कर दिया गया है।

(४) **बैंकों का अंकेक्षण**—सामाजिक नियन्त्रण योजना लागू होने से पहले बैंको के अकेक्षक (auditors) अन्य कम्पनियों की भाति अंशधारियों द्वारा ही नियुक्त किये जाते थे। इस व्यवस्था मे यह दोष था कि संचालक मण्डल के प्रभावशाली सदस्य मनमाने फर्मो को अकेक्षक नियुक्त करवा लेते थे और उनसे अच्छी रिपोर्ट प्राप्त कर लेते थे। यदि कोई अंकेक्षक फर्म संचालक मण्डल की इच्छा के विरुद्ध रिपोर्ट देता तो अगली बार उसे हटा दिया जा सकता था। इस प्रकार अकेक्षण रिपोर्ट सही होने की कोई गारण्टी नही थी। सामाजिक नियन्त्रण योजना के अन्तर्गत अंकेक्षको की नियुक्ति, पुर्ननियुक्ति तथा मुक्ति रिजर्व बैंक की सहमति से हो सकेगी। अतः अकेक्षक अब शुद्ध एवं सही रिपोर्ट देने मे नही हिचकेंगे जिसके फलस्वरूप बैंकों की क्रियाओं का सच्चा स्वरूप जनता के सामने आता रहेगा।

सामाजिक नियन्त्रण योजना मे रिजर्व बैंक को यह अधिकार भी दिया गया

है कि वह किसी भी बैंक का विशेष अंकेक्षण करवा सकता है। इससे—यदि कोई बैंक अनुचित कार्य करता है तो विशेष अंकेक्षण से वह प्रकाश मे आ जायेगा।

(५) **रिजर्व बैंक को नये अधिकार**—यदि सामाजिक नियन्त्रण के किसी नियम को कोई बैंक भंग करेगा तो रिजर्व बैंक द्वारा सम्बन्वित रकम (जिसकी गड़-बड़ी की गयी है) से दुगुना दण्ड दिया जा सकता है।

(६) **सरकारी स्वामित्व**—उपर्युक्त सभी व्यवस्थाओं के अतिरिक्त एक व्यवस्था यह की गयी है कि जब भी सरकार उचित या आवश्यक समझेगी वह किसी भी बैंक को सरकारी स्वामित्व में ले सकेगी। यह धारा इतनी व्यापक है कि बैंकों पर अनुचित कार्य करने सम्बन्धी रोक लग गयी है। सरकार किसी भी बैंक को बिना कारण दिये अपने अधिकार मे ले सकेगी, यह अधिकार बैंकों के अनुचित कार्यों पर नैतिक रुकावट का काम करेगा।

(७) **कर्मचारियों की अनुशासनहीनता**—भारत में बैंक कर्मचारियों के वेतन और भत्ते सबसे ऊँचे हैं और उनकी कार्यक्षमता प्रायः बहुत कम है। भारतीय बैंकों में अधिक वेतन और भत्ते होने पर भी अनुशासनहीनता अत्यधिक है। सामाजिक नियन्त्रण योजना के अन्तर्गत बैंक के कर्मचारियों द्वारा बैंक के अहाते में हिंसात्मक प्रदर्शन करने या कार्य मे रुकावट डालने पर रोक लगायी गयी है। इस प्रकार के प्रदर्शन करने वालों को ६ मास की जेल अथवा १००० रुपये तक का दण्ड दिया जा सकता है। इस प्रकार जहाँ उद्योगपतियों की आर्थिक क्रियाओं का सीमित करने की चेष्टा की गयी है, वहाँ कर्मचारियों की अनैतिक अथवा अनुचित कार्यवाहियों को भी रोकने का प्रयत्न किया गया है ताकि जनता को कष्ट न हो।

आलोचना और निष्कर्ष—भारतीय बैंकों पर सामाजिक नियन्त्रण होना चाहिए इस बारे में विवाद करना वृथा है क्योंकि नियन्त्रण बिना सभी कार्य राष्ट्रहित में होना सन्देहास्पद हो रहेगा। अतः यही देखना उचित है कि नियन्त्रण पर्याप्त हैं या नहीं अथवा आवश्यकता से अधिक तो नहीं हैं। इसका लेखा-जोखा करने के लिए मुख्य-मुख्य बातों पर विचार करना आवश्यक है।

औचित्य—सामाजिक नियन्त्रण योजना में बैंकिंग नीति, आर्थिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण, अंकेक्षण तथा सरकार के अधिकारों सम्बन्धी विवेचन सभी बिन्दुओं के साथ ही कर दिया गया है। उनका औचित्य निश्चय ही स्वागत योग्य है किन्तु इसमें कुछ कठिनाइयाँ उत्पन्न होने की सम्भावना है :

(i) उद्योगपतियों को बैंकों के संचालक मण्डलों से दूर हटाने के फलस्वरूप बैंक औद्योगिक एवं व्यावसायिक क्षेत्र से दूर हट गये है। इससे बैंकों को व्यापार की साख सम्बन्धी आवश्यकता का अनुमान लगाने में कठिनाई हो गयी है, दूसरी ओर वह वर्षों के अनुभव से वंचित हो गये हैं। अर्थशास्त्री, विधि विशेषज्ञ तथा लेखापालों की सदस्यता से युक्त संचालक मण्डल सैद्धान्तिक रूप में सही निर्णय ले सकेंगे परन्तु उन निर्णयों का व्यावहारिक कसौटी पर खरा उतरना सन्देहजनक ही प्रतीत होता है।

इस सम्बन्ध में उचित नीति यह होती कि साख देने सम्बन्धी स्पष्ट नियम बना दिये जाते और उन नियमों के अनुसार ही साख देने की व्यवस्था की जाती। अनुभवी व्यवसायियों को वैंक संचालन से बहुत दूर हटाना व्यावहारिक दृष्टि से हानिकारक सिद्ध होने की आशंका है।

(ii) **अंकेक्षण**––दूसरी कठिनाई यह कि प्रत्येक वार अकेक्षकों की नियुक्ति में रिजर्व वैंक की सहमति लेनी पड़ेगी। इसमे वहुत समय और शक्ति व्यर्थ नष्ट होने की आशंका है। इस सम्वन्ध मे उचित कार्य यह है कि प्रादेशिक या क्षेत्रीय आधार पर अंकेक्षकों की अनुमोदित सूचियाँ प्रकाशित कर दी जाएँ। वैंक अपने प्रदेश या क्षेत्र की सूची में से नम्वरवार अंकेक्षक नियुक्त करते रहेगे। इससे अंकेक्षण व्यवस्था सरल एव सुविधाजनक हो जायेगी और दवाव से मुक्ति का उद्देश्य भी सिद्ध हो जायेगा।

प्रशिक्षण––वैंकों की सामाजिक नियन्त्रण योजना के अन्तर्गत ही रिजर्व बैंक एक **राष्ट्रीय प्रशिक्षण संस्थान** स्थापित कर रहा है। इस सम्वन्ध में यह उचित होगा कि इस सस्थान की वहुत-सी शाखाएँ देश भर में स्थापित की जायें, जहाँ वैंकों के माध्यम एव निम्न श्रेणी के अधिकारियो को नियमित प्रशिक्षण दिया जा सके।

लोक क्षेत्र में वैंकों की स्थिति
[POSITION OF BANKS IN PUBLIC SECTOR]

भारत मे २२ वैंक ऐसे है जो सरकारी स्वामित्व में है। इन वैंकों को ही लोक क्षेत्र के वैंक कहा जाता है। यह वैंक तीन श्रेणियों में वाँटे जा सकते है :

(१) **स्टेट बैंक आफ इंडिया**

(२) **स्टेट वैंक के सात सहायक वैंक**— इनके नाम निम्नलिखित है :

(i) स्टेट वैंक आफ वीकानेर एण्ड जयपुर, (ii) स्टेट वैंक आफ हैदरावाद, (iii) स्टेट वैंक आफ इन्दौर, (iv) स्टेट वैंक आफ मैसूर, (v) स्टेट वैंक आफ पटियाला, (vi) स्टेट वैंक आफ सौराष्ट्र, तथा (vii) स्टेट वैंक आफ ट्रावनकोर।

(३) **राष्ट्रीयकृत चौदह वैंक**––जिनके नाम निम्नलिखित हैं :

(i) सैंट्रल वैंक आफ इंडिया, (ii) वैंक आफ इडिया, (iii) पंजाव नेशनल वैंक, (iv) वैंक आफ वड़ोदा, (v) यूनाइटेड कमर्शियल वैंक, (vi) कनारा वैंक, (vii) यूनाइटेड वैंक आफ इंडिया, (viii) देना वैंक, (ix) सिंडीकेट वैंक, (x) यूनियन वैंक आफ इडिया, (xi) इलाहावाद वैंक, (xii) इडियन वैंक, (xiii) वैंक आफ महाराष्ट्र, (xiv) इडियन ओवरसीज वैंक।

स्टेट वैंक आफ इंडिया

पूँजी तथा कोष—स्टेट वैंक आफ इंडिया की स्थापना जुलाई १९५५ में की गयी। इसके पहले इस वैंक का नाम इम्पीरियल वैंक आफ इडिया था जिसकी अंश पूँजी रिजर्व वैंक आफ इंडिया द्वारा खरीद ली गयी। वाद में अंश पूँजी का लगभग ८ प्रतिशत भाग पुराने इम्पीरियल वैंक के अंशधारियों को वेच दिया गया।

इस प्रकार वर्तमान में स्टेट बैंक की ९२ प्रतिशत पूँजी रिजर्व बैंक आफ इंडिया के स्वामित्व में है।

स्टेट बैंक की वर्तमान पूँजी ५,६२,५००० रुपये है। इसकी कोष निधि लगभग १५.६१ करोड़ रुपये है। इस प्रकार स्टेट बैंक के कुल निजी कोष लगभग २१.२४ करोड़ रुपये के तुल्य हैं।

प्रबन्ध– स्टेट बैंक का केन्द्रीय कार्यालय बम्बई में है। इसका प्रबन्ध एक केन्द्रीय संचालक मण्डल के हाथ में है। स्थापना के समय, स्टेट बैंक के केन्द्रीय संचालक मण्डल के सदस्यों की संख्या २० रखी गयी थी किन्तु १ दिसम्बर, १९६४ को संचालक मण्डल का गठन निम्नलिखित कर दिया गया :

(i) एक अध्यक्ष तथा एक उपाध्यक्ष की नियुक्ति संचालक मण्डल की सिफारिश पर सरकार द्वारा की जाती है।

(ii) अधिक से अधिक दो प्रबन्ध संचालक (Managing Directors) सरकार की अनुमति से संचालक मण्डल द्वारा नियुक्त किये जाते हैं।

(iii) प्रत्येक स्थानीय मण्डल का सभापति केन्द्रीय संचालक मण्डल का पदेन सदस्य होता है। वर्तमान में सात स्थानीय मण्डल है।

(iv) यदि रिजर्व बैंक को छोड़कर निजी अंशधारियों के पास कुल निर्गमित पूँजी के दस प्रतिशत से कम अंश है तो वह दो संचालकों की नियुक्ति (या चुनाव) कर सकेंगे। वर्तमान मे ८ प्रतिशत अंशधारियों के पास है।

(v) रिजर्व बैंक की सलाह से भारत सरकार कम से कम दो और अधिक से अधिक छह संचालक नियुक्त कर सकती है। यह संचालक सहकारिता, वाणिज्य, उद्योग, व्यापार, बैंकिग अथवा वित्त सम्बन्धी विशेषज्ञ होने चाहिए।

स्थानीय मण्डल—स्टेट बैंक का केन्द्रीय कार्यालय बम्बई मे है जहाँ से केन्द्रीय संचालक मण्डल बैंक के कार्यो की देख-रेख करता है। इसके अतिरिक्त सात स्थानीय मण्डल है जो कलकत्ता, कानपुर. बम्बई, अहमदाबाद, नयी दिल्ली तथा हैदराबाद मे है।

स्थानीय मण्डलों का गठन निम्न प्रकार होता है :

(i) स्टेट बैंक के अध्यक्ष प्रत्येक स्थानीय संचालक मण्डल के पदेन अध्यक्ष होते हैं।

(ii) केन्द्रीय संचालक मण्डल के वह सदस्य जो सम्बन्धित स्थानीय मण्डल के क्षेत्र मे निवास करते है।

(iii) रिजर्व बैंक की सलाह से प्रत्येक स्थानीय मण्डल में छह सदस्य भारत सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते है।

(iv) प्रत्येक मण्डल के क्षेत्र मे निवास करने वाले अंशधारी अपना एक प्रतिनिधि चुन सकते है, किन्तु २.५ प्रतिशत से कम अंश होने पर प्रतिनिधि चुनने का अधिकार नही दिया जाता।

(v) स्थानीय मण्डल का कोषाध्यक्ष तथा सचिव पदेन सदस्य होता है।

(vi) स्थानीय मण्डल के सदस्यों मे से एक को अध्यक्ष की सलाह से रिजर्व बैंक का गवर्नर सभापति नियुक्त करता है।

स्टेट बैंक के उद्देश्य तथा पूर्ति

स्टेट बैंक की स्थापना ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति के सुझाव पर की गयी थी। इसके उद्देश्य एवं उनकी प्राप्ति का व्यौरा निम्नलिखित है :

(१) **बैंकिंग विकास तथा ग्रामों में शाखाएँ**—स्टेट बैंक की स्थापना के समय यह निर्धारित किया गया था कि वह पहले पाँच वर्ष मे कम से कम ४०० नयी शाखाएँ खोलेगा। इन शाखाओ मे से अधिकतर शाखाएँ ग्रामीण क्षेत्रो मे खोलने का आदेश दिया गया था। स्टेट बैंक ने इस लक्ष्य की पूर्ति एक मास पहले ही कर ली।

पहला लक्ष्य पूरा करने के बाद भी स्टेट बैंक अपनी शाखाओ की संख्या में नियमित वृद्धि करता जा रहा है। परिणामस्वरूप १९७० के अंत मे स्टेट बैंक की कुल शाखाओ की संख्या बढ़कर २,१२२ हो गयी। सहायक बैंको की शाखाओ की संख्या १,१४९ थी। इस प्रकार स्टेट बैंक परिवार की कुल शाखाएँ ३,२७१ थी। इनमे से ८० प्रतिशत शाखाएँ ग्रामीण तथा अर्द्ध-नागरिक क्षेत्रों मे है। इस प्रकार स्टेट बैंक का शाखा विस्तार मुख्यत: ग्रामों मे अधिक हुआ है।

(२) **सुदृढ़ एवं शक्तिशाली बैंक**—स्टेट बैंक का दूसरा उद्देश्य भारत मे एक शक्तिशाली बैंकिंग सगठन की स्थापना करना था। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए बैंक ऑफ बीकानेर, बैंक ऑफ जयपुर, बैंक ऑफ हैदराबाद, बैंक ऑफ इन्दौर, बैंक ऑफ मैसूर, बैंक ऑफ पटियाला, बैंक आफ सौराष्ट्र तथा बैंक ऑफ ट्रावनकोर को अपना सहायक बना लिया।[1]

इस प्रकार स्टेट बैंक परिवार एक शक्तिशाली संगठन बन गया है जिसकी कुल जमाएं लगभग १,५६० करोड़ रुपये, ऋण १३३० करोड़ रुपये तथा सरकारी प्रतिभूतियो मे विनियोग ४१० करोड़ रुपये तक पहुँच गये है। इस प्रकार स्टेट बैंक परिवार के साधन देश की पूरी बैंकिंग प्रणाली के लगभग २८ प्रतिशत है। अतः स्टेट बैंक एक शक्तिशाली, साधन सम्पन्न संगठन बन गया है।

(३) **ग्रामीण साख**—स्टेट बैंक की स्थापना का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों मे सरल तथा उदार ऋण देना था ताकि भारत के ग्रामीण क्षेत्रों का तेजी से विकास हो सके। स्टेट बैंक खेती के लिए उदारतापूर्वक ऋण दे रहा है। ३१ दिसम्बर. १९७० को स्टेट बैंक परिवार द्वारा २·८ लाख से अधिक खातों मे लगभग १५८ करोड़ रुपये के ऋण दिये हुए थे।

---

१ इन बैंको के नाम के पहले स्टेट शब्द जोड़ दिया गया।
१९६३ मे स्टेट बैंक ऑफ बीकानेर तथा स्टेट बैंक ऑफ जयपुर को मिला कर स्टेट बैंक ऑफ बीकानेर एण्ड जयपुर की स्थापना की गयी।

ग्रामीण क्षेत्रों में लघु उद्योगों को ऋण देना बहुत महत्त्वपूर्ण है। स्टेट बैंक द्वारा लघु उद्योगों को अत्यन्त उदारतापूर्वक ऋण दिये जा रहे है। ३१ दिसम्बर, १९७० तक स्टेट बैंक परिवार द्वारा ७०,००० से अधिक खातो मे लगभग १९६ करोड़ रुपये के ऋण दिये हुए थे।

स्टेट बैंक सहकारी सस्थाओं को भी ऋण देता है ताकि यह सस्थाएँ किसानों तथा छोटे कारीगरो और छोटे व्यापारियों को ऋण दे सके। ३१ दिसम्बर, १९७१ तक स्टेट बैंक द्वारा लगभग ३१०० सहकारी संस्थाओं को १७० करोड़ रुपये के ऋण दिये हुए थे।

इस प्रकार स्टेट बैंक का भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे योगदान तेजी से बढ़ता जा रहा है जो इस बैंक के लक्ष्यो की सफलता का प्रतीक है।

२. **सहायक बैंक**—स्टेट बैंक के सात सहायक बैंको के उद्देश्य वही है जो स्टेट बैंक के है। वास्तव मे इन बैंको के लिए विकास योजनाएँ स्टेट बैंक द्वारा ही बनायी जाती है और यह बैंक स्टेट बैंक के निर्देशन मे ही काम करते है।

पूँजी तथा कोष—सहायक बैंको की पूँजी तथा कोष ३१ दिसम्बर, १९७० को लगभग ९ करोड़ रुपये थी। दस वर्षो मे इसमे लगभग २ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई है।

प्रबन्ध—प्रत्येक सहायक बैंक का प्रबन्ध एक निदेशक मण्डल के द्वारा किया जाता है। स्टेट बैंक का अध्यक्ष ही प्रत्येक सहायक बैंक का पदेन अध्यक्ष होता है। अध्यक्ष के अतिरिक्त निदेशक मण्डल मे ५ सदस्य स्टेट बैंक, १ सदस्य रिजर्व बैंक तथा १ सदस्य केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते है। शेष दो सदस्य निजी अशधारियो द्वारा चुने जाते है। इस प्रकार स्टेट बैंक के सहायक बैंकों मे १० व्यक्तियो का निदेशक मण्डल होता है।

सहायक बैंक सभी प्रकार के लेन-देन के लिए स्टेट बैंक के प्रतिनिधि होते है।

प्रगति—सहायक बैंक स्टेट बैंक परिवार के सदस्य १९६०-६१ मे बने। दस वर्ष के काल मे उन बैंको ने ७६९ नयी शाखाएँ खोली है और ३१ दिसम्बर, १९७० को उनकी शाखाओं की सख्या १,१४९ तक पहुँच गयी है।

३१ दिसम्बर, १९७० को सहायक बैंकों की जमाएँ ३८७ करोड़ रुपये से कुछ अधिक थी और ऋणो की राशि ३०३ करोड़ रुपये के तुल्य थी। इसी तिथि को सहायक बैंको द्वारा खेती के लिए ३६ करोड़ रुपया, लघु उद्योगो के लिए ४५ करोड़ रुपया तथा सहकारी सँस्थाओ के लिए २७ करोड़ रुपया उधार दिया हुआ था।

सहकारी बैंक स्टेट बैंक की छत्रछाया और मार्गदर्शन मे काम करते हुए भी स्वतन्त्र है। यह एक बड़े परिवार के शक्तिशाली घटक है और देश के आर्थिक विकास मे उल्लेखनीय योगदान कर रहे है।

राष्ट्रीयकृत बैंक

१६ जुलाई, १९६९ को भारत के चौदह निजी बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया। इन बैंकों के नाम निम्नलिखित हैं :

(i) सैंट्रल बैंक ऑफ इंडिया, (ii) बैंक ऑफ इंडिया, (iii) पंजाब नेशनल बैंक, (iv) बैंक ऑफ बड़ौदा, (v) यूनाइटेड कमर्शियल बैंक, (vi) कनारा बैंक, (vii) यूनाइटेड बैंक ऑफ इंडिया, (viii) देना बैंक, (ix) सिंडीकेट बैंक, (x) यूनियन बैंक ऑफ इंडिया, (xi) इलाहाबाद बैंक, (xii) इंडियन बैंक, (xiii) बैंक ऑफ महाराष्ट्र, (xiv) इंडियन ओवरसीज बैंक।

इन बैंको मे से प्रत्येक की जमाएँ ५० करोड़ रुपये से अधिक थी।

पूँजी तथा कोष—चौदह राष्ट्रीयकृत बैंकों की पूँजी और कोष मिलाकर ६७.२० करोड़ रुपये थी। सरकार ने सारी पूँजी स्वयं खरीद ली और इनके बदले ८७ ५ करोड़ रुपये क्षति-पूर्ति देने का निश्चय किया।

प्रबन्ध व्यवस्थ—प्रत्येक राष्ट्रीयकृत बैंक का एक परिरक्षक (Custodian) नियुक्त कर दिया गया है। यह परिरक्षक ही बैंक का अध्यक्ष या मुख्य अधिकारी है।

प्रत्येक बैंक के पुराने संचालक मण्डल को भग कर दिया गया और नये संचालक मण्डल नियुक्त किये गये जिनमें अधिकतर सरकारी अधिकारियों या राजनीतिज्ञों को नियुक्त किया गया है।

इन बैंकों के अन्य अधिकारियों तथा कर्मचारियों को नयी स्थिति में भी काम करने दिया गया तथा इन्हें भारतीय दंड विधान के नवें अध्याय के अनुसार सरकारी कर्मचारी मान लिया गया।

उद्देश्य और सफलताएँ—भारत में चौदह निजी बैंकों का राष्ट्रीयकरण जिन उद्देश्यों को लेकर किया गया उनकी सफलताएँ निम्नलिखित है :

(१) **सत्ता के संकेन्द्रण का अंत**—चौदह बैंको के राष्ट्रीयकरण का पहला उद्देश्य यह था कि इन बैंकों में अधिकार रखने से कुछ इने-गिने पूँजीपतियों के हाथ में आर्थिक सत्ता का संकेन्द्रण हो रहा है, इसका अंत होना चाहिए। बैंकों के संचालक मण्डलों मे से पूँजीपतियों के हट जाने से इस उद्देश्य की पूर्ति हो गयी है, किन्तु सत्ता का संकेन्द्रण पूँजीपतियों के हाथ से निकल कर राजनीतिज्ञों तथा सरकारी अधिकारियों के हाथ में चला गया है। यह स्थिति भी अच्छी नहीं कही जा सकती क्योंकि सत्ता का संकेन्द्रण किसी भी वर्ग के हाथ में जाना लोक-कल्याण में बाधक होता है।

(२) **ग्रामीण बैंकिंग का विकास**—बैंकों के राष्ट्रीयकरण का एक उद्देश्य यह था कि सरकारी स्वामित्व में आने के पश्चात् बैंक ग्रामों में अधिक से अधिक शाखाएँ खोलेंगे जिससे नये क्षेत्रों में तेजी से बैंकिंग का विकास होगा। इससे बैंकों की जमा रकम में भी वृद्धि होगी।

चौदह बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् बैंकों की शाखाओं में तेजी से विस्तार का एक अभूतपूर्व वातावरण बना है। जून १९६९ से अप्रेल, १९७१ तक भारत में कुल ३४१९ नयी शाखाएँ खोली गयी हैं जिसका अर्थ यह है कि राष्ट्रीयकरण के बाद प्रति मास १५५ नयी बैंकिंग शाखाएँ खुली हैं। इस सफलता का अनुमान तुलनात्मक अंकों से लगाना अधिक उचित होगा। राष्ट्रीयकरण से पहले नौ वर्षों में भारतीय बैंकों की ३,२५८ नयी शाखाएँ खोली गयीं जिनकी वार्षिक औसत केवल ३६० होती है। इस प्रकार राष्ट्रीयकरण के पश्चात् बैंकों के शाखा विस्तार की गति अत्यधिक तीव्र हुई है।

किन्तु शाखा विस्तार से भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि जून, १९६९ और अप्रेल, १९७१ के बीच जो ३,४१९ नयी शाखाएँ खोली गयीं उनमें से २,२३५ शाखाएँ ग्रामीण केन्द्रों में, ९३३ शाखाएँ अर्द्ध-नागरिक केन्द्रों में तथा शेष ७५१ नगरों में खोली गयी हैं। इस प्रकार नयी शाखाओं में से लगभग ६५ प्रतिशत ग्रामों में और २८ प्रतिशत कस्बों में स्थापित की गयी हैं। इससे स्पष्ट है कि ग्रामों में शाखा विस्तार के लक्ष्य में काफी अधिक सफलता मिली है।

तीसरी महत्त्वपूर्ण बात है कि शाखा विस्तार का मुख्य उद्देश्य ग्रामों में बैंकिंग की सुविधा देकर ग्रामीणों की बचत संग्रह करना होता है। इस लक्ष्य में नयी शाखाओं को बहुत कम सफलता मिली है। रिजर्व बैंक ने जो आँकड़े प्रकाशित किये हैं उनके अनुसार सितम्बर, १९७० तक नयी शाखाओं (जिनकी संख्या उस तिथि तक २,८७८ थी) को केवल ७९ करोड़ रुपये की जमाएँ मिल सकी हैं। इस प्रकार प्रति शाखा औसत जमाएँ लगभग २.७ लाख रुपये है। यह राशि साधारण ही कही जा सकती है, अच्छी नहीं।

(३) कृषि के लिए धन—भारतीय बैंकों पर प्रायः यह आरोप लगाया जाता रहा है कि वह खेती के विकास के लिए धन नहीं देते। चौदह बैंकों के राष्ट्रीयकरण करने का एक उद्देश्य यह भी रहा है कि वह खेती के विकास के लिए अधिक उधार दे सकेंगे।

राष्ट्रीयकृत बैंकों ने खेती के लिए ऋण देने में जो कार्य किया है वह भी सराहनीय कहा जा सकता है। इसका अनुमान इस तथ्य से लग सकता है कि दिसम्बर, १९७० तक राष्ट्रीयकृत बैंकों द्वारा खेती के लिए उधार दी गयी रकम की राशि १९७ करोड़ रुपये थी। इस राशि में स्टेट बैंक द्वारा दी गई रकम सम्मिलित नहीं है।

बैंकों द्वारा खेती के विकास के लिए जो ऋण दिये जा रहे हैं उनकी वसूली का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है क्योंकि सहकारी बैंकों द्वारा खेती के विकास के लिए जो ऋण दिये गये हैं उनकी नियमित वसूली करना बहुत कठिन हो गया है।

(४) लघु उद्योगों की सहायता—भारतीय अर्थ-व्यवस्था में लघु उद्योगों का अत्यधिक महत्व है क्योंकि वह कम पूँजी से अधिक व्यक्तियों को रोजगार दिलाने में

समर्थ होते हैं। इसी दृष्टि से राष्ट्रीयकृत बैंकों से यह आशा की गयी कि लघु उद्योगों को अधिक मात्रा में उदारतापूर्वक ऋण दे सकेंगे। राष्ट्रीयकृत बैंक जुलाई, १९६९ से पहले भी साख -गारन्टी योजना के अन्तर्गत ऋण दे रहे थे किन्तु राष्ट्रीयकरण के बाद इन ऋणों की रकम में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। १९७० के अन्त में राष्ट्रीयकृत बैंकों द्वारा लघु उद्योगों को दिये गये ऋणों की रकम २६५ करोड़ रुपये तक बढ़ गयी थी। यह प्रगति निश्चय ही सफलता की प्रतीक है।

(५) **सामान्य व्यक्ति की सहायता**—राष्ट्रीयकरण का एक उद्देश्य यह था कि चौदह बैंकों द्वारा आर्थिक दृष्टि से दुर्बल नागरिकों, छोटे व्यापारियों, रिक्शा, ताँगा चलाने वाले व्यक्तियों तथा अन्य साधारण स्थिति के नागरिकों को उत्पादक कार्यों के लिए उचित ब्याज पर उधार दिया जा सकेगा। राष्ट्रीयकृत बैंकों ने इस दिशा में तेजी से कार्य किया है। १९७० के अन्त मे विभिन्न वर्गों के सामान्य व्यक्तियों को दिये गये ऋणों की रकम १०० करोड़ रुपये से अधिक हो गई है। इन वर्गों में रिक्शा, टैम्पो आदि चलाने वाले तथा छोटे व्यापारी सम्मिलित है।

(६) **कुशल तथा विस्तृत सेवा**—राष्ट्रीयकृत बैंकों का एक उद्देश्य भारत के विभिन्न भागों में रहने वाले ग्राहकों को रकम जमा करने, उधार देने भुगतान करने आदि के सिलसिले में श्रेष्ठतम सेवाएँ प्रदान करना है। इस दिशा में बैंकों ने नयी-नयी योजनाएँ प्रकाशित की हैं और जमा करने तथा उधार देने की श्रेष्ठ योजनाएँ लागू की है किन्तु यह सामान्य शिकायत है कि बैंकों की सेवा के स्तर में गिरावट आ गयी है। इस स्थिति को उचित नहीं कहा जा सकता।

राष्ट्रीयकृत बैंकों की समस्याएँ तथा समाधान

चौदह राष्ट्रीयकृत बैंकों में अनेक समस्याएँ उत्पन्न होने लगी है जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैं :

(१) **राजनीतिज्ञों का प्रभाव**—लोक क्षेत्र की एक भारी कमजोरी यह है कि उसमें राजनीतिज्ञों और सरकारी अधिकारियों का प्रभुत्व बढ़ जाता है। यह दोनों वर्ग जहाँ भी मिल जाते हैं वहाँ प्रायः भ्रष्टाचार, घूसखोरी तथा ढिलाई आ जाती है। राष्ट्रीयकृत बैंकों में सत्ताधारी दल के राजनीतिज्ञों का हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा है जिससे ऋण देने तथा शाखा विस्तार में पक्षपात तथा अनुचित कार्य होने लगे है। सरकार को चाहिए कि बैंकों की नीति तथा कार्यप्रणाली में राजनीतिज्ञों का हस्तक्षेप नहीं होने दे।

(२) **नौकरशाही के दोष**—राजनीतिज्ञों के कलुषित हस्तक्षेप के साथ-साथ राष्ट्रीयकृत बैंकों में सरकारी अधिकारियों का प्रभाव भी बढ़ गया है। जिस संस्था में भी कोई सरकारी अधिकारी उच्च पद पर या प्रबन्धक मण्डल में नियुक्त कर दिया जाता है उसमें लाल फीताशाही और कागजी कार्यवाही बढ़ जाती है। राष्ट्रीयकृत बैंकों में बढ़ती हुई अकुशलता तथा अनुचित नीतियाँ नौकरशाही तथा राजनीतिज्ञों की मिली-जुली भगत का ही परिणाम है।

(३) **भ्रष्टाचार**—अनेक बैंकों में कुछ ऐसे वर्ग उत्पन्न हो गये हैं जो ऋण दिलवाने का काम करते हैं, ऋणों की गारन्टी करते हैं या ऋण सम्बन्धी कागजी कार्यवाही पूरी कर देते हैं तथा एक निश्चित दर पर कमीशन या फीस ले लेते हैं। इस प्रकार राष्ट्रीयकृत बैंकों का लाभ जनता को प्राप्त कराने वाला एक भ्रष्ट वर्ग उत्पन्न हो गया है जो नियमित धन्धे के रूप में ऋण दिलाने या ट्रैक्टर, पम्पिंग सैट आदि की उपलब्धि कराने में सहायक होता है।

इस भ्रष्टाचार को रोकने के लिए ऋण देने की क्रियाओं को सरल बनाना चाहिए, कागजी कार्यवाही तथा औपचारिकताओं को कम करना चाहिए और बैंकिंग सुविधाओं का अधिक से अधिक प्रचार करना चाहिए।

(४) **क्षेत्रीय संकीर्णता**—कुछ राज्यों में यह माँग आनी आरम्भ हो गयी है कि उनके क्षेत्र में स्थापित हुए बैंकों की रकमें उनके क्षेत्र के विकास में लगायी जानी चाहिए। तथा उन बैंकों के प्रबन्धक मण्डल में राज्य सरकार का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। इस प्रकार की प्रादेशिक संकीर्णता से देश का आर्थिक सन्तुलन और अधिक बिगड़ जायेगा और योजनाओं के लक्ष्य पूरे करने में कठिनाई होगी।

भारत सरकार को प्रादेशिक संकीर्णता के आधार पर कोई निर्णय नहीं लेना चाहिए क्योंकि ऐसा करना देश की भावनात्मक एकता के भी विपरीत होगा।

(५) **सेवा स्तर में गिरावट**—राष्ट्रीयकृत बैंकों के सेवा स्तर में गिरावट आने की शिकायतें भी निरन्तर बढ़ रही हैं। सरकार द्वारा सेवाओं का स्तर बनाये रखने तथा उसमें सुधार करने के लिए निरन्तर प्रयत्न किये जाने चाहिएं।

(६) **बढ़ता हुआ व्यय और कम लाभ**—बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पश्चात किसी न किसी बैंक में कर्मचारियों या अधिकारियों का आन्दोलन निरन्तर होता रहा है। यह आन्दोलन वेतन में वृद्धि या सेवा शर्तों में सुधार के लिए हो रहे हैं। गत वर्षों में मूल्यों में निरन्तर वृद्धि हुई है अतः वेतन वृद्धि की माँग को अनुचित नहीं कहा जा सकता। अतः बैंकों के व्यय में निरन्तर वृद्धि हो रही है। एक ओर तो बैंकों की अधिकांश नयी शाखाएँ लाभदायक नहीं हैं, दूसरी ओर कर्मचारियों के पारिश्रमिक में दो बार वृद्धि की जा चुकी है। इसीलिए १९७० में भारत सरकार को इन चौदह बैंकों से शुद्ध लाभ के रूप में लगभग ४ करोड़ रुपये की प्राप्ति हुई है। सरकार के द्वारा ८७.५ करोड़ रुपये की क्षति-पूर्ति दी गयी है। इस प्रकार बैंकों से सरकार को प्रतिशत लाभांश भी प्राप्त नहीं हुआ है।

भारत सरकार को खर्च कम करने की दिशा में निम्नलिखित काम करने चाहिएं :

(i) चौदह बैंकों को मिलाकर कुल तीन या चार बैंक स्थापित कर देने चाहिए। इससे प्रबन्ध व्यवस्था का व्यय कम हो सकेगा।

(ii) अधि-समय भत्ता (overtime allowance) समाप्त किया जाना चाहिए। इसके बदले में कर्मचारियों की कुछ वेतन वृद्धि की जा सकती है। अधि-

समय भत्ता वन्द करने के साथ ही प्रत्येक वैंक कर्मचारी को अपनी खिड़की पर किए गये व्यवसाय के लिए पूर्णत: उत्तरदायी ठहराया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में वैकों की शाखाओं का A, B या C में वर्गीकरण किया जा सकता है और अधिक वेतन पाने वाले वरिष्ठ व्यक्तियों को A या B शाखा में भेजा जा सकता है। शाखाओं का वर्गीकरण काम के भार के अनुसार किया जाना चाहिए।

(iii) वड़े-वड़े नगरों में जहाँ एक ही सड़क या मोहल्ले में कई कई वैंकों की शाखाएँ हैं उनमें से कुछ को वन्द कर देना चाहिए। इस प्रकार शाखाओं की अनुचित संख्या को कुछ कम किया जा सकता है।

(iv) वैंकों की नियुक्ति प्रणाली में भी सुधार करने की आवश्यकता है ताकि श्रेष्ठतम व्यक्तियों को ही वैंकिग सेवाओं मे नियुक्त किया जा सके।

भविष्य—भारत में चौदह वैंकों का राष्ट्रीयकरण देश में समाजवाद लाने की दृष्टि से उठाया गया कदम है। नयी प्रवृत्तियों के अनुसार १९७१ के अन्त तक वैकों की शाखाओं की संख्या १३,००० तक पहुँच जाने की आशा है। खेती तथा लघु उद्योगों के वास्ते ऋण भी तेजी से दिये जा रहे हैं। इस गतिशीलता की प्राप्ति के लिए ही वैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया था। किन्तु तेजी से शाखाओं और सुविधाओं का विस्तार हो रहा है, लगभग उसी तेजी से कुशलता में गिरावट आ रही है। इस प्रवृत्ति को वहुत सख्ती से रोकने की आवश्यकता है अन्यथा राष्ट्रीयकरण का यथोचित लाभ नहीं मिल सकेगा और उत्पादन तथा विकास के विभिन्न क्षेत्र सन्तुलित रूप में उन्नति नहीं कर सकेंगे। अत: इस प्रवृत्ति को समय रहते ही नियन्त्रित करना वहुत आवश्यक है।

अभ्यास प्रश्न

१. वैंकिग व्यवसाय किस प्रकार अन्य व्यवसायों के भिन्न है? इन व्यवसाय को लोक क्षेत्र में रखना क्यों आवश्यक है?
२. वैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष और विपक्ष का विवेचन कीजिए। क्या राष्ट्रीयकरण किये बिना वैंकिग सेवाएँ देश हित के अनुकूल नहीं वनायी जा सकतीं?
३. भारत में वैंकों का राष्ट्रीयकरण करने में क्या उद्देश्य थे? इन उद्देश्यों में कहाँ तक सफलता मिली है।
४. सामाजिक नियन्त्रण और राष्ट्रीयकरण में क्या अन्तर है? क्या वैंकों पर सामाजिक नियन्त्रण देश की आर्थिक नीतियों की सफलता में सहायक नहीं हुआ?
५. स्टेट वैंक के उद्देश्य और उसकी सफलताओं पर प्रकाश डालिए।
६. भारत में लोक क्षेत्रीय वैंकिग की समस्याओं का विवेचन कीजिए तथा उनके समाधान के लिए सुझाव दीजिए।
७. भारत में "लोक क्षेत्रीय वैंक" पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए।

१४ लोक क्षेत्र का आर्थिक विकास में योग

(ROLE OF PUBLIC SECTOR IN ECONOMIC DEVELOPMENT)

भारत में लोक क्षेत्र द्वारा आर्थिक विकास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान किया गया है। इसका अनुमान निम्नलिखित तथ्यों से लग सकता है :

(१) साज सज्जा का विकास—आर्थिक विकास के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण सुविधा सड़कें, रेलें, नहरें, जल पूर्ति, बिजली आदि की होनी है जिनके बिना उद्योगों की उन्नति सम्भव नहीं है। व्यापार का विकास भी नहीं हो सकता।

योजना काल में लगभग ६००० किलोमीटर लम्बी नयी रेल लाइनें डाली गयी हैं तथा लगभग इतनी ही लम्बी लाइनों को दोहरा किया गया है। इन योजनाओं पर लगभग ४००० करोड रुपया व्यय किया गया है। चतुर्थ योजना में रेलों के विकास के लिए १५२५ करोड रुपये की व्यवस्था की गयी है।

सड़कों की लम्बाई—भी इसी अवधि में लगभग ४ लाख किलोमीटर से बढ़ कर १० लाख किलोमीटर हो गयी है। इसमें लगभग एक तिहाई पक्की सड़कें हैं।

१९५०-५१ में कुल २·२६ करोड़ हेक्टर भूमि में सिंचाई की सुविधा थी जो बढ़कर लगभग ४ करोड़ हेक्टर हो गयी है। इस सुविधा के कारण ही पंजाब, हरियाणा तथा अन्य भागों में ही हरित क्रान्ति सम्भव हो सकी है।

बिजली की पूर्ति में भी बहुत तेजी से वृद्धि हो सकी है। १९५१ में केवल ६०० करोड़ किलोवाट घण्टे बिजली उत्पन्न की जाती थी जिसकी मात्रा बढ़कर लगभग ५२०० करोड़ किलोवाट घण्टे हो गयी है। देश के लगभग ७५००० ग्राम बिजली के प्रकाश से जगमगा उठे है। बिजली की पूर्ति में वृद्धि होने से भी सिंचाई के साधनों तथा औद्योगिक विकास में बहुत सहायता मिली है।

(२) कृषि—लोक क्षेत्र द्वारा कृषि साधनों के विकास के लिए अत्यधिक प्रयत्न किये गये हैं। १९५१-५२ में देश में कुल २७००० टन रासायनिक खाद उत्पादन की जाती थी जिसकी मात्रा १९६९-७० में लगभग १० लाख टन हो गयी। इसी प्रकार ट्रैक्टरों का उपयोग ही योजना काल में आरम्भ किया गया। सिंचाई की सुविधाओं का विस्तार किया (जिसका ब्यौरा ऊपर आ गया है)। अनाज का उत्पादन ५ करोड़ टन से बढ़कर १० करोड़ टन हो गया है तथा पटसन, कपास एवं अन्य वस्तुओं के उत्पादन में भी आशातीत वृद्धि हुई है। इस सारी सफलता के पीछे लोक क्षेत्र का विशेष सहयोग रहा है।

वास्तव मे लोक क्षेत्र के प्रोत्साहन तथा सक्रिय सहयोग बिना कृषि के किसी भी क्षेत्र का विकास सम्भव नही था।

(३) **उद्योग**—लोक क्षेत्र का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान उद्योगों के क्षेत्र में है जिसमें इसकी ४३०० करोड रुपये से अधिक की पूँजी नियोजित हुई है। उद्योगो के क्षेत्र में अनेकानेक नये उद्योगों की स्थापना और विस्तार किया गया है। पिछले एक अध्याय में उनका विस्तृत ब्योरा दिया जा चुका है। यहाँ केवल इतना लिखना पर्याप्त है कि लोक क्षेत्र के द्वारा ही इस्पात, भारी इंजीनियरी, रसायन बिजली के सामान, रेल के डिब्बे तथा इंजन बनाने, खाद, जन्तुनाशक पदार्थ, खनिज तेल आदि अनेक उद्योगों की स्थापना की गयी है। इन उद्योगों से उत्पन्न माल की सहायता से निजी क्षेत्र मे अनेक प्रकार की छोटी-बडी इकाइयाँ स्थापित की गयी है जिनसे देश मे औद्योगिक विकास का वातावरण तैयार हो गया है।

(४) **बैंकिंग**—लोक क्षेत्र के २० व्यापारिक बैंकों ने कृषि, लघु उद्योग, निर्यात तथा व्यापार के विकास के लिए उदारतापूर्वक ऋण देने आरम्भ कर दिये हैं। १९७० के अन्त मे इन बैंकों द्वारा खेती के विकास के लिए लगभग ३५५ करोड रुपये तथा लघु उद्योगों के लिए लगभग ४६० करोड रुपये की रकमें उधार दी हुई थी। इस आर्थिक सहायता से खेती के विकास तथा लघु उद्योगो के विस्तार में बहुत महत्त्वपूर्ण सहायता मिली है।

(५) **वित्तीय संस्थाएँ**—लोक क्षेत्र द्वारा निम्नलिखित वित्तीय संस्थाएँ स्थापित की गयी है :

(i) कृषि पुनर्वित्त निगम

(ii) भारतीय औद्योगिक विकास निगम

(iii) भारतीय औद्योगिक विकास बैंक

(iv) राज्य वित्त निगम (सब राज्यों में एक-एक)

इन संस्थाओं द्वारा कृषि तथा उद्योगों के लिए मध्यम तथा दीर्घकालीन सहायता देकर इन क्षेत्रों में नयी-नयी योजनाओं को कार्यान्वित करने में सहायता की है।

(६) **विकास का वातावरण**—लोक क्षेत्र के प्रयत्नों से देश में अनेक प्रयोगशालाएँ तथा तकनीकी संस्थानों की स्थापना हुई है। कृषि अनुसन्धान परिषद्, औद्योगिक विकास निगम, कोयला विकास निगम, लगभग ५० नये विश्वविद्यालय, ६ कृषि विश्वविद्यालय, अनेक कॉलिज तथा शिक्षण संस्थाएँ लोक क्षेत्र के प्रोत्साहन से ही स्थापित हो सकी है। चिकित्सा तथा स्वास्थ्य का स्तर बहुत ऊँचा उठा है। इन सब सुविधाओं की वृद्धि से देश में विकास के प्रति जागरूकता बढी है। यह स्वयं मे ही एक उपलब्धि कही जा सकती है।

अभ्यास प्रश्न

१. लोक क्षेत्र का भारत के आर्थिक विकास में क्या योगदान रहा है ? स्पष्ट विवेचन कीजिए।